ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(Peer Reviewed Research Journal)

(UGC CARE Listed)

अङ्कः (Vol.): XV, वर्षम् 2025

सम्पादकः | Editor
डॉ. अभिमन्युसिंहः | Dr. Abhimanyu Singh
अध्यक्षः | Head
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः | Deptt. of Sanskrit & Prakrit Languages
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ | University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow, Lucknow-226007

ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(Peer Reviewed Research Journal)
UGC CARE Listed

अङ्कः (Vol.): XV, वर्षम् २०२५

सम्पादकः	Editor
डॉ. अभिमन्युसिंहः	Dr. Abhimanyu Singh
अध्यक्षः	Head
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः	Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ	University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow-226007
E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in

संरक्षकः

प्रो. आलोककुमाररायः

कुलपतिः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

परामर्शदातृसमितिः

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
प्रो. अभिराजराजेन्द्रमिश्रः
प्रो. ओमप्रकाशपाण्डेयः
प्रो. हरेकृष्णशतपथी
प्रो. दीप्तिशर्मात्रिपाठी
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
प्रो. गोपबन्धुमिश्रः
प्रो. जी.एस.आर.कृष्णमूर्तिः
प्रो. श्रीनिवासवरखेडी
प्रो. रामसेवकदुबे
प्रो. सोमदेवशतांशुः
प्रो. भागीरथिनन्दः

समीक्षकसमितिः

प्रो. भारतभूषणत्रिपाठी
प्रो. अरुणाशुक्ला
प्रो. रामसुमेरयादवः

प्रकाशकः

डॉ. अभिमन्युसिंहः

अध्यक्षः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

प्रकाशन-तिथिः 16 मई 2025

मूल्यम् : रु.151/–
वार्षिकशुल्कम् : रु.151/–
आजीवनशुल्कम् : 2500/–

मुद्रक :–

धन लक्ष्मी इण्टरप्राइसेस,
विकास नगर, लखनऊ

E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in

सम्पादकीय

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। यह भाषा भारत का गौरव है। संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद संस्कृत भाषा में ही उपनिबद्ध है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध है। अन्य समकालीन भाषाओं की अपेक्षा परिशुद्ध, परिष्कृत तथा संस्कार सम्पन्न होने के कारण यह भाषा संस्कृत नाम से अभिहित हुई। देववाणी, देवभाषा, गीर्वाणी, सुरभारती, ब्राह्मी आदि नाम इसके दैवीय सम्बन्ध को द्योतित करते हैं। इस भाषा को जनमानसपावनी, भव्यभावोद्भाविनी, सन्मार्गप्रवर्तिनी, शब्दसन्दोहप्रसविनी, सुकृतसन्दीपनी एवं हृदयहारिणी आदि विशेषणों से अभिहित करना, इसके वास्तविक निहितार्थ को ही प्रकट करना है। जैसा कि संस्कृत कवियों ने कहा भी है- भाषासु मधुरा मुख्या दिव्या गीर्वाणभारती।। इस भाषा के पदों में सरसता, रमणीयता और लालित्य के साथ-साथ भावप्रकटन एवं भावबोधन का भी सामर्थ्य सम्पूर्णता से विद्यमान है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त विशाल है। संस्कृत-वाङ्मय में जिस प्रकार के मानवतावादी उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना मिलती है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मूलभूत चारित्रिक गुणों का विकास करने में संस्कृत साहित्य का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। संस्कृत साहित्य की रचना करने वाले आदिकवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, नाटककार भास, कविकुलगुरु कालिदास, भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष आदि महाकवि अपने-अपने ग्रन्थों के द्वारा सहृदयों के हृदय में आज भी विराजमान हैं।

वेद में मनुर्भव अर्थात् मानव को वास्तविक मानव बनने का सन्देश प्राप्त होता है उसकी परिपूर्त्ति संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से स्वतः सम्भव है। संस्कृत में निबद्ध साहित्य के परिशीलन से व्यक्ति में दान, दया, शौच, उदारता, अनसूया, क्षमा और सत्यनिष्ठा जैसे उदात्त गुणों का विकास अनायास ही हो जाता है। निश्चय ही यदि भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक एकता एवं अखण्डता की रक्षा करनी है तो भारतीय जनमानस को पुनः एक बार संस्कृत की ओर लौटना होगा। संस्कृत में प्राप्त ज्ञाननिधि के अवलोकन, अनुशीलन एवं अनुसंधान से वह पुनः अपने अन्दर उच्च गुणों की स्थापना कर सकता है। इसी मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के चतुर्दश अङ्क का प्रकाशन किया जा रहा है

संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के प्रस्तुत अङ्क के विधिवत् प्रकाशनार्थ लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के माननीय कुलपति प्रो० आलोक कुमार राय महोदय ने अपने शुभ सन्देश द्वारा आशीर्वचनों से अनुगृहीत किया। हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते हैं। संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका के इस अङ्क में संस्कृत हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में मूल्याङ्कन समिति द्वारा मूल्याङ्कित कुल 39शोध पत्र

प्रकाशित हैं। इनमें से संस्कृत भाषा के 5, हिन्दी भाषा के 27 तथा अंग्रेजी भाषा के 7 शोध पत्र इस अङ्क में स्थान प्राप्त कर सके हैं। इन सभी शोधपत्रों में विषय के अनुरूप तथ्यों का विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से विद्वानों द्वारा उपस्थापन करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। हम सरस्वती समुपासक सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनकी असीम प्रतिभा से प्रसूत शोधपत्र रूपी पुष्पों से अलङ्कृत यह संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका पल्लवित एवं पुष्पित है। हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह संस्कृत-वाङ्मयी पत्रिका संस्कृत ज्ञान परम्परा की समुन्नति में निश्चित रूप से सहयोग प्रदान करेगी। इन्हीं सदुद्गारों के साथ हम अपने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के गुरुओं की गौरवमयी परम्परा को नमन करते हैं जिनके आशीर्वाद से यह पत्रिका नवीन प्रतिमानों को स्थापित कर रही है। हम इस सद्भाव सहित अब और अधिक न लिखते हुए प्रस्तुत अङ्क को सुधिजनों को समर्पित करते हैं।

अलमति विस्तरेण विपश्चिद्वर्येषु।

सीतानवमी **डॉ० अभिमन्यु सिंह**

वि०सं० 2082

प्रो. आलोक कुमार राय
कुलपति
Prof. Alok Kumar Rai
Vice-Chancellor

लखनऊ विश्वविद्यालय
(नैक द्वारा **A++** ग्रेड प्रत्यायित)
लखनऊ–226007 (उ.प्र.) भारत
University of Lucknow
(Accredited **A++** by NAAC)
Lucknow-226007 (U.P.) India

सन्देश

ज्ञान पवित्रता का आधार है। ज्ञान के अभाव में जगत् के व्यवहार तक सम्पन्न करना दुष्कर होता है। भारतीय संस्कृति जिस पुरुषार्थ चतुष्टय- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर आधारित है उनकी सिद्धि का भी श्रेष्ठ साधन ज्ञान ही है। अतएव वेद में ऋषियों ने कहा है पावकानः सरस्वती अर्थात् हमारा ज्ञान, हमारी सरस्वती हमें पवित्रता प्रदान करे।

भारत का प्राचीन श्रेष्ठ वाङ्मय संस्कृत भाषा में सन्निहित है। संस्कृत भाषा आध्यात्मिक ज्ञान का आधार होने के साथ-साथ चिकित्सा, रसायन, भौतिकी, भूगोल, ज्योतिष, अभियांत्रिकी, गणित और स्थापत्य आदि विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का भी आश्रय रही है। संस्कृत की परिधि सांसारिक से लेकर आध्यात्मिक ज्ञान तक विस्तृत है। आज संस्कृत के प्रति समाज आशापूर्ण प्रोत्साहित दृष्टि से उन्मुख है। वस्तुतः संस्कृत केवल भाषा ही नहीं है अपितु यह एक पूर्ण परिवेश है। संस्कृत के परिवेश में प्रविष्ट भारतीय जनमानस न केवल स्वयं के अपितु परिवार, समाज, राष्ट्र तथा संपूर्ण विश्व के प्रति दायित्वबोध से युक्त हो जाता है। यही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उद्घोष का निहितार्थ है।

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय 'संस्कृतवाङ्मयी' नामक यूजीसी केयर लिस्टेड पत्रिका का विगत चौदह वर्षों से अनवरत सफलतापूर्वक सम्पादन कर रहा है, एतदर्थ पत्रिका के सम्पादक तथा समस्त विभाग को शुभकामनाएं । इसी क्रम में संस्कृतवाङ्मयी का अभिनव पन्द्रहवां अंक प्रकाशित हो रहा है। मैं इस पत्रिका में प्रकाशित शोध पत्रों के मनीषी लेखकों, गवेषकों एवं शोधार्थियों को बधाई देता हूँ तथा शोध पत्रिका के अनवरत भावी सम्पादन के लिये शुभकामनाएं प्रदान करता हूँ। मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका संस्कृत के शोधार्थियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी।

दिनांक 03.05.2025

(प्रो0 आलोक कुमार राय)

Telephone : 0522-2740467 (O) 0522-2740462 (R) Fax : 0522-2740467 (O), 9415684935 (M), Email: vc@lkouniv.ac.in

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक/लेखिका	पृ.सं.
1.	जीवधर्मः	प्रो. शत्रुघ्नपाणिग्राही	9
2.	मध्यमोत्तमौ क्व स्तः, न च	डॉ. अवधेश कुमार	18
3.	प्रकाश एव भावानां स्वभावः	डॉ. भुवनेश्वरी भारद्वाज	22
4.	श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रतिपादितायाः भगवत्शरणागत्याः विशिष्टाद्वैतपरकं समीक्षणम्	डॉ. ऋचा पाण्डेयः	26
5.	पाणिनीयव्याकरणपरम्परायां सम्बन्धस्य कारकत्वाकारकत्वविमर्श:	डा.नीतीशकुमारः	31
6.	वेदों में गो-महिमा	प्रो. प्रयागनारायण मिश्र	39
7.	भारतीय ज्ञान परम्परा के संवर्धन में वेदों की उपादेयता	डॉ. अभिमन्यु सिंह	44
8.	भर्तृहरि प्रतिपादित ‘एक-अनवयवशब्द-वाक्य’ का विश्लेषण	डॉ. सत्यकेतु	52
9.	नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पूर्वरङ्ग,नान्दी एवं प्रस्तावना- एक पर्यालोचन	डॉ. अशोक कुमार शतपथी	58
10.	वेदवाक्यों का संगतिकरण; वाल्मीकि रामायण के संदर्भ में	डॉ. सुखराम	66
11.	श्रद्धया विन्दते वसु	डॉ. कामना विमल (शर्मा)	73
12.	वैदिक वाङ्मय में परिवार की अवधारणा	डॉ. रेनू कोछड़ शर्मा	79
13.	ध्वनिसिद्धान्त के विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान	डॉ. सन्त प्रकाश तिवारी	87
14.	वैदिक चिन्तन परम्परा में ध्वनिविज्ञान	डॉ. विकास शर्मा	92
15.	पाणिनीय परम्परा की दृष्टि में ‘भ्यसो भ्यम्’ : एक मीमांसा	डॉ. रवि प्रभात एवं रमिंदर कौर	106
16.	वैदिक युग के भारतीय आभूषण	डॉ. ऋतु सिंह	111
17.	धम्मपद का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण	डॉ. बृजेश कुमार सोनकर	120
18.	वीरशैव सिद्धान्त एवं शैव सिद्धान्त में शिव-शक्ति विमर्श	डॉ. गौरव सिंह	127
19.	श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म मीमांसा	डॉ.शोभा राम दुबे	132
20.	मृच्छकटिकम् की भाषा 'प्राकृत' के अन्तर्गत बोली जाने वाली भाषाओं के अनुकूल पात्रों की सूझ-बूझ	डॉ. शैलेन्द्र कुमार साहू	141
21.	अभिज्ञानशाकुन्तल में सांस्कृतिक मूल्य	डॉ. सूर्यप्रकाश शुक्ल	147
22.	“वैदिक ज्ञान परम्परायें: आन्तरिक एवं बाह्य उन्नति की आधारभूमि”	डॉ. सुगन्धा जैन	154
23.	शैवदर्शन में तत्त्वत्रयी का स्वरूप एवं अन्त:सम्बन्ध	सन्ध्या	161

24.	षोडश संस्कारों की प्रासङ्गिकता	आकांक्षा निगम	171
25.	आदर्श व्यक्तित्त्व निर्माण के सन्दर्भ में कुसुमदेवकृत दृष्टान्तशतकम् काव्य की अवधारणा	चन्दन यादव	180
26.	विपश्यना ध्यान और मानव का मानसिक तनाव	देवेन्द्र पाल सिंह	186
27.	वैदिक साहित्य के अंतर्गत वर्णित संगीत चिकित्सा की समकालीन उपयोगिता	गज़ाला	192
28.	अन्नप्राशन संस्कार का मन तथा शरीर पर प्रभाव : एक विश्लेषण	प्रियांशु	199
29.	गोत्र उद्भव : मान्यता और प्रतीक	सौरभ तिवारी	206
30.	भविष्यदत्त महाकाव्य में प्रतिपादित आचार मीमांसा : एक विमर्श	प्रो. टेकचन्द मीना एवं चिरञ्जीत सरकार	213
31.	कविरत्न मेधाव्रताचार्य की रचनाओं में प्रतिबिंबित त्रैतवाद	गुलसा	221
32.	नटाङ्कुश के आधार पर नाटकों में स्थानीय भाषा प्रयोग की औचित्यानौचित्यता	कपिलेश्वर साहु	227
33.	Concept of Painting in Sanskrit Works	Dr. Bhagyashree Sarma & Dr. Sudeshna Bhattacharjya	237
34.	Vedanta and Social Work	Prof. Rakesh Dwivedi, Dr. Ranvijay Singh, Hareem Fatima Nomani & Anjali Mishra	249
35.	Hierarchies in Philosophical Methodology: Evaluating Creativity and Comparative Approaches	Dr Prashant Shukla	258
36.	Vāstu-Vidyā in Ancient Sanskrit Literature: A Study	Dr. Sudipta Bhakat	276
37.	A Linguistic and Philosophical Analysis of Justice Deliverance: Language and its Interplay with Law	Gaurav Misra	283
38.	A Psychoanalytic Study of Spiritual Love: A Critical Exposition of 'Song of Radha, the Milkmaid' by Sarojini Naidu	Dr. Richa Shukla	292
39.	Human Psychology in Buddhist Culture	Dr. Seema Rani Rath	308

जीवधर्मः

• प्रो. शत्रुघ्नपाणिग्राही

शोधसारः – जीवपुरुषः मोक्षप्राप्त्यर्थं सर्वदा प्रयत्नं करोति। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रुतिवचनानुसारं विद्याद्वारैव मुक्तिः। जीवपुरुषस्य परमं धर्मः भवति ब्रह्मविद्यासस्कारप्राप्तिः। जीवपुरुषस्य नियमिताभ्यासेनैव ब्रह्मविद्याप्रसादः सम्भवति। तदर्थं विद्वद्ब्राह्मणानुगमनं, वेदादिशास्त्राणामध्ययनं, यज्ञादिवैदिककर्मसम्पादनं, निरवच्छिन्नभावेन परब्रह्मोपासनं, भक्तिलाभाय भगवतः नामसंकीर्त्तनं, सद्गुरोः सानिध्यग्रहणं, सूर्य-इन्द्राग्निरुद्रादयः देवानामर्चनं, साधुकर्माचरणं, क्रियाक्रियाज्ञाननिर्देशनाय विवेकाश्रयज्ञानं, कर्मणा साकं ज्ञानमिश्रणं, ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म संपादनं, सर्वत्र मनसः सम्पृक्तिकारणात् मनसः स्थिरिकरणाय उपायानामवम्बनं तथा सर्वत्र परब्रह्मसत्ता दर्शनमेव जीवस्य परमो धर्मः इति शोधलेखस्य सारांशः।

बीजशब्दाः – जीवः, मोक्षप्राप्तिः, शरीरधारी, सर्ववेदान्तवेद्यः, जीवपुरुषः, भक्तिः

प्राणिमात्रं जीवः भवति। जीवपुरुषस्य परमं लक्षं भवति मोक्षप्राप्तिः। तदर्थं जीवपुरुषः सर्वदा प्रयत्नं करोति। न्यायसूत्रकारेण महर्षिणा गौतमेन प्रथमसूत्रे प्रमाणादारभ्य निग्रहस्थानान्ताः षोडशपदार्थाः उदिष्टाः।[1] तत्र द्वितीयपदार्थत्वेन प्रमेयस्य सम्मुल्लेखः वर्तते। प्रमेयं द्वादशविधम् – 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन'[2]। द्वादशप्रमेयेषु आत्मनः मनो यावत् षड्विधं प्रमेयं कारणरूपमवशिष्टञ्च कार्यरूपम्। अत्र आत्मपदेन जीवात्मा ग्राह्य इति भाष्यकारस्य आशयः। न्यायनये जीवात्मा-परमात्माभेदेन आत्मनः द्वैविध्यम्। उभयोः साधारणलक्षणं च ज्ञानाधिकरणत्वम्। तत्र परमात्मनः ज्ञानं नित्यम्। अतः नित्यज्ञानाधिकरणत्वं परमात्मत्वम् इति युक्तम्। जीवात्मनः ज्ञानं तु अनित्यम्। अतः अनित्यज्ञानाधिकरणत्वं जीवात्मा इति। उभयोः लक्षणं यद्यपि सामान्यतः एकं तथापि परमस्य लक्षणं प्राधान्येन भिन्नं भवति। जीवस्य तु वैषम्यपूर्णम्। तत्र तस्य वैषम्ये कारणं भवति तस्य प्रादुर्भावः। यद्यपि न जायते म्रियते वा कश्चित्[3] इति उभयोः समानं स्वरूपलक्षणं तथापि तटस्थलक्षणेन उभयोः भिन्नता। अवाङ्मनसगोचरत्वात् परमं केवलं लक्षमात्रम्।

* प्रोफेसर, वेदविभागः, श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, पुरी

जीवस्तु सन्धानकारणम्। सन्धानकारणत्वात् प्रमेयस्य जीवस्य प्रासङ्गिकता वरीवर्त्तते। दृश्यमानेऽस्मिन् जगति जीवरूपं दृश्यते। तस्य दृश्यमानत्वं पुनर्भवत्वं सूचयति। यदुक्तं श्रीमद्भागवते- ''स जीवो यत् पुनर्भवः''[4] इति। सरस्वतीरहस्योपनिषदि जगद्ब्रह्मणोः यत् स्वरूपं प्रकाश्यते तत्परब्रह्मस्वरूपे जीवस्वरूपमन्तर्भूतम्। सरस्वतीरहस्योपनिषद्वचनं यथा-

''अस्ति भाति प्रियं रूप नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥''[5]इति।

जीवः केनभावेन जागतिकव्यापारन्तर्भूतः भवति, कथं तस्य देहान्तरप्राप्तित्वं, कथं तस्य लिङ्गशरीररूपेणावस्थानम्, एतत् सर्वं प्रमेयस्य जीवस्य सारवत्तां प्रकाशयति। संसारदृष्ट्या जीवानां वैभिन्यं किन्तु वास्तवतः सर्वे खलु जीवाः भगवत् चिदंशभूताः। अल्पज्ञाः भवन्तु अपि ते जीवाः सर्वज्ञेन परमात्मना सह साम्यं अधिकर्तुं समर्थो भवन्ति। ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''[6] इति श्रीमद्भगवद्गीतावाक्यं जीवस्य चिदंशत्वं परब्रह्मणः अंशित्वं प्रतिपादयति।

प्रकृतपक्षे जीवानाम् अनेकत्वम् असंख्यत्वञ्च जीवभेदज्ञापने परमं कारणं भवति। अन्तिमे अयमेव सारः कथयितुं शक्यते यत् संसारे कार्यदृष्ट्या अर्थात् ब्रह्मज्ञानाहरणार्थं प्रवृत्ताः सर्वे जीवाः भवन्ति। तेषु केषाञ्चन तद्ज्ञानं सीमितम्, केषाञ्चन न पर्य्याप्तम्। ये खलु पर्य्याप्तज्ञानिनः ते स्वरूपे परब्रह्मणि मिलनार्थं नित्यं भाविश्रेयस्काः भवन्ति। तेषां च बन्धनकारणं या खलु माया इति कथ्यते।

जन्मनः आरभ्य मरणं यावत् जीवपुरुषः यत् यत् कार्यमाचरति तत् तत् जीवधर्म इति पदेन व्यपदिश्यते। जीवस्य कर्त्तव्यं भवति एवंभूतं यत् तस्य संरक्षणार्थमेकमपरं च मुक्तिप्राप्त्यर्थम्। उभयमेतत् कर्म आर्यशास्त्रवेदसम्मतम्। वैदिकं कर्म द्विविधम्- प्रवृत्त्यात्मकम्, निवृत्त्यात्मकञ्च। यत् कर्म सुखादभ्युदयप्राप्तिकारणं भवति तदेव प्रवृत्त्यात्मकं कर्म धर्मसङ्गितम्। तथैव च यत् कर्म निश्रेयससाधनकारणम् अर्थात् निष्कामं तदेव निवृत्त्यात्मकं सन्यासमिति अपरपर्य्यायविशिष्टम्। उभयमेतत् कर्म जीवधर्मरूपेण प्रसिद्धिं प्राप्नोति।

जीवः यत् किञ्चित् साधुरूपेण करोति तदेव कर्म तस्य प्रतिभाद्योतकम्। यथा राष्ट्रमुख्यः इतराः प्रजाः संरक्षति तदा जीवोऽयं स्वकृतकर्त्तव्यपर्य्यालोचने कालविशेषवशात् संपृक्तो भवति। ज्ञानस्वरूपः भूत्वापि जीवः सर्वेषां ज्ञानानां विकासार्थम् ईश्वरप्रणिधानं कुर्य्यात्। अतएव ईश्वरप्रणिधानं मुख्यकर्मइति विविच्य जीवः कथंचित् प्रकारेण तेन सह स्थातुं चेष्टते। तस्य चेष्टा च पूर्वोक्तकर्मफलाधारेण इतश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकप्राथमिककर्मद्वारा संसाधयितुं शक्यते। प्रवृत्त्यात्मकदृष्ट्या जीवः यत् किमपि करोति तदेव सकलं कर्म धर्मलाभार्थमुदिष्टमेव। निवृत्त्यात्मके कर्मणि जीवस्य मुमुक्षुत्वप्राप्तिकारणं ईश्वरेच्छा भवति। ईश्वरेच्छालाभनिमित्तं निरवच्छिन्नभावेन चेष्टा करणीया। निरवच्छिन्नभावेन चेष्टा च साध्यसाधनभक्तिरूपा भवितव्या। यत् किञ्चित् भवतु नाम तस्य परब्रह्मणः कृपालाभनिमित्तं साधनमेव

जीवस्य परमो धर्मः। यद्यपि जीवः अधिकारवशतः कदाचित् किञ्चित् अधिकर्तुम् इच्छति एवं च तत् इप्सितं कर्म ईश्वरार्पणबुद्ध्या आरभ्यते चेत् एतदेव प्रकृष्टं जैवधर्मरूपं भवति। अत एव श्रूयते-

''असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥''[7]

इति शुक्लयजुर्वेदश्रुतिवचनेन अनात्मज्ञस्य सर्वप्रकारहानिश्रवणात् निरवच्छिन्नभावेन परब्रह्मोपासनं जीवस्यैव कर्त्तव्यम्। एतदेव जीवधर्म इति प्रसिद्धम्।

चिदंशकः जीवः अपि चित्सत्तासंरक्षणे कदाचित् असमर्थः भवति। तच्च असौविध्यं तस्य अनिसत्वकारणात् एव। एतत् मनसि निधाय जीवसत्तापरिज्ञानार्थं तेन सततं यत्नः करणीयः। किन्तु ''पराञ्चि खानि''[8] इति कठश्रुतिदिशा तस्य एव जीवस्य बन्धनसत्त्वात् स एव जीवः स्वात्मानं न जानाति। स्वात्मसम्बन्धे अज्ञानमेव जीवस्य पतनीयं कर्म। ततः समुद्धारार्थममृतत्वप्राप्तिनिमित्तं च जीवेन सर्वेषु भूतेषु परब्रह्मसत्ता द्रष्टव्या। सर्वत्र परब्रह्मसत्ता दर्शनमेव जीवस्य परमो धर्मः। एतदर्थम् ईशश्रुतिः प्रतिपादयति, यथा-

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते ॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥''[9] इति ।

शरीरधारी अयं जीवः प्रायशः मुह्यमानः दृश्यते। तस्य मोहकारणं काम एव। सङ्गवसतः यः कामः जायते तस्मात् कामात् निवृत्तिप्राप्त्यर्थं जीवचेष्टा समधिकाभूत्वाऽपि जीवकृते तत् फलं न्यूनं भवति। विनाशकारणं कामं जीवः सर्वदा हेयत्वेन परित्यजेत् चेत् तदा न केवलं तस्य जीवविशेषस्य अपि च अनेकेषां जीवानां महान् लाभो भवेत्। अतएव कामक्रोधादिशत्रवः जीवेन परित्याजाः इत्येवं भवति जीवधर्मः। यदुक्तं गीतायाम्-

''अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥''[10] इति ।

''हृदि ह्येष आत्मा''[11] इति जीवात्मस्थितिर्निरूपिता। तस्य प्रवृत्तिः प्रारब्धानुसारिणी भवति। किं तावत् कार्यं किं च अकार्यम् एतत्सर्वं निरूपयितुं सः चेष्टते। कदाचित् शास्त्राणि विद्वांसो वा तत् सहायकरूपेण न भवन्ति। तद्दशायां हृदि विवेचना तत् कृते क्रियाक्रियाज्ञानं निर्दिश्यते। तच्च क्रियाक्रियाज्ञाननिर्देशनं शास्त्रप्रमाणवत् ऋषिभिः मुनिभिश्च स्वीक्रियते। अतएव विवेकाश्रय एव जीवधर्मो भवति।

उपदेशप्रदानार्थं विद्वान् ब्राह्मणः अपेक्षते। कदाचित् सः सामान्यज्ञानी तथा तथाकथितो वा भवेत्। तद्दशायां संकोचं विना तत् परामर्शग्रहणं क्रियते चेत् अनेकसमस्यानां समाधानं भवति। धर्मशासने केवलं विदुषः ब्राह्मणस्य एवाधिकार इति कारणात् जीवः तमेव ब्राह्मणमनुवर्त्तते। अनेन

प्रकारेण सर्वं ज्ञात्वा जीवः तच्छाशनवशात् समीचीनक्रियाकलापादिषु प्रवृत्तो भवेत् चेत् तस्य कृते महान् आनन्दः उपलब्धः भवेत्। अतएव तद्भूत विद्वद्ब्राह्मणानुगमनं जीवस्यैव परमो धर्मः।

जीवः जानाति यत् तस्य हृदये ईश्वरः विराजते। तस्य ईश्वरस्य विराटरूपेण प्रकाशः मूलमेव आसीत्। शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् एतत् विस्तरशः श्रूयते। यथा-

''ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥''[12] इति।

अर्थात् सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वमायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविष्ट इव ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। जीवः यद्यपि स्वेच्छाबलेन कर्माणि कुरुते तथापि तेन अवश्यं ज्ञातव्यं यत् तस्य नियन्तुः इच्छानुसारेण तेन सर्वं साध्यते। नियन्तुः परब्रह्मणः अधीनतां स्वीकुर्वन् जीवः परब्रह्ममयो भवति। संसारभोगवासनापरित्यागेन जीवः तत् परमेश्वरदर्शनं कथंचित् लभते। यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकं कर्म सर्वदा अनुतिष्ठेत्। निवृत्त्यात्मककर्म सम्पादनं तु जीवकृते परमो धर्मः। यद्यपि ''यतोऽभ्युदयः निःश्रेयससिद्धिः''[13] एव धर्म इति भगवता कणादेन वैशेषिकदर्शने सूत्रितं तथापि निःश्रेयस धर्मसाधनार्थं सः मुहुर्मुहु चेष्टां कुर्य्यात्। ''पुण्यजितो लोकः कर्मजितो वा क्षीयते। क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति''[14] इति गीतावचनानुसारेण प्रवृत्त्यात्मकानि एतानि कर्माणि साग्रहं सर्वदा न सम्पादनीयानि किन्तु निवृत्त्यात्मकानि एव। प्रवृत्त्यात्मको निवृत्त्यात्मकयोः कर्मप्रारूपप्रकाशनावसरे एतत् तत्त्वतः ज्ञातुं शक्यते यत् उपास्य रूपस्य परब्रह्मणः नितरामाराधनं जीवस्य परमो धर्मः। अतएव जीवकृते धर्मजिज्ञासातिरिक्तेन ब्रह्मजीज्ञासा उपदिष्टा भवति।

मूलतः परब्रह्मणः दर्शनमेव जीवस्य परमो धर्मरूपेण स्वीक्रियते। कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि श्रूयते यत् ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''[15] इति। अनया श्रुत्या ब्रह्मणः सत्यत्वं ज्ञानत्वं अनन्तत्वञ्च जीवेन एव ज्ञातव्यमिति जीवस्य परमो धर्मः। किन्तु एतद् ज्ञानाय वारम्बारं तप एव आचरणीयम्। तपसा हतकिल्विषः स जीवः परब्रह्मपरायणः सन् तादात्म्यभावसम्पन्नः भवेत्। अयमेव जीवस्य परमो धर्मः । वरुणः भृगवे उपदिशन् कथयति- ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥"[16] इति, अथच ''आनन्दाध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातनि जीवन्ति''[17] इत्यनया श्रुत्या निरन्तरमानन्दानुभव एव जीवधर्मो भवति।

जीवः निरानन्दो भवेत् चेत् तस्य सकला क्रिया निष्फला भवति। जीवः कथम् आनन्दान्वितः भवेत् तदर्थम् ऋषिदृष्टं वचनं श्रूयते। यथा- ''रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति॥''[18] इति। अत एव जीवकृते रसास्वादनं एव परमो धर्मः।

जीवस्य परमधर्मरूपेण ईश्वरप्राप्तिः अपेक्षते। ईश्वरप्राप्तिनिमित्तं साधनानि पञ्च भवन्ति। तानि यथा- कर्म-ज्ञान-भक्ति-प्रपत्ति-गुर्वाज्ञानुवृत्तिश्चेति। कर्मवृत्तिः सदाचारमाध्यमेन प्रकाश्यते। तत्र ''यज्ञेन

यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः''[19]इति शुक्लयजुर्देवश्रुत्या सत्वप्रधानः यज्ञ एव परमं कर्म। 'यज्ञो वै ब्रह्म', 'यज्ञो वै विष्णुः'[20] इति वचनानुसारं यज्ञः ब्रह्मस्वरूपः। यदुक्तम्-

''अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥''[21]इति ।

''एषो वै प्रत्यक्षं यज्ञः यत् प्रजापतिः','वैश्वदेवेन यज्ञेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत''[22] इति ब्राह्मणवचनेनापि स्पष्टं भवति। एतदभिलक्ष्य शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणे ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म''[23] इति उपदिष्टम्। एतत् कर्म यथा गृहस्थानां तथैव अन्येषामाश्रमिणां कृते एव परमधर्मरूपेण निरूपितम्। एतेन धर्मेण सृष्टिचक्रं निरवच्छिन्नभावेन सञ्जायते। यदुक्तम्-

''अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥''[24] इति ।

कर्मणा साकं ज्ञानमिश्रणं जीवधर्मो भवति। ''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''[25] इति भगवद्गीतोक्तवचनेन ज्ञायते जीवकृते ज्ञानार्जनम् अर्थात् परमेश्वरसम्बन्धियद् ज्ञानाहरणं एव परमो धर्म भवति । एतदुद्दिश्य शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ईशावास्योपनिषदि वा श्रूयते-

''विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥''[26]इति ।

अत्र विद्या ज्ञानसाधनत्वेन स्वीक्रियते। शाश्वतं ज्ञानं तु परब्रह्म एव। तेनैव साकं सम्पृक्तिः जीवस्य परमो धर्म।

''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः''[27] इति भगवद्गीतोक्तेः जीवस्य ज्ञानम् एव सततम् अज्ञानवृतं भवति। जीवः एतद् ज्ञात्वा ततः मुक्तिप्राप्त्यर्थं अहरहशास्त्राध्ययनं कुर्य्यात्। अहरहशास्त्राध्ययनेन जीवस्य ज्ञानं निर्मलं भवति। अतएव शतपथब्राह्मणे श्रूयते- ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः''[28] इति। उत्पत्तिः, आप्तिः, विकृतिः, संस्कृतिश्चेत्यादयः ये खलु चत्वारः संस्काराः भवन्ति ते सर्वे अध्ययनसम्बलिताः भवन्ति। अयमेव जीवधर्मः इति निश्चप्रचम्।

जीवधर्मरूपेण भक्तिरपि अङ्गीक्रियते। इयं च भक्तिः भगवति पुरुषोत्तमे एव कर्त्तव्या। जीवस्य अयमेव धर्मः। एषा भक्तिः पराभक्तिः अपराभक्तिश्चेति द्विविधा । पराभक्तिः प्रेमरूपा एव। अपराभक्तिः साधनरूपिका। साधनरूपिका भक्ति वैधिरागानुगा चेति द्विविधा। वैधिभक्ति नवधा भवति। तदुक्तं प्रह्लादस्तुतौ श्रीमद्भागवते यथा-

''श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥''[29]इति ।

भगवतः नामसंकीर्त्तनेन तत्पादपद्मे भक्तिभावलाभ एव जीवस्य परमधर्मः भवति। भक्तिः मरणकाले जीवं प्रचोदयति। शुक्लयजुर्वेदश्रुतिः एतस्मात् कथयति यथा-

''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
पूषन्नेक ऋषे यमसूर्यप्राजापत्यव्यूहरश्मीन्त्समुह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ॥
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥''[30] इति ।

जीवधर्मरूपेण प्रपत्तिः अपि अङ्गीक्रियते। प्रपत्तिः नाम शरणागतिः। जीवः आत्मानं परब्रह्मणः अधीनं मन्यमानः परब्रह्मणः अधीनतां सर्वदा स्वीकुर्यात्। प्रतिक्षणं सः ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म कुर्यात्। अयमेव जीवधर्मो भवति। श्रीमद्भगवद्गीतायाम् एतद् अभिलक्ष्य उच्यते, यत्-

''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥''[31]इति ।

प्रपत्तिभावः समनुष्ठितः भवेत् चेत् जीवः परमां गतिं लभते। शुक्लयजुर्वेदसंहिता जीवस्य प्रपत्तिभावद्योतनाय उपदिश्यति। यथा-

''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥''[32]इति ।

गुर्वाज्ञानो वृत्तियोगः जीवधर्मरूपेण परां प्रसिद्धिं लभते। जीवः अल्पज्ञः, अल्पशक्तिः मन्दमतिश्च। संसारतापक्लिष्टः सन् सः तस्मादुधारप्राप्त्यर्थं व्याकुलितः भवति। तस्य व्याकुलतायाः विनाशव्यवस्था अपि परब्रह्मणा कृतं वर्त्तते। यथा अक्षमसन्तानस्य पालनपोषणार्थं परब्रह्मणा पितृमात्रादि पुरुषः सृष्टः तथैव अज्ञानात् संसारतापक्लिष्टस्य जीवस्य व्याकुलतानिवारणेन सह समुद्धप्राप्त्यर्थं गुरुः परिकल्पितः। गुरुश्च श्रोत्रियः, ब्रह्मनिष्ठः, करुणामयः, भवितव्यः। यतो हि गुरुः एव शिष्यमन्तस्थं कृत्वा सर्वं ज्ञानं ग्राहयति। प्रसङ्गेऽस्मिन् श्रूयते-

''आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥"[33] इति ।

शिष्यः तथा विनीतः भवेत् येन गुरुः आनन्दितः स्यात्। गुरोः आनन्दभावात् शक्तिः सञ्जायते, सा च शक्तिः शिष्याय उद्दिष्टा भवति। किन्तु गुर्वाज्ञानवृत्तिः शिष्य साधिता समुचिता न भवेत् चेत् गुरुः शक्तिविक्षेपं कुर्वन्नपि असफलः भवति। अतएव अस्मिन् प्रसङ्गे सद्गुरु सद्शिष्यश्च उभौ अपेक्षेते। गुर्वाज्ञानवृत्तियोगेन शिष्यस्य सकला जिज्ञासा समाहिता भवति। अयमेव गुर्वाज्ञानवृत्तियोगः जीवस्य परमो धर्मो भवति।

जीवधर्मेषु वैदिककर्म अन्तर्भुक्तम्। वैदिककर्मसु प्रातः कालादारभ्य शयनं यावत् जन्मप्रभृति मरणं यावत् सकलं कर्म अन्तर्भुक्तं भवति । एतत् प्रवृत्तं कर्म परम्परया मोक्षसाधकं भवति । जीवः अत्र यथा सम्पृक्तः भवेत् एतदर्थं श्रुतिः अनुशास्ति । कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहितायां श्रूयते- ''जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणवाञ्जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः । एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वासी''[34] इत्यादि । जीवः अधिकारी जायमानः यथावश्यकं कर्म कुर्यात् । अत एव स्मृतिशास्त्रे विशेषतः मनुस्मृतौ स्मर्यते, यथा-

''अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रान्श्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥''[35] इति ।

अतः जीवः प्रवृत्त्यात्मककर्मसम्पादयन् ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्यासाश्रमादि उचितं धर्मं यथाकालं यथारीति च कुर्यात् । एतेषु कर्मसु प्रातःकाले प्रथमतः सन्ध्याकर्म विधीयते । तत्र सूर्यवन्दनमपेक्षते । सूर्य एव सर्वदा प्रार्थनीयः । तस्य दर्शनेन सुमङ्गलं लभ्यते । ऋग्वेदे यथा-

''इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥''[36] इति।

सूर्यः जीवानां कृते अमूल्यसम्पत्तिदायकः भवति। जीवः तस्य सामिध्यलाभार्थं स्तुतिं कुर्यात्। सूर्यवन्दनं, सन्ध्योपासनं, प्रातःसवनम् इत्यादिभिः परिचीयते। सूर्यवन्दनं सावित्रीमन्त्रद्वारा सम्पाद्यते। स एव मन्त्रविशेषः श्रूयते शुक्लयजुर्वेद-काण्वसंहितायाम्-

''ॐ भूर्भुवः स्वस्तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रदोदयात् ॥''[37] इति ।

अयं मन्त्रविशेषः बारम्बारमभ्यासं कुर्वन् जीवः पापमुक्तो भवति इति मनुयाज्ञवल्क्यादीनां धर्मशास्त्रकाराणामनुशासनम्। एतेन मन्त्रेण साकं सूर्यार्घ्यदानं सुमहत् फलदायकं भवति इति हेतोः सूर्यवन्दनं जीवस्य परमो धर्मो भवति। सकलशक्तेः आधारभूतः अयं सूर्यः ब्रह्म एव श्रुतिषु प्रसिद्धम्। श्रूयते एतद्यथा-

''चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥''[38] इति ।

जीवद्दशायां पुरुषविशेषस्य एतदेव कर्म धर्मरूपेण स्वीक्रियते। स एव जीवपुरुषः दीर्घजीवनाय भगवन्तं सूर्यं स्तौति। श्रूयते तद्यथा-

''तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥''[39] इति ।

न केवलं सूर्यः अपि च इन्द्राग्निरुद्रादयः देवाः अपि जीवने प्रार्थनीयाः भवन्ति। तद्वारा जीवपुरुषस्य आयुर्वृद्धिर्भवति।

जीवपुरुषः अस्मिन् संसारे यथा कर्म आचरति तथैव परवर्तिनि काले फलम् उपभुङ्क्ते। साधुकर्माचरणकारी साधु भवति। असाधुश्च तदनुसारेण असाधु भवति। शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यके अस्मिन् प्रसङ्गे श्रूयते, यथा- ''साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापी भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन''[40] इत्यादि। तत्र सर्वत्र मनसः सम्पृक्तिकारणात् मनसः संयमनियता अपेक्षते। मनसः संयमनियता साधने अपरेषां इन्द्रियाणां तदनुवर्तीत्वमपेक्ष्यते। कामः संकल्पो विचिकित्साप्रभृतीनि सर्वाणि मनसो लिङ्गानि भवन्ति। एतद् उद्दिश्य विष्णुपुराणे एवञ्च अन्यत्रशात्रेषु प्रोक्तम्-

''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गी मुक्तौ निर्विषयं मनः ॥''[41] इति ।

मनः संयमनार्थं श्रोत्रप्रभृतीनाम् इन्द्रियाणां साध्वनुवर्त्तित्वं प्रयुज्यते। अतएव श्रूयते-

''भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥''[42] इति ।

परिवेशप्रभावानुसारं मनः सन्मार्गे प्रवर्त्तते। मनसः इयं दशा नितरां साध्वी भवतु-इति प्रयासः एव जीवधर्मः। एतदर्थं श्रूयते,यथा-

''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवे रक्षितारो दिवेदिवे ॥'' [43]इति ।

अतः 'मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः'[44] इति वचनं मनसि निधाय तस्य स्थिरिकरणोपायाः अस्माभिः अवश्यमेव अवलम्बनीयाः । तस्मात् सततं विद्याभ्यासरताः भवेम वयमिति शम्।

सन्दर्भाः –

[1] न्यायसूत्रम्- १/१/१
[2] न्यायसूत्रम्- १/१/९
[3] छान्दोग्योपनिषद्- ६/११/३
[4]श्रीमद्भागवतम्- १/३/३२

[5]सरस्वती.उप.- मन्त्र- ३२
[6] श्रीमद्भगवद्गीता -१५/७
[7]शुक्लयजुर्वेदः- ४०/३
[8] कठोपनिषद् -४/२
[9]ईशावास्योपनिषद्- ४०/६-७
[10]श्रीमद्भगवद्गीता- १८/५६
[11] प्रश्नोपनिषद् – ३/६
[12]शुक्ल.यजु.- ३१/५
[13] वैशेषिकसूत्रम् – १/१/२
[14] श्रीमद्भगवद्गीता -९/२१
[15] कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद्-२/१
[16] तत्रैव - ३/१
[17] तत्रैव – ३/६
[18]कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयश्रूतौ- २/७
[19]शुक्लयजु.काण्व.- ३५/१३
[20] शतपथब्राह्मण्म् -१/१/२/१३
[21]मनुस्मृतिः- १/२३
[22] तैत्तिरीयब्राह्मणम्- १/६/२/१
[23] शतपथब्राह्मणम्- १/३/१/५
[24]मनुस्मृतिः- ३/७३
[25] श्रीमद्भगवद्गीता- ४/३८
[26]ईशावास्योपनिषद्- ४०/११
[27] श्रीमद्भगवद्गीता- ५/१५
[28] जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः -१/१
[29]श्रीमद्भागवतम्- ७/५/२३-२४
[30]शुक्लयजु.काण्व- ४०/१५-१८
[31]श्रीमद्भगवद्गीता- ४/२४
[32]ईशावास्योपनिषद्- ४०/१-२
[33]अथर्ववेदः- ११/५/३
[34] कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता -६/३/१०/५
[35]मनुस्मृतिः- ६/३६
[36]ऋग्वेदः- ७/३२/२६
[37]शुक्लयजु.काण्व- ३/४३
[38]शुक्लयजु.काण्व.- ८/२४
[39]ऋग्वेदः- ७/६६/१६
[40] बृहदारण्यकोपनिषद् -४/४/५
[41]मैत्रायण्युपनिषद् -६/३४, भवसन्तरणोपनिषद् -३/१४
[42]शुक्लयजु.काण्व.- २७/२५
[43] शुक्लयजु. माध्यन्दिनसंहिता- २५/१४
[44] तेजोबिन्दूपनिषद् -५/९८

मध्यमोत्तमौ क्व स्तः, न च

• डॉ. अवधेश कुमार

शोधसारः अत्रास्माभिः पुरुषविषये यावान् अपि पक्षः सम्भवति स सर्वोपि विचारितः। यथा - क्व मध्यमः क्व चोत्तमः क्व च खलु प्रथम इति। किमिदं नियमसूत्रमुत विधिसूत्रम् इति। क्व च युष्मदर्थः प्राधान्येन लभ्यते क्व चास्य गौणता खलु। सहविवक्षायाञ्च का स्थितिः? असहविवक्षायाञ्च का पुरुषव्यवस्था? युगपच्च सर्वस्मिन् कारके सति कथं खलु पुरुष व्यवस्था इति विचारितम्।

अतिक्रमितुः प्राधान्यं क्वचिद् भवति। क्वचिच्च युष्मदर्थ एव प्रधानो भवत्यतः। तथानुगुणा एव पुरुषव्यवस्था खलु तत्र साध्यते।

त्यदादीनां सर्वैः सह सहविवक्षायां तेषामेव शेषः खलु, परस्परं तु वचने गणपाठे यः परः स शेष इत्युच्यते।

बीजशब्दाः - पुरुषव्यवस्था, सहविवक्षा, असहविवक्षा, उपपदम्, अष्टाध्यायी।

उद्देश्यम् : व्याकरणे 'तिङस्त्रीणि-त्रीणिः'[1] सूत्रेण तिङां प्रथमादयः पुरुषरूपेण सञ्ज्ञायन्ते। तेन - तिप् तस् झि=प्रथमपुरुषः। सिप् थस् थ = मध्यमपुरुषः। मिप् वस् मस् = उत्तमपुरुषः। इत्थमेवात्मनेपदे द्रष्टव्यः। त आताम् झ = प्रथमः। थास् आथाम् ध्वम् = मध्यमः। इट् वहि महिङ् = उत्तम इति। एतेषां च स्थितिः धातोः परत्वेन भवति। यतः तिबादयः अष्टादशप्रत्ययाः तत एव विधीयन्ते। एतदर्थं पाणिनिना सूत्रत्रयं विरचितम् - **'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः।**[2] **अस्मद्युत्तमः।**[3] **शेषे प्रथमः इति। अत्र सूत्रे प्रथमे**'[4] स्थितित्रयं याच्यते।

युष्मदि उपपदे, समानाधिकरणे स्थानिन्यपि इति। क्रमशो विचार्यते - उपपदं खलु अत्र अन्वर्थम् = उपोच्चारि = समीपोच्चारि पदम् उपपदम् इति। ततः यत्र युष्मद् उपोच्चारि भवति तदा मध्यम एव भवति। सामीप्यञ्च अत्र उपपदग्रहणेन आपेक्षिकं ग्राह्यम्। इतरथा हि 'समीपे' इत्येव उच्येत। व्यवहितञ्चापि व्यवहिततरापेक्षया सन्निकृष्टं भवति। अतः व्यवहिते चाव्यवहिते च युष्मदि मध्यम एवेति। न च 'युष्मदि' इत्येव वाच्यम्। परसप्तमीत्वविज्ञानात् परभूत एव स्यात् अव्यवहिते च पूर्वत्र व्यवहिते च न्यायः = सूत्रम् इदं न मध्यमं प्रवर्त्तयेत्। ततः खलु वर्त्तते 'समानाधिकरणे' इति।

* सहायक आचार्य (संस्कृत), मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068

समानम् अधिकरणम् = अभिधेयं यस्य तस्मिन् इति। अत्र एतत् सूत्रं खलु नियमार्थञ्च तत्रोपस्थितेन लान्तार्थेन एव समानाभिधेयता परीक्ष्या।

यथा - त्वं पठसि, अहं पठामि। अतरोभयत्र लान्तार्थ स एव खलु कश्चिदुच्यते यश्च त्वं-पद-संकेत्यः, अतः समानाभिधेयता वर्त्तत इति मध्यमो भवति। ननु च भोः! क्व खलु इत्थं नास्ति। अत्र स नास्ति - त्वया पठ्यते, मया पठ्यते। अत्र हि लान्तार्थः भिन्नः युष्मदर्थसंकेत्यश्च भिन्न इति सामानाधिकरण्याभावात् मध्यमोत्तमौ न भवतः। अथ च तृतीयं खलु 'स्थानिनि' इति। स्थानं प्रसङ्गो यस्यास्तीति स्थानी। प्रसङ्गश्च प्रयुज्यमानस्याप्रयुज्यमानस्य उभयोर् भवति। पुनरपि कथ्यते स्थानी इति तेन सामर्थ्याद् अवधारणं विज्ञायते। प्रसङ्ग एव यस्य न प्रयोग इति। प्रसङ्गश्च खलु प्रकरणतो भवति। प्रकरणतश्च सोऽर्थो गम्यते, अतो न प्रयोगः शब्दस्येति। उत वा स्थानी इति य आदेशेन अपसार्यते। स्थानिनः प्रसङ्गे तदीयोऽर्थः केनचिद् अन्येन कथ्यते। तथैवात्रापि युष्मदः प्रसङ्गे तेन प्रतीयमानोऽर्थः प्रकरणतो गम्यते अतः तस्य प्रयोगो न भवति। एवम् एतासु तिसृषु परिस्थितिषु मध्यमादीनाम् अवस्थानं कल्प्यते। तेनोदाहरणानि -

त्वं पठसि। अहं पठामि। युवां पठथः। यूयं पठथ।
वयं पठामः। आवां पठावः। सः पठति। तौ पठतः।
ते पठन्ति। भवान् पठति।

एवमेते प्रयोगा उपपद्यन्ते। एतच्चापि ध्येयं यत् एतत् नियमसूत्रं खलु। विधिश्च 'लस्य तिप्तस्०' सूत्रेण भवति।

तेन सर्वेषां पुरुषाणां सामान्येनावस्थानं भवति। पुनरपि कथ्यते मध्यमो भवतीति। तेन सामर्थ्यात् नियमो विज्ञायते। युष्मदि एव मध्यमः युष्मदि मध्यम एवेति। अयञ्च पुरुषनियमः उपपदनियमश्च भाव्यते।

अस्तु, तावत् पृथक् उपपदत्वेन प्राप्ते युष्मदस्मदि मध्यमोत्तमौ भवतः परं यदा सहविवक्षा स्यात् त्वञ्च अहञ्च, त्वञ्च स च, अहञ्च स च। त्वं च देवदत्तश्च तदा किं स्यात्। उच्यते, 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्'[5] सूत्रेण अन्यैस्सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्ते अन्ये सर्वे निवर्त्तन्ते। ततश्च त्वञ्च देवदत्तश्च = युवाम्। अहञ्च देवदत्तश्च = आवाम् इति। परं परस्परं किं स्यात्? चेदुच्यते, 'त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते'[6] इति वार्त्तिकेन गणपाठे परः खलु यः स शिष्यते। तेन त्वञ्च अहञ्च = आवाम्, त्वञ्च स च = युवाम्। अहञ्च त्वञ्च स च = वयम्। अहञ्च स च = आवाम्। सर्वत्र युष्मदस्मदोः परत्वात् तयोरेव शेषः। पुरुषश्च यः शिष्यते तदनुसारमेव भवति। तेन मध्यमोत्तमौ भवतः। यद्यपि शिष्यमाणः अशिष्यमाणस्यापि अर्थं वक्ति परम् 'विप्रतिषेधे परमिति' वचनात् परमेव भवति। तेन पुरुषव्यवस्था सिध्यति। सहविवक्षा च खलु एकगुणक्रियाभिनिवेशः युगपत् सह वक्तुमिच्छा। उक्तञ्च माधवेन सहविवक्षा चानेकस्यार्थस्य एकगुणक्रियाभिनिवेशार्थं बुद्ध्या निरूप्यमाणस्य

क्रियागुणद्वारेणान्योन्यमपेक्षमाणस्य समुदायभावमापन्नस्य सहभावेन वक्तुमिच्छा। उद्भूतावयवभेदाच्च द्विवचनबहुवचने भवतः।

अस्तु, तर्हि यदा असहविवक्षा तदा कथम्? असहविवक्षायां द्वैतम् भवति। उत वा प्रतिकारकमावर्त्तते। तेन त्वञ्च अहञ्च स च गच्छामः। अपरपक्षे च त्वं गच्छसि, अहं गच्छामि, स गच्छतीति। भवान् भवति, त्वं भवसि इत्यत्र युष्मदर्थः अलिङ्ग सम्बोधनैकविषयश्च, भवदर्थस्त्वन्य इति भवतः प्रयोगे प्रथम पुरुष एव भवति न मध्यम इति। युष्मदस्मदोर् अलिङ्गत्वे तु लिङ्गानुशासने उक्तम् - अव्ययं कतियुष्मदस्मदः[7] इति।

सम्बोधनैकविषयः खलु इत्यनेन यथा सम्बोधनेन अभिमुखीकरणं भवति तथा युष्मदा अपि। हे देवदत्त! अधीष्व। तथैव त्वमधीष्व इति। तत्रपि युष्मदर्थता गम्यते अत एव तथोक्तिर् इति भावः। यदा तु भवदर्थोपि सम्बोधनविषयः अर्थात् अस्मात् यदा सम्बोधनविभिक्तिः तदा युष्मदर्थयोगात् मध्यमपुरुषो भवति।

हे भवन्! भवसि इति।

अथान्यत्रपि युष्मदर्थप्रयोगे कथं व्यवस्थेति विचार्यते?

त्वाम् अतिक्रान्तः = अतित्वं भवति।

माम् अतिक्रान्तः = अति-अहं भवति।

तथैव - त्वम् अतिक्रान्तो येन अतित्वं भवतीति। अत्र मध्यमोत्तमौ नाभूताम्। यतो ह्यत्र अतिक्रमितुः प्राधान्यम्, न युष्मदस्मदर्थस्येति प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्यय इति वचनात् मध्यमोत्तमौ न जातौ प्रत्युत शेषत्वात् प्रथम एव। अथ च लान्तार्थेन सामानाधिकरण्यमपि अतिक्रमितुरेव न युष्मदस्मदर्थस्य इति न भवतः। यदा तु खलु पूजितवचनेन 'स्वती पूजायाम्'[8] इति अतिना समासः तदा तु = पूजितः त्वम् = अतित्वं भवसि। पूजितोऽहम् = अत्यहं भवमीति मध्यमोत्तमौ भवतः।

निष्कर्षः पुरुषादीनां व्यवस्था अस्मदाद्युपपदे जायते। तेषाञ्च उपपदत्वं स्यान्नवा पुनरपि एतेषां प्रयोगस्तु भवति। अथ च सहविवक्षा असहविवक्षा वा भवेत्, उभयत्रपि एषां प्रयोगस्थितिः कपितास्माभिः। एवञ्च असहविवक्षायान्तु पृथक् प्रतिकारकभावर्त्तते लकारः, एक एक वा लकारः सर्वकारकाभिधायी भवति। सहविवक्षायान्तु एक एव क्रियते लकारः। सहविवक्षायान्तु यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी भवतीति तत एव पुरुषव्यवस्था प्रतिपाद्यते। यद्यपि स्थानिनि इति प्राप्नोति अपरोपि पुरुषः परं विप्रतिषेधत्वात् न भवति। एकदेशप्रदर्शनञ्च विहितम्।

सन्दर्भाः –

---

[1] अष्टाध्यायी १.४.१०१

[2] अष्टाध्यायी १.४.१०५

[3] अष्टाध्यायी १.४.१०६

4 अष्टाध्यायी १.४.१०७

5 अष्टाध्यायी १.२.७२

6 काशिका १.२.७२

7 लिङ्गानुशासन-१८४

8 अष्टाध्यायी २.२.१८

प्रकाश एव भावानां स्वभावः

• डॉ. भुवनेश्वरी भारद्वाज

<u>शोधसारः</u> भारतीयदर्शनेषु अङ्गाङ्गिभावमापन्नाः सिद्धान्ताः विलसन्ति। तेषु ईश्वराद्वयसिद्धान्तवादः अङ्गी। भगवान् शिवः प्रकाशशब्देन शास्त्रेषु गीयते। यावन्तः भावाः घटपटशरीराद्यात्मकाः ते स्वं न जानन्ति। चेतनः तान् घटादीन् जानाति अतः तेषां घटादीनां भावानां प्रकाशः चेतनः इत्युच्यते। चेतनस्य संकोचकः कश्चन अवच्छेदको नास्ति। यतोहि यः अवच्छेदकः देशः कालो वा तदन्यो वा स्वीक्रियते तस्यापि प्रकाशकः शिवप्रकाश एव चेतनः न त्वन्यः कश्चित्। अतः सर्वभावानां स्वभावः शिवप्रकाश एवेति साधूपपद्यते – प्रकाश एव भावानां प्रकाशः इति।

बीजशब्दाः – शैवागमः, शिवदृष्टिः, कृपेलिमः, विद्यास्थानम्, प्रत्यभिज्ञा, संवित्, चमत्कृतिः , पूर्णता, प्रकाशः, शिवशास्त्रम्, प्रमाता, भावः, जगत्, देशः, कालः, परमार्थः, अनादिः, अविनाशी, अपरिच्छिन्नः

अथेदं नितरां विज्ञातव्यं विद्यते यदद्य विस्तृतं शैवागमसंस्कृतवाङ्मयं काश्मीरीयं विलसति। तत्र हेतुतया प्रवर्तितं शिवदृष्टिग्रन्थं वयं पश्यामः। अस्य ग्रन्थरत्नस्य रचयिता महान् सिद्धः तत्र भवान् आचार्य – सोमानन्दः भगवतः शिवस्य महताऽनुग्रहकृत्येन तथा कृपेलिमः व्यभात् यथा सिद्धमहारहस्यशास्त्रावबोधः तस्य चिदभेदचित्तभूमौ शास्त्रप्रवर्तनबुद्धिः जागृता व्यद्योतिष्ट। यावत्यः विद्याः यावन्ति वा विद्यास्थानानि तावतां निखिलानां शास्त्राणाम् अनादृिता न तिरोहिता विपश्चिताम्। लोके अस्माभिरनुभूयते अतिग्रीष्मे काले सम्प्राप्ते अगाधप्रवाहायाः जाह्नव्याः धारा अतिकृशा सुखावतरणात्मा भवतीति तस्याः कृशता शान्तता चावद्योत्यते। परं वर्षर्तौ जागृतायां सघनजलदघनसमृद्धायां मेघमालायां निरन्तरप्रवर्षणशीलायां सञ्जातायां विजहाति सा – सा गङ्गादिसरित् स्वीयां स्वीयां कृशतां कृशोदरतां सूक्ष्मपाटितां वा दीर्घकालतः आलिङ्गिताम्, अथ समालिङ्गति .... समृद्धां सुप्रवाहां वीचीतरङ्गमालासुमालितां घनां दुर्वारां भयानकां रौद्रताण्डवोपमां काञ्चिद् विलक्षणां विस्तृताभोगां विलक्षणविभिन्नप्रवाहमयीं प्राणिजीवनाधारां समुल्लसन् प्रवाहोर्मिमालां धारां सुपीनाम् तद्वत् शास्त्रसलिला विभिन्ना नानाप्रस्थानसंलालिता विद्याप्रस्थानाऽभिधाना सा सा विद्यासरिदपि निखिला कदाचित्तनुतां कदाचित् पुनः व्यापकाभोगमयीं सुविस्तृतां विलसत्प्रवाहकल्लोलां तासु तासु प्रस्थानमण्डितासु विद्यासु प्राधान्येन प्रतिपादतान् अपि सिद्धान्तविषयान् स्वाङ्गतां नयन्ती महारहस्यमपि सत्पात्रशिष्येषु विच्छित्तिवैचित्र्येण

* सह आचार्या, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वद्यालय, लखनऊ

विभावयन्ती सुकुमारमतीनपि आह्लादितान् वितन्वती यत्र सम्प्रवर्तनहेतवे कस्यचित् सतः ग्रन्थस्य ग्रन्थकृतो वा प्रवर्तकत्वम् अनुमन्यन्ते सादरभरं सुजनाः सुकृतिनः। यथा लोके सर्वथा पुण्यसंभारसप्रसूतसुखसौविध्यशतैः मण्डिताः अङ्गुलिषु गुणिगणगणनया कनिष्ठिकाम् अधितिष्ठन्ति अनामिकां मध्यमां वा अङ्गुलिम्, न पुनः एकस्यापि हस्तस्य चतुर्थीं पञ्चमीं वा कठिनीम् अनुपतन्तीम् अनुभवन्ति पञ्चषाः अपि सुकृतिनः। सेयं स्थितिः महारहस्यशास्त्रस्य प्रत्यभिज्ञाविद्यायाः रहस्यतुन्दिलां संविच्छविं तदीयां चमत्कृतिञ्च लालयन्तः वर्तमानयुगे अस्माभिः ये विद्वांसः अनुभूयन्ते तत्र वसुगुप्तं वा सोमानन्दं वा भगवन्तम् आदरयन्तः स्वां स्वां वाचम् अनयोः वाग्भिः सम्मेल्य पावयन्तः भक्तशिरोमणयः तत्रभवन्तः उत्पलदेवगुरवः श्रीलक्ष्मणगुप्तसद्गुरोः प्राप्तोपदेशाः सर्वविद्याकाननेषु निर्भीकं विहरन्तः केसरिणः इव लसन्तः निरतिशयैश्वर्यां प्रतिभां स्वां शिष्यताम् इच्छत्सु सत्पात्रतां बिभ्रत्सु विशदयन्तः विजयन्ते अभिनवगुप्तपादाः अथ च एतदीय संविच्छविभिन्नभेदतिमिराः साधकाः सिद्धाः विद्वांसः आचार्यरामेश्वरझा महानुभावाः यदीयरचना - निसृतैः पारिजातप्रसूनसमुद्गमैः समग्रं काननमिव सम्पूर्णं श्रियोनिधानं संस्कृतवाङ्मयं सुरभितम् आभाति।

एतादृशीं रचनां श्रीपूर्णताप्रत्यभिज्ञाम् आधृत्य सर्वजीवानामिव सर्वजगतामपि आभासभूतानां परमः स्वभावः प्रकाशाभिधः शिव एवेति अनुभूति- युक्तितर्कान्वितपद्धत्या किञ्चिद् विचारयामः।

यस्य शास्त्रे प्रकाश इति संज्ञया संकीर्तनं प्रथनञ्च विद्यते सोऽयं सर्वभावस्वभावः शिव एव अतएव शैवशास्त्रेषु प्रधानतया प्रकाशस्य प्राधान्येन प्रतिपादनं प्राप्यते। यावन्तः भावाः तेषां स्वभावः कः ? इत्येवं प्रश्ने जाग्रति सति सुस्पष्टम् उदीर्यते –

प्रकाश एव भावानां स्वभावः सर्वसम्मतः।
स एव शिवशास्त्रेऽस्मिन्नुपादेयः परो मतः ॥[1] इति

अस्माकं पुरतः उपलभ्यमानं घटपटचटादिकं वस्तुजातं स्वयम् आत्मानं न जानाति स्वविषये नः किमपि चिन्तयति अतः तत्तद्वस्तु जडपदेन आख्यायते किन्तु विचार्यताम् घटवस्तु पटवस्तु अन्यद् वा किमपि यत् तिष्ठति तस्य आत्मधारणानुकूलव्यापारः भवति अथापि तस्य अस्तित्वे प्रमाणं चेतनः चैत्रादिरेव प्रमाणं भवति । प्रकाशः शिवः घटं विजानाति ततः घटस्य अस्तित्वम् उपयोगे उपयोगकाले वा आगच्छति । अतः यः चैत्रः प्रकाशः स एव प्रमाता घटस्य वास्तविकं स्वरूपं विद्यते। अयं प्रकाशः एव तत्र तत्र सर्वत्र भावात्मकस्य सर्वस्यापि जगतः स्वरूपं भवति। जडं वस्तु स्वात्मानं वेत्तुं न शक्नोति अत एव तु जडः इत्युच्यते। यदि स्वं जानीयात् तदा स चेतनो भवेत् न तु जडः। समेषां जडवस्तूनाम् प्रकाशकः चेतनः वस्तुतः एक एव अस्ति यतोहि चैत्रस्य घटः प्रकाशते। तत्रापि प्रकाशः शिवः। मैत्रस्य पटः प्रकाशते तत्रापि प्रकाशः शिवः एव। अर्थात् कस्यापि वस्तुनः यत् प्रकाशनम् जायते तत्र प्रकाशः शिवः एव, यतोहि प्रकाशस्य कश्चन अवच्छेदको नास्ति। यदि कश्चन् अवच्छेदकः स्वीकार्येत तर्हि तस्यापि प्रकाशः शिवः एव भवेत्। शिवेन प्रकाशेन प्रकाशितम् अवच्छेदकं वस्तु यदि विद्यते तस्यापि वास्तविकं स्वरूपं शिव एव। अतः शिवेन प्रकाशितं शिवस्य अवच्छेदनं कर्तुं न प्रभवति। अत एवोच्यते अकामेनापि विवेकवता जनेन इदं निश्चेतुं शक्यते यत् समेषां भावानां प्रकाशः शिव एव वास्तविकः स्वभावः स्वरूपं वा अस्ति।

अत्र एकः पक्षः विचारणीयः भवति। इदमात्मना भासितं सर्वं वस्तु अप्रकाशरूपं भवतु। यदा प्रकाशेन चैत्रादिना संलग्नं भवति अप्रकाशरूपं वस्तु तदा तत् प्रकाशमानं भवति। अयं पक्षः युक्तिसंगतः भवति न वा इत्येवं विचारः अवश्यं करणीयः। वस्तु अप्रकाशरूपं प्रकाशेन सम्बद्धम् भवति तदा प्रकाशते अयमेव भवतां पक्षः इदानीं स्थिरो भवति। तथा च अप्रकाशस्वरूपं वस्तु प्रकाशेन सम्बद्धम् भूत्वा प्रकाशते इति भवतः पक्षस्य आशयः आयाति। अत्र अप्रकाशः प्रकाशीभावं प्राप्तः इति उच्यते तर्हि भावात्मकं जडवस्तु यद् विद्यते तस्य स्वरूपं भवति अप्रकाशमानत्वम्। यदि जडस्य इदम् अप्रकाशमानत्वं स्वरूपम् प्रकाशेन संलग्न भूत्वा प्रकाशरूपतां गच्छति अर्थात् प्रकाशते तथा उक्तं भवति अप्रकाशमानस्वरूपं भाव वस्तु स्वं स्वरूपं जहाति अथ प्रकाशते इति। तथा भवानेव विचारयतु स्वरूपम् अप्रकाशमानं भावस्य नश्यति चेत् भावस्य स्वरूपमेव लुप्यते। अतः लुप्तस्वरूपस्य भावस्य प्रकाशरूपता आपद्यते इत्युक्तिः असंगता भवति। अत एवोक्तं महामहोपाध्यायेन आचार्यवरेण –

अप्रकाशं च यत्किञ्चित् स्वयं न प्रथते हि तत्।
स्वभावत्वं कुतस्तस्य वस्तुतत्त्वमवस्तुनः ॥[2]

केचन दार्शनिकाः जडानां वस्तूनां मूलं रूपं शून्यम् इति अभाव इति वा वर्णयन्ति। तत् तु न समीचीनम्। यतोहि यत् शून्यं यः वा अभावः सः क्वापि न प्रकाशते। चैत्रादि प्रकाशेनापि कश्चन अभावः प्रकाशीभावं प्राप्तुं न शक्नोति।

यदि कश्चन् एवं चिन्तयति यत् अवयवैः तन्तुभिः पटः उत्पद्यते तथा कैश्चित् अवयवैः प्रकाशः जडवस्तूनि उत्पद्यते इति तदपि न शोभनम्। घटं पटं वा विहाय किमपि अन्यत् अवयवात्मकं वस्तु विद्यते यतः प्रकाशः उत्पन्नो भवेत्। अतः प्रकाशः न शून्यस्वरूपः न वा अवयवारब्धः अवयवी विद्यते। उत्पत्ति- विनाशरूपवात् स्वप्रकाशत्वात् नीरूपत्वात् सर्वजगत्प्रकाशकत्वात् च प्रकाशः एकः आस्ते सोऽयं प्रकाशः शिवः शिवशास्त्रे परमोपादेयः विद्यते अनेन एकेनैव ज्ञातेन सर्वं विज्ञातम् भवति। यः कश्चन देशः स्थानविशेषः यो वा कश्चन कालः समयविशेषः यः स्वयं प्रकाशो भवेत्, देशकालयोरपि घटादिवद् जडत्वात्। अतः यथा भावात्मा घटः पटो वा प्रकाशस्वभावः प्रकाशान्नातिरिच्यते प्रकाशं विना नैव प्रकाशते तथैव देशः कालो वा प्रकाशं विना नैव भासते अतः घटादिवत् देशस्य कालस्यापि एतद् सामर्थ्यं नास्ति।

यत् प्रकाशस्य अवच्छेदं विदध्यात्। एतावता एतत् स्पष्टम् आयाति यत् देशेन कालेन घटेन पटेन अन्येन वा केनचिद् वस्तुना निरवच्छिन्नस्य स्वप्रकाशस्य प्रकाशसंज्ञकस्य शिवस्य एव परमार्थता अनादिता अविनाशिता अजन्यता अपरिच्छिन्नता च चकास्ति स च शिवं सर्वेषाम् अस्माकं प्रमातृणाम् एकः स्वात्मा महेश्वरः परमोपरस्य परमप्राप्य च सदातुल्य- स्वरूपो विजयते। यथोक्तम् –

'येन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातम् भवति तदात्मा तद्ब्रह्म' इति।

अभावः शून्यमेवाथ यदन्यदपि किञ्चन।
प्रकाशते न तत्सर्वं प्रकाशात्मतया विना ॥[3]
घटाद्याकारभेदेन मृदादेर्भिन्नता यथा ।
न तथास्ति प्रकाशस्य तद्भेदानुपलब्धितः ॥[4]

स च प्रकाशो नानेक एक एव यतः किल ।
प्रकाशादितरस्तस्य स्वभावो नोपपद्यते ॥[5]
भावाभावस्वरूपस्य विश्वस्य जगतः किल ।
आत्मा स्वभावश्चैतन्यं तद्भिन्नं नहि किञ्चन ॥[6]
नाचेत्यमानः कस्यापि स्वभावः कोपि कुत्रचित् ।
चेत्यमानः प्रकाशात्मा चिदेवान्यो न कश्चन ॥[7]

अतः ये ये भावाः प्रमातुः समक्षं भासन्ते तेषां समेषां भावानाम् आत्मा प्रकाशः प्रमाता शिवः एव अस्ति। स एव भाति नाम रूपं यत् किमपि भासते तत्सर्वं प्रकाशस्य शिवस्य आभासमात्रं विधत्ते । अतः प्रेमास्पदं ब्रह्म स्वात्ममहेश्वरः एकमात्रं प्रियः सर्वस्यात्मा विजयते ।

सन्दर्भाः –

1 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२० पृ० सं० ६
2 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२१ पृ० सं० ६
3 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२२ पृ० सं० ६
4 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२३ पृ० सं० ६
5 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२४ पृ० सं० ६
6 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२५ पृ० सं० ६
7 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा १/२६ पृ० सं० ६

श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रतिपादितायाः भगवत्शरणागत्याः विशिष्टाद्वैतपरकं समीक्षणम्

• डॉ. ऋचा पाण्डेयः

शोधसारः - अत्र द्वैतवादिनः कथयन्ति यत् "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः। अर्थात् ध्यानधारणासमाधिद्वारा मुमुक्षोः अविद्यावरणं क्षीणो निराकृतः भवेत् अज्ञाने नष्टे स्वतः ज्ञानं उत्पद्यते। ज्ञाने परिपक्वे जाते आत्मा मुक्तः भवति। आत्मातुनिर्लिप्तत्वात् सदामुक्तः एव भवति। किन्तु विशिष्टाद्वैतदर्शने सम्मतं मोक्षप्रकारः अत्र मंत्रे निर्दिष्टः प्रथमं साधकः मोक्षप्राप्तये वेदगुरूसान्निध्ये ज्ञानं प्राप्नोति तदा उपासनं करोति उपासनायां परिपक्वे जाते जीवस्य संचितपापकर्मणां नाशः भवति। कर्मफलक्षये जाते साधकस्य मुक्तिः परमात्मा करोति। अत्र जीवात्मनः द्वैतवादः विशिष्टाद्वैतदर्शने मन्यते। अद्वैतवादे अज्ञानावरणे अनावृते ज्ञानं भवति ज्ञानाद् मुक्तिः भवति। अद्वैते जीवने मानवः राज्ञः जनकसमः जीवन्मुक्तिर्भवति। किन्तु विशिष्टाद्वैतदर्शने देहे नष्टे जाते परमात्मना जीवस्य मुक्तिर्विधीयते।

बीजशब्दाः - ईशसंस्थः, विशिष्टाद्वैतम्, ईश्वरः, श्रीरामानन्दाचार्यः, भगवच्छरणागतिः, वशिष्ठसंहिता, श्वेताश्वतरः,

भूमिका – श्वेताश्वतरोपनिषदि मोक्षप्राप्तये ईश्वरस्य महिमाप्रकटिता यथा- **स तन्मयो.................ईशनाय।।**[1] अत्र मंत्रस्य सामन्योऽर्थो विद्यते यत्- स हि तन्मयः अमृतः ईशसंस्थः ज्ञः सर्वगः अस्यभुवनस्य गीता यः अस्यजगतः नित्यमेव ईशे। ईशनाय अन्यः हेतुर्न विद्यते। अत्र तत्वविश्लेषणं विहिते ज्ञायते यत् परमात्मापुरूषोत्तमः परमेश्वरः परमब्रह्मतन्मयः स्वस्वरूपे स्थितः अमृतरूपः एकरसः वर्तते। अस्य विनाशरूपजगतः उत्पत्ति विनाशे जाते ब्रह्मणः परिवर्तनं न भवति ईश्वरः विकाररहितो वर्तते। सः परमेश्वरः समस्तलोकानां पालनकरणाय नियुक्तः लोकपालेषु अपि अन्तर्यामी रूपेण स्थितो वर्तते। परमात्मा सर्वज्ञः वर्तते। सर्वत्र परिपूर्णः व्याप्तः परमेश्वरः एव समस्त

* सहायकाचार्या, संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः

ब्रह्माण्डस्य रक्षां करोति। स एवास्य जगतः ब्रह्माण्डस्य रक्षां करोति। स एव जगतः यथायोग्यनियन्त्रणं संचालनं च करोति। अन्यः कोऽपि अस्य ब्रह्माण्डस्य शासनाय ईशनाय उपयुक्तः हेतुः न दृश्यते प्रतीयते यतोऽहि परमात्मातः अन्यः कोऽपि जगदीशनाय समर्थो न दृश्यते। अस्य मंत्रस्य विशिष्टाद्वैतदर्शनपरक व्याख्याने स्वकृतानन्दभाष्ये श्रीरामानन्दाचार्यः व्याख्यायति यत्- सः पूर्वचर्चितः परमेश्वरः भगवान् श्रीरामः संसारेण तदात्मकः अमृतः संसारी शासकपदे प्रतिष्ठितः ज्ञः सर्वान् जानाति सर्वज्ञः सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः अस्या चिदचिल्लक्षण्स्य लोकस्य गोप्ता रक्षको वर्तते। परमेश्वरः नित्यमस्य जगतः नियमनं शासनं करोति अर्थात् नित्यमेतद् जगतः नियंत्रणं करोति। तथा च नित्यं मोक्षेऽपि ईश्वरस्य ईशानकर्म भवति। जगतः ईशानाय शासनाय अन्यहेतु र्न विद्यते।

भगवच्छरणागतिः - श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रतिपादितं विशिष्टाद्वैतदर्शने स्वीकृतं यत् जिज्ञासुना सर्वप्रथम भक्तियोगमाश्रयितव्यम्। ईश्वराय स्वसर्वस्वसमर्पणं भवेत् तदापरमात्मा तस्य संचित प्रारब्धकर्मणां नाशं करोति मुमुक्षुः जिज्ञासुः ईश्वरसमर्पणं कृत्वा भौतिकभोगेषु विरक्तिं प्राप्नोति ततश्च वैराग्ये जाते साधकस्य मृत्योरनन्तरं मोक्षो भवति। अयमेवसिध्दान्तः ईश्वरभगवच्छरणागतिकरणाय अत्र प्रस्तुतो यत्-

भगवच्छरणागतिः-श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रतिपादितं विशिष्टाद्वैतदर्शने ।

यो ब्रह्माणं.....................प्रपद्ये ।।[2]

अत्र उक्तं यत्-यः परमेश्वरः वै निश्चय रूपेण पूर्वं ब्रह्माणं उत्पन्नं करोति। च वै निश्चयरूपेण तस्मै वेदान् प्रददाति। तं आत्मनः ज्ञानात्मिकां बुध्दिं प्रकटयति विशदीकरोति। आत्मबुध्दिप्रकाशं प्रसिध्ददेवम् अहं मुमुक्षुः साधकः तं देवं शरणं प्रपद्ये।

समीक्षणम् - अत्र प्रतिपाद्यते यत् सर्वप्रथमं पूर्वं निश्चयरूपेण कथयति यत् तं परमेश्वरं प्राप्तुं सार्वभौमः सुगमः सरलः सुकरः उपायः सर्वतो भावेन तस्मै परमेश्वराय स्वकीयं सर्वस्वं दायित्वं समर्पितव्यं भगवतः शरणं प्राप्तव्यम्। अतः साधकः मनसा ईश्वरसमर्पणभावस्य चिंतनं कुर्वन् परमात्मनः शरणं प्राप्तव्यम्। यः परमेश्वरः निश्चयेन हि सर्वप्रथमं नाभितलात् ब्रह्माणं उत्पन्नं करोति। तं प्रजापति ब्रह्माणं उत्पन्नं कृत्वा समस्तवेदानां ज्ञानं प्रददाति। तथा स परमात्मा स्वस्वरूपस्य ज्ञानं कारयितुं स्वभक्तानां हृदये वेदशिक्षानुरूपां विशुध्द बुध्दिं प्रकटयति।[3]

तं पूर्वमंत्रेषु वर्णितं सर्वशक्तिमन्तं प्रसिध्दं परब्रह्मपुरुषोत्तमं मोक्षाभिलाषया युक्तो भूत्वाऽहं शरणं गृह्णामि सः परमात्मा मुक्तं जन्ममरण बन्धनाद् मां करोतु। विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्यायां आनन्दभाष्ये श्रीरामनन्दाचार्यः विशदयति यत् लोकिक ग्रन्थेषु प्राचीन शास्त्रेषु च जगतः कारणरूपेण विख्यातः, भगवान श्रीरामः पूर्वं सृष्ट्यादौ भगवन्नारायणो देवः वचनप्रामाण्यात् स्वस्यनारायण स्वरूपस्य नाभिस्थितकमलात् ब्रह्माणं प्रजापतिं चतुर्मुखं उत्पन्नं करोति । यश्च परमात्मा तस्मै ब्रह्मणे विधये स्वोत्पादिताय वेदांश्च प्रददाति। अत्र वेदशब्दात् न केवलं चत्वारो वेदाः ग्रहीतव्या अपितु सर्वविधवैदिकवाक्यं प्रादात्।

वशिष्ठसंहितायां चतुराननस्य मानसैः पुत्रैः श्रीराममन्त्र प्रदायाचार्यैः महर्षिवशिष्ठैः उक्तम् यत्-

सृष्ट्यादौ च सिसृक्षुः श्रीरामोविधिं विधायहि।

सुष्टये प्रेरयामास वेदं ज्ञानमहानिधिम्॥

अत्र स्वबुध्दिप्रकाशं स्वविषयक बुध्देः प्रकाशं देवं ब्रह्मेशानादि सर्वपूज्यं भगवन्तं श्रीरामं शरणमहे प्रपद्ये शरणं गृह्णामि। रामायणेऽपि एवमेवमुक्तम् यत्-

सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति य याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥[4]

सन्यासकलानिधौ श्रीचिदानन्दाचार्यैः उक्तं यत् सकृद् रामप्रयत्येव परमधामवाप्ति जगद्गुरूभिः उक्तम् यत्-

नावाप्यते परं धाम तपोयोगसमाधिभिः ।

सकृद्राम प्रपत्यैव पाणिभिः प्राप्यते हि तत्।।

अनेनस्पष्टायते यत् भगवच्छ्रीरामशरणागतिरेव मोक्षसाधिका अतः मोक्षार्थं मुमुक्षुभिः श्रीरामशरणं प्राप्तव्यम्।

अथ च श्वेताश्वतरोपनिषदि दुःखानां विनाशाय किं कर्त्तव्यमिति प्रतिपाद्यते यथोक्तम्-

निष्कलं निष्क्रियमिवानलम्॥

यदा चर्मवदाकाशं भविष्यति॥[5]

उपर्युक्त ब्रह्मज्ञानाभावे मोक्षसंभावना न भवति इति आह- निष्कलं कलातीतं निष्क्रियं क्रियाशून्यं शान्तं सर्वथाप्रशान्तं उद्विग्नता रहितं निरवद्यम् दोषरहितं अमृतस्यामरतायाः परमं उत्कृष्टं सेतुं माध्यमं दग्धकाष्ठमिव अग्निमिवनिर्मलं ज्योतिः स्वरूपं ते परमात्मानं चिन्तये।

परमात्मनः यथार्थज्ञानमेव जन्ममरणबन्धनमुक्तिहेतुः वर्तते इति विश्लेषणं प्रस्तौति यत् यदा मानवाः आकाशगगनं चर्मसमाने शरीरं वेष्टयिष्यन्ति अर्थात् परमहंसावस्थां निर्वस्त्रावस्थां जैन मुनिसमानं स्थाष्यन्ति तदा परमेश्वरमज्ञात्वापि दुःखानां अन्तः मानवस्य भविष्यति।

समीक्षणम् - निर्गुणनिराकारपरमात्मनः उपासनाकारकः भक्तः एवं प्रकारेण चिन्तनं कुर्याद्यद् यः परमात्मा षोडशकलारहितः अर्थात् संसारबन्धनशक्तिरहितः सर्वधाक्रियाशून्यः सर्वविधदोषरहितः निर्दोषः अमरतारूप मोक्षस्य परमसेतुरूपं भगवच्छरणाश्रयं गृहीत्वा मनुष्यः अत्यंतसरलतया संसारसागरात् पारं गन्तुं शक्नोति। काष्ठस्यपार्थिवरूपदग्धे अंगारकरूपाग्नेः समानं सर्वदानिराकारः निर्मलं प्रकाशरूपं परमचेतनः तं निर्गुणं निराकारं परमात्मानं तत्वार्थे ज्ञाते तमेवलक्ष्यीकृत्य तस्य चिन्तनं विधेयम्।

यदा च मुमुक्षवः आकाशं चर्मवत् वेष्टयिष्यन्ति अर्थात् निर्वस्त्रावस्थायां परमहंसस्वरूपे जैनमुनितुल्यः मानवाय सर्वथा असंभवो वर्तते। सर्वेमनुष्याः सम्मिल्यापि तथाकर्तुं न शक्नुवन्ति तथैव

परमात्मानमज्ञात्वा कोऽपि जीवः दुःखरूप संसारसागरात् पारं गन्तुं न शक्नोति । मनुष्याणां दुःखानां सर्वथा निरासाय निश्छलपरमानन्दस्य प्राप्तये अन्य विषयेभ्यः मनः निर्वत्य एकमात्रं अनन्यभावेन तमेवपरमात्मानं ज्ञातुं एकनिष्ठया प्रयत्नः कर्तव्यः। विशिष्टाद्वैतपरकत्व व्याख्याने श्रीरामानन्दाचार्यः स्वभाष्ये वदति यत्-

"परब्रह्मश्रीरामज्ञानाभावादशायामाकाशवेष्टनस्या संभावेन मोक्षस्याप्य संभावनैवास्तीति भावः"[6]

श्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठाध्याये श्वेताश्वतरनामा ऋषिः किं अवददिति अभिहितम्-ब्रह्मविद्याधिकार निरूपणम्-

तपः प्रभावादे..............संघजुष्टम् ॥[7]

इदं प्रसिद्धं यत् श्वेताश्वरनामकः ऋषिः तपः प्रभावात् च देवप्रसादात् ब्रह्म विद्वान् ऋषिसंघ जुष्टम् परमं पवित्रं अत्याश्रमिभ्यः सम्यग् प्रोवाच।

समीक्षणम् – इतिहासे प्रसिध्दं यत् श्वेताश्वरनाम ऋषिः तपप्रभावात् अर्थात् विषयभोगान् भौतिकसुखं च त्यक्त्वा संयमपूर्वकं जीवनं यापयन् निरन्तरं परमात्मचिन्तनैवलग्नः परमेश्वरस्य अहैतुकीकृपया परमब्रह्म ज्ञातवान्। ततः श्वेताश्वतरः ऋषिगण सेवितं स्वपरमलक्ष्यं परमं पवित्रं ब्रह्मतत्वं आश्रयाभिमानरहितः सत् ज्ञानाधिकारयोग्यताम् सम्यगुपदिष्टवान्।

विशिष्टाद्वैतदर्शनपरक व्याख्यानं श्रीरामानन्दाचार्यः स्वकृतानन्दभाष्ये श्वेताश्वतरोपनिषदः प्रस्तौति व्याख्यानं यथा-तपसः प्रसादात् कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपश्चरण प्रभावात् देवस्य समाराध्य भगवतः श्रीरामस्य कृपाप्रसादात् सम्पन्नब्रह्मविधानः श्वेताश्वरः नामकः कश्चिद् ऋषिः अत्याश्रमीभ्यः पूज्याश्रमीभ्यः ऋषिसंधैः सेवितं स्वभावतः निर्दोष संघत्वान्निरतिशय शुध्दिसमन्वितं ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मपादाभिधेयं भगवन्तं श्रीरामं प्रोवाच। अत्र ब्रह्मज्ञान प्राप्त्याधिकारनिरूपणं विहितम्।

ब्रह्मपदवाच्यः श्रीरामस्य ज्ञानाय अधिकारीणः योग्यता एवं भवेत् यथा-

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते ॥
भगवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः ।
एकश्रृंगोवराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः ॥

पुनश्च ब्रह्मविद्या ज्ञानाधिकारनिरूपणम् श्वेताश्वरेणऋषिणा उपनिषद् कारेणं विहितम् यथा-

वेदान्ते परमं..............शिष्याय वा पुनः ॥[8]

अस्य मंत्रस्य विशिष्टाद्वैतपरकत्वं व्याख्यानं श्रीरङ्गरामानुजमुनिना स्वप्रकाशाख्यटीकायां लिखति यत्-

"वेदान्तेषु अतिगुप्ततया गोपायितं पुराकल्पे ब्रह्मणे उपदिष्टं एतद्विज्ञानं शान्तेभ्यः पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यः एव वक्तव्यम् अन्येभ्यः न" ।[9]

ब्रह्मविज्ञानाधिकारनिरूपणं कुर्वन उपनिषद्कारः ऋषिः श्वेताश्वतरः करोति। अत्र विशिष्टाद्वैतदर्शनपरकत्व रामानन्दाचार्यः स्वकृतानन्दभाष्ये व्याख्यायति यत् वेदान्तशास्त्रेषु अत्यंतम् रहस्यत्वेन गोपायितं पुराकाले श्रीब्रह्मणे उपदिष्टं एतद् ब्रह्मज्ञानं अप्रशान्ताय उद्विग्नचित्ताय पुत्ररहिताय शिष्योचित श्रद्धा भावरहिताय न दातव्यम् पुनश्च रामानन्दाचार्यः सारं वदति यत्- **"अतिरहस्यात्मकं एतद्ब्रह्मज्ञानं मनः शान्तिरहिताय पुत्रादिसंततिरहिताय शिष्योचित मर्यादां न पालकाय न दातव्यम्। अर्थात् शान्तचेतसे सुपुत्राय शिष्योचितमर्यादापालकाय ब्रह्मविद्याविज्ञानं दातव्यम्।**[10]

एवम् श्वेताश्वतरोपनिषदः विशिष्टाद्वैतदर्शनपरकं समीक्षणमत्र प्रस्तुतम्। आशाशे ममायं प्रयत्नः ब्रह्मज्ञानपिपासुभ्यः मुमुक्षुभ्यः इदं शोधकार्यमुपयोगि भविता।

सन्दर्भाः –

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषदि-६-१७

[2] श्वेताश्वतरोपनिषदिः-६-१८

[3] गीतायाम् १०-१०

[4] रामायणम् युद्धकाण्डः १८-३३

[5] श्वेताश्वतरोपनिषदिः ६-१९,२०

[6] आनन्दभाष्यं प्रकाशटीकायां रामानान्दाचार्यः

[7] श्वेताश्वतरोपनिषदः ६-२१

[8] श्वेताश्वतरोपनिषदः ६-२२

[9] प्रकाशटीका श्वेताश्वतरोपनिषदः ६-२२ श्रीरङ्गरामानुजमुनिः

[10] आनन्दभाष्यं श्वेताश्वतरोपनिषदि ६-२२ रामानान्दाचार्यः

पाणिनीयव्याकरणपरम्परायां सम्बन्धस्य कारकत्वाकारकत्वविमर्शः

• डा.नीतीशकुमारः

शोधसारः - पाणिनीयव्याकरणपरम्परायां कारकसंख्यां, कारकत्वमकारकत्वं वाधिकृत्य बहुशः चर्चाः प्रवर्त्तिताः। पाणिनीयव्याकरणे कारकसंख्याविषयेऽपि न किञ्चित्स्फुटैर्वचोभिः प्रत्यपादि पाणिनिराचार्येण प्रत्युत अष्टाध्याय्यां कारकप्रकरणे सम्बन्धो न परिचर्चितः, अपितु विभक्तिप्रकरणे षष्ठीं प्रतिपादयता **'षष्ठी शेषे'**[1] इत्येवोक्तम्। अत्रापरिस्फुटे शेषार्थे सूत्रार्थोऽप्यपरिस्फुट इति निश्चप्रचमेतत्। अयं हि शेषार्थो बुधैराचार्यैर्बहुधा व्याख्यातः। कारकाणां कथं विवक्षाधीनता, षष्ठ्युत्पत्तिविवेचनमित्यादयो विषयाः समासतोऽत्र समालोचिता वर्तन्ते।

बीजशब्दाः – शेषार्थः, क्रियाकारकसम्बन्धः, विवक्षाविवक्षाविवेचनम्, क्रियाकारकपूर्वकत्वम्, स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः।

शेषार्थविमर्शः - कारकेषु सम्बन्धस्य परिगणना स्यान्नवेति विचारो वैयाकरणनिकाये विस्तरेण प्रवर्तितः। तत्र सम्बन्धस्य अकारकत्वे सम्बन्धस्य अक्रियात्वं कारणम्, यतोहि कारकत्वं तु क्रियानिर्वर्तकत्वे क्रियान्वयित्वे वा पर्यवसितम्, अर्थात् यत्क्रियया साक्षात्सम्बध्यते तत्कारकम्। कारकक्रिययोः कार्यकारणभावोऽभिमतः भाष्यकारस्येति **'कारके'** सूत्रभाष्ये स्पष्टमेव। यद्यप्याचार्येण पाणिनिनात्र न स्फुटतया किञ्चिदपाठि किन्तु यथाह भाष्यकारः- **'इहेङ्गितेन चिष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो संलक्ष्यते'**[2]। अतः कारके इति सूत्राधिकारे[3] सत्यपि कर्तृकर्मादिकारकाणां पाठे सम्बन्धस्यानुल्लेखत्वादकारकत्वमेव सम्बन्धस्यस्याभिमतं सूत्रकारस्येति नात्र विप्रतिपत्तिलेशः क्वचित्।

* सहायकाचार्यः,इन्द्रप्रस्थमहिलामहाविद्यालयः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली

अत्र **'षष्ठी शेषे'** इति सूत्रभाष्ये कः शेषार्थ इति विचारणायां महाभाष्यकारः **'कर्मादिभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेष'**[4] इति विवृणोति। काशिकाकारश्चेमामेव परिभाषां सम्वर्धयन्नाह- **कर्मादिभ्योऽन्यः प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिसम्बन्धादि शेषः**[5]। तस्मिन् शेषार्थे स्वस्वामिभावादिसम्बन्धद्योतनाय षष्ठी प्रयुज्यते। तद्यथा- राज्ञः पुरुषः, पितुः पुत्रः इत्यादिषु।

आचार्यभर्तृहरिणापि सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः अर्थात् शेष इत्यमानि। यद्यपि सम्बन्धः कारकशेषः, किन्तु तथाप्यसौ क्रियाकरकपूर्वकः, अर्थात् सम्बन्धेऽपि क्रिया अव्यक्तरूपेण तिष्ठति सा च क्वचित् श्रुता, क्वचिदश्रुता वा। तदुक्तञ्च वाक्यपदीये -

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।[6] **श्रुतायामश्रुतायां च क्रियायां सोऽभिधीयते।।**

अत्राश्रुतायाम् अर्थात् यत्र वाक्ये क्रिया न श्रूयेत। तद्यथा- राज्ञः पुरुषः इत्याद्युदाहरणेषु अश्रूयमाणा क्रिया। प्रत्युत श्रुतायामित्युक्ते यत्र वाक्ये क्रिया श्रूयेत। तद्यथा- मातुः स्मरति इत्यत्र स्मरति इति क्रिया। एषूदाहरणेषु क्रियायाः श्रुतायामश्रुतायां वापि कर्मादिविवक्षा तु नास्त्येव। अयञ्च सम्बन्धः प्रायः स्वस्वामिभावात्मको विशेषणविशेष्यरूपभावात्मको वा भवति । तत्र स्वस्वामिभावात्मको यथा राज्ञः पुरुषः इत्यादौ। मातुः स्मरति इत्यादौ मातरं प्रति विशेषणभाव एवाभिव्यज्यते, यश्च खलु क्रियाकर्मत्वमूलः[7]। पदमञ्जरीकारेण सम्बन्धस्याकारकत्वमेव स्वीकुर्वता, तत्स्वरूपप्रतिपादने पूर्वाचार्यमतान्याधृत्य, विशेषतो आचार्यभर्तृहरेः कारिकामाधृत्य स्वस्वामिभावादिसम्बन्धमेव न्यरूपि। तद्दृष्ट्या कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्ध एव षष्ठ्यर्थः। स च सम्बन्धो द्विष्ठः[8]। तद्यथा- राज्ञः पुरुषः इत्यस्मिन् वाक्ये षष्ठ्याः वाच्यभूतार्थस्य सम्बन्धस्य 'पुरुषः' इत्येवं प्रकारको बोधः[9]।

आचार्यभवानन्देनापि सम्बन्धस्य कारकत्वं अनङ्गीकुर्वता कारकचक्रे स्पष्टमेवोल्लिख्यते यत् - **सम्बन्धस्य कारकत्वं नास्ति क्रियायोगाभावात् इति शाब्दिकाः**[10]। अस्मिन् सन्दर्भे जगदीशतर्कालङ्कारेणाप्युल्लिख्यते यत् -**षष्ठ्यर्थस्तु सम्बन्धः, न धात्वर्थे प्रकारीभूय भासते। तण्डुलस्य पचतीत्याद्यप्रयोगात्, अतः सम्बन्धो न कारकम्**[11]। वस्तुतः कर्तृकर्मादिरूपेणैव यदि क्रियया सह योगः तदैव कारकत्वम्, नान्यथा।

वाक्यपदीयटीकाकारो हेलाराजो भर्तृहरेः कारिकायाः भावान्स्पष्टयन्नाह यत्- राज्ञः पुरुषः, वृक्षस्य शाखा, पितुः पुत्रः इत्यादिषु स्थलेषु अश्रूयमाणा क्रिया वर्तते। तद्यथा राजपुरुषयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धमूलेऽश्रूयमाणा ददाति क्रिया। यतोहि पुरुषाय ददाति, अत एवायं स्वस्वामिभावसम्बन्धः। एवमेव वृक्षशाखयोः अवयवावयविभावसम्बन्धेऽपि स्थाधातुः कारणम्। वृक्षे शाखा स्थिता, अतस्तयोः अवयवावयविभावसम्बन्धः। एवमेव पितापुत्रयोः सम्बन्धेऽपि 'जन्' धातुः कारणम्। पितुः पुत्रो जायते, अतस्तयोर्जन्यजनकभावसम्बन्धः। एतेषु सर्वेष्वपि स्थलेषु अश्रूयमाणक्रियायाः पूर्वभाविनं कारकसम्बन्धमादायैव शेषसम्बन्धस्य उत्पत्तिर्भवति। अतः शेषस्यापि कारकत्वमिति वक्तुं शक्यते। वस्तुतः राजपुरुषौ राजा पुरुषाय ददातीत्यत्र कर्तृसम्प्रदानत्वेन अवर्त्तताम्,

तावेव राजपुरुषौ सम्प्रति कर्तृसम्प्रदानयोरविवक्षायां शेषभूतौ, अतः राज्ञः पुरुष इति सामान्यकारकत्वेन षष्ठ्यां व्यवहृतौ भवतः। सामान्यकारकत्वेन अर्थात् इमे स्वस्वामिभावादिसम्बन्धाः कर्तृकर्मादिविशेषकारकाणां वाच्यभूताः भवन्ति, अतः कारकेभ्यो व्यतिरिक्ता इति व्यपदिश्यन्ते[12]।

यत्र क्रिया साक्षात् श्रूयते, तत्र सम्बन्धः कारकत्वमेवावबोधयति। तद्यथा 'मातुः स्मरति' इत्यत्र सम्बन्धः कर्मत्वबोधकः। 'सर्पिषो जानीते' इत्यत्र सम्बन्धः करणत्वबोधकः, परञ्चायं सम्बन्धः न कर्मकरणादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यतेऽपितु शेष इति व्यपदिश्यते। अतः शेषोऽपि कारक एव[13]। अस्या एव वाक्यपदीयकारिकाया अवतरणिकायां हेलाराजेन षष्ठ्यर्थस्य कारकत्वमङ्गीकृतम्[14]।

षष्ठ्युत्पत्तिविवेचनम् - सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वेऽपि न पुरुषशब्दात् षष्ठ्युत्पत्तिः। तत्र राजसम्बन्धिनः पुरुषस्य विवक्षायां राजन्शब्दादेव षष्ठी, यतोहि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् इति नियमः। अन्यथा राजापुरुषस्येति विवक्षायां तु पुरुषशब्दादपि षष्ठी भवति। यतोहि तदानीं पुरुषं प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वापत्तिः। यत्खलु भर्तृहरिणा निगद्यते-

भेद्यभेदकयोश्चैव सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते।द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ।।[15]

राज्ञः पुरुषः इति वाक्ये राजपुरुषयोः स्थितः सम्बन्धः षष्ठ्या द्योत्यते। अत्र सम्बन्धो यद्यपि द्विष्ठः, किन्तु षष्ठी राजन्पदादेव। यतोहि द्वयोः सत्तायाम् एकस्य प्राधान्यमपरस्याप्राधान्यं तु भवत्येव, किन्तु द्विष्ठोऽपि सम्बन्धस्त्वेक एव। अतः षष्ठी एकस्मादेव। सैका षष्ठ्येव द्विष्ठं सम्बन्धमभिदधाति। तत्र यदि वक्तुः राज्ञः प्राधान्येऽभिप्रायश्चेत् 'पुरुषस्य राजा' इत्यपि सम्भाव्यते प्रयोगः। राजपुरुषाभ्यां भिन्नस्य कस्यचित्तृतीयस्यापि प्राधान्यं व्यपदेष्टुं शक्यते तद्यथा- राज्ञः पुरुषस्य गृहम् इत्यत्र गृहस्य प्राधान्यम्[16]।

प्रसङ्गेऽस्मिन्नेकत्रैव षष्ठीति प्रतिपादनाय वार्तिककारेण **'षष्ठी शेष इति चेत् विशेष्ये प्रतिषेधः'** इति नियमः प्रस्तुतः। स चायं प्रत्याख्यातो भाष्यकारेण। सा च षष्ठीव्यवस्था भर्तृहरिणा व्यपदिष्टा -

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वात् गुणेषु व्यतिरिच्यते। तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते।।[17]

वस्तुतः सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्न उभयाश्रितः इति सम्बन्धलक्षणेन ज्ञायते यत् सम्बन्धो हि द्विष्ठः, ययोश्चायं सम्बन्धस्तौ सम्बन्धिनौ, किन्तु सम्बन्धोऽयं सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, एकश्च। यतोह्ययं सम्बन्धः एकः अतः 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र स्थितः स्वस्वामिभावसम्बन्धः राजनि पुरुषे चेत्युभयोरपि समाविष्टः स्यात्, किन्तु सत्यपि द्विष्ठत्वेऽत्र स्वामित्वं राजनि, स्वत्वञ्च पुरुषे भवति। एवमेव 'पुरुषस्य राजा' इत्यत्र स्वामित्वं पुरुषे स्वत्वञ्च राजनि भवति। किन्तु राज्ञः पुरुषः इत्यत्र राजनि स्वत्वं पुरुषे स्वामित्वमुत वा पुरुषस्य राजा इत्यत्र पुरुषे स्वत्वं राजनि स्वामित्वं वा न दृश्यते[18]। अत एक एव सम्बन्धो द्विष्ठः इति कथं सङ्गच्छत इति नूनमेव विचारणीयम्?

वस्तुतः स्वस्वामिभावसम्बन्धस्यार्थो भवति स्वत्वस्वामित्वसमूहः सम्बन्ध इति। तत्र स्वत्वधर्मः, स्वामित्वधर्मो वा भिन्ने-भिन्ने धर्मिण्यपि भवताम्, किन्तु यदा तौ धर्मौ द्वयोः सम्बन्धिनोः, सहैव प्रदर्श्येते तदानीं तयोः समूहः अर्थात् मिश्रितं रूपमेव उभयत्र भवति। उभयनिष्ठः सम्बन्ध एव उभयाश्रितो भवति।

अत: सम्बन्धमिमभिधातुं द्वयोरपि सम्बन्धिनो: भिन्नौ धर्मौ सहैवाभिधीयेते। तद्यथा - अवयवावयविभाव:, आधाराधेयभाव इत्यादय:[19]। एवमप्ययं सन्देह: यत् राहो: शिर: इति प्रयोगो न स्यात्, दृश्यते चायं प्रयोग:। वस्तुत: एकस्यैव हि राक्षसस्य शिर: राहु:, तदधोभागश्च केतुरिति व्यपदिश्यते। अत्र शिरोभिन्न: न राहु: किञ्चित् पृथक् वस्तुभूतम्। अत: सम्बन्धिनोऽभावे राहुपदे षष्ठी न सम्भाव्यते। अत्र राहुपदे अवयवित्वेन षष्ठीव्यपदेश:, स च तदैव सम्भवति यदा कश्चन्नवयव: स्यात्? वस्तुत: एवंविधस्थलेषु काल्पनिकमवयवावयविभावं समाश्रित्य 'नानावस्थायुक्तराहो: इदमेकावस्थायुक्तं शिर:' इति कल्पनया षष्ठी समाधेया। अत्रापि कल्पनायां लोक एव प्रमाणम्।

नागेशेनापि सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वमाश्रित्य सैव विप्रतिपत्ति: समुपस्थापिता यत् किमर्थं राज्ञ: पुरुष इत्यत्र राजन्पदादेव षष्ठी न पुरुषे? यतोहि यथा राजा पुरुषेण सम्बद्धस्तथैव पुरुषोऽपि राज्ञा सह सम्बद्ध:[20]। पुनश्च समाधानरूपेण प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयो: प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् इति व्युत्पत्या राजसम्बद्धो ह्ययं पुरुष इति विवक्षायां राजन्शब्दादेव षष्ठी न पुरुषशब्दात्। अत्र नागेशेनोच्यते यदि पुरुषशब्दात् षष्ठी विधीयते चेत् पुरुषस्य विशेषणत्वं राज्ञश्च विशेष्यत्वापत्ति:, तथा तु प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयो: प्रत्ययर्थस्यैव प्राधान्यमिति इति व्युत्पत्तिभङ्ग:[21]।

महाभाष्यकृताप्यत्र इमे एव विचारा प्रस्तुता:[22]। भर्तृहरे:[23] कैयटस्य च विचारानाधृत्य नागेशस्य विप्रतिप्रश्नोऽयं यत् भाष्यकृता पुरुषस्य गौणत्वं राज्ञश्च प्रधानत्वं स्वीकृत्य राजन्छब्दादेव षष्ठीति प्रत्यपादि। आचार्यभर्तृहरिं समुद्धरता कैयटेन उपकारि-उपकारकभावोऽत्र मत:। अत उपकारके राजन्छब्दे षष्ठी उपकारिणि पुरुषशब्दे च प्रथमेत्यङ्गीचकार[24]। आचार्यकौण्डभट्टेनापि पूर्वाचार्यपरम्परामनुसृत्यैव षष्ठी प्रतिपादिता, किन्त्वत्र तेन द्विधा षष्ठीति प्रादर्शि। शेषषष्ठी कारकषष्ठी च। अत्र शेषषष्ठ्या: सम्बन्धार्थ:, कारकषष्ठ्याश्च शक्त्यर्थ:। सम्बन्धस्यापि शक्तित्वं प्रतिपादयता कौण्डभट्टेन प्रोक्तं यत् 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण केवलं सम्बन्धमात्रं गृह्यते, कारकषष्ठ्या च शक्ति: गृह्यते[25]।

विवक्षाविवक्षाविवेचनम् - विवक्षात: कारकाणि भवन्तीति श्रुत्वैवायं प्रश्न: समुपतिष्ठते यत् किंस्वरूपेयं विवक्षाविवक्षा वा? अनेकधर्मावच्छिन्नस्य कस्यचिद्वस्तुन: कञ्चिदेकं धर्ममाश्रित्य कथनमेव तस्य धर्मस्य विवक्षा। अन्येषां धर्माणामप्रकाशनम् तेषामविवक्षा। तदेवं खल्ववगन्तुं शक्यते - देवदत्त: मातरं स्मरतीति वाक्ये मातु: अनेकेषु धर्मेषु केवलं कर्मत्वमेव वक्त्रा विवक्षितम्, वक्तुमभीप्सितं वा। अतो मातरमिति कर्मणि प्रयोग:। अन्यत्र देवदत्त: मातु: स्मरतीति वाक्ये स्मरणज्ञेयस्या: मातु: सम्बन्धमात्रं वक्त्रा विवक्ष्यते तदा मातुरिति षष्ट्यां प्रयोग:। अत्र कर्मत्वमविवक्षितं वक्त्रा। तद्यथा लोकेऽपि दृश्यत एव किललोमानि धारयन्त्यपि एडका अनुपयुक्तानि लोमानीति चेदलोमिका एडका इत्युच्यते। कन्या क्षीणकटिश्चेत् अनुदरा कन्या इत्यपि प्रयोगो दृश्यते[26]। इयमेव विवक्षाविवक्षा वोच्यते।

षष्ठ्या: विवक्षायामुदाहरणानि - सतां गतम् - सत्सम्बन्धिगमनम्। 'सन्त: अगमन्निति' कर्तृवाच्ये प्रयुक्तस्य कर्मणि प्रयोगश्चेत् 'सद्भि: गतम्' इत्युच्यते। अत्र भूतकालेऽर्थे कर्मणि क्त प्रत्यय:। गम् धातु: सकर्मक:।

यदि गम् धातोः प्रयोगे कर्मत्वमविवक्षितञ्चेत् अकर्मकत्वोऽयं धातुर्भवति। अकर्मकाच्च गम्धातोः भावे क्त प्रत्यये सति गतम् इति रूपम्, तद्योगे च 'सत्'शब्दात् कर्त्तरि तृतीया। अतः 'सद्भिः गतमि'ति प्रयुज्यते यस्यार्थः सत्कर्त्तृकं गमनम्। परञ्च यद्यत्र सम्बन्धमात्रं विवक्षितञ्चेत् सत्शब्दात् शेषत्वे षष्ठ्येव भवति - सतां गतम् अर्थात् सत्सम्बन्धिगमनम्।

सर्पिषो जानीते- करणत्वविवक्षायां 'सर्पिषा जानीते' इति प्रयोगः। करणत्वाविवक्षायां सम्बन्धसामान्यविविक्षायां षष्ठी भवति - सर्पिषो जानीते अर्थात् धृतसम्बन्धिज्ञानम्।

मातुः स्मरति - मातरं स्मरतीति कर्मणि प्रयुक्तस्य कर्मत्वमविवक्षितञ्चेत् सम्बन्धसामान्यस्य विवक्षायां मातुः स्मरतीति षष्ठ्यां प्रयोगः। अर्थात् मातृसम्बन्धिस्मरणम्।

एधोदकस्य उपस्कुरुते- एधः उदकमुपस्कुरुते इति वाक्ये कर्मणि प्रयुक्तस्य कर्मत्वमविवक्षितं सम्बन्धसामान्यञ्च विवक्षितञ्चेत् एध उदकस्योपस्कुरुते इति प्रयोगः। अर्थात् जलसम्बन्धिपरिष्करणम्।

भजे शम्भोश्चरणयोः - भजे शम्भोः चरणौ इति कर्मणि प्रयुक्तस्य सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठ्यां प्रयोगः भजे शम्भोः चरणयोः। अर्थात् शम्भुचरणसम्बन्धिभजनम्।

फलानां तृप्तः - फलैः तृप्तः इति करणत्वस्य अविवक्षायां सम्बन्धमात्रस्य विवक्षायाञ्च षष्ठ्यां प्रयोगः फलानां तृप्तः। अर्थात् फलसम्बन्धितृप्तिः।

विमर्शः – षष्ठ्याः कारकत्वमकारकत्वं वेति विचारणायां सर्वप्रथमं किन्नाम कारकत्वमिति जिज्ञासायां निर्वर्त्तकत्वं निष्पादकत्वं जनकत्वं वा कारकत्वमिति निश्चयः। अर्थात् यत् किमपि निर्वर्त्तयति निष्पादयति जनयति तत् कारकम्। तच्च कारकं यं कार्यपदार्थं जनयति निर्वर्त्तयति वा स कार्यपदार्थस्त्रिविधः -

१. **द्रव्यम् –** 'घटं करोति' इत्यत्र कार्यपदार्थः घटः द्रव्यम्। अतोऽत्र द्रव्यरूपः कार्यपदार्थः।

२. **गुणः –** रज्जुं दृष्ट्वा रज्जुप्रतीतिः भवति। अत्र रज्जुं दृष्ट्वा समुत्पन्ना रज्जुप्रमा एकः गुणः। अतोऽयं गुणरूपः कार्यपदार्थः।

३. **क्रिया –** 'कार्यं करोति' इत्यत्र स्पष्टमेव क्रियारूपः कार्यपदार्थः।

सम्बन्धस्य त्रय आयामाः - क्रियाकारकयोः सम्बन्धेनैव एते त्रिविधा कार्यपदार्थाः जन्यन्ते। कयोरपि द्वयोः पदार्थयोः सम्बन्धस्य त्रय आयामाः भवन्ति। सर्वप्रथमं सामान्यसम्बन्धः स्थापितो भवति। ततो विशेषसम्बन्धः, ततश्च अतिविशेषसम्बन्धः। एकेन उदाहरणेन एतत् अवगच्छामः। तद्यथा – अन्धकारे पुरस्तात् आगच्छन्तं पुरुषं दृष्ट्वा सन्देहो जायते यत् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति किञ्चिदस्ति पुरस्तात्। अयं सम्बन्धस्य प्रथम आयामः। ततोऽयं मनुष्यशरीरी कश्चन्निति अवधार्य्यते। अयं सम्बन्धस्य द्वितीयः आयामः। किन्तु इदानीं यावदपि पुरस्तात् वर्तमानः मनुष्यः पुरुषो वा स्त्री वेति न निश्चयः। ततस्तत्प्रत्यासन्ने ज्ञायते यत् अयं पुरुषः। अयं सम्बन्धस्य तृतीय आयामः।

शिशुपालवधमहाकाव्ये नारदागमनवर्णनेऽपि सम्बन्धस्य त्रय आयामा इति नूनमेव द्रष्टुं शक्यन्ते। यथाह महाकविर्माघः –

'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद[27] **इत्यबोधि** सः।।'[28]

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णोऽम्बरादवतरन्तं नारदं दृष्ट्वा सर्वप्रथममयं कश्चन् तेजःपुञ्ज इव इत्यवधीरितवान्, अयं सामान्यबोधात्मकः प्रथम आयामः। ततः प्रत्यासन्ने शरीराकृतीनां प्रकटितत्वात् कश्चन् शरीरधारीति इत्यवधीरितं भगवता, अयं विशेषसम्बन्धात्मको द्वितीय आयामः। ततश्च मुखादीनामङ्गानां विविच्य बोधे सति तं व्यक्तिविशेषं नारदमबोधीत्ययमतिविशेषसम्बन्धात्मकस्तृतीय आयामः।

क्रियाकारकसम्बन्धस्य त्रय आयामाः - यथाहि सम्बन्धस्य त्रय आयामाः भवन्तीति प्रदर्शितम्, तथैव क्रियाकारकसम्बन्धस्यापि त्रय आयामाः वर्त्तन्ते –

१. सामान्यसम्बन्धः
२. विशेषसम्बन्धः
३. अतिविशेषसम्बन्धः

'श्रीरामः बाणेन लङ्कायां रावणं हन्ति' इति वाक्येन क्रियाकारकसम्बन्धस्य त्रीन् आयामान् पश्यामः। अत्र सर्वप्रथमं श्रीरामः, बाणः, रावणः, लङ्का, हन्ति आदीनां पदार्थानां परस्परं **सामान्यसम्बन्धः** स्थापितो भवति यत् एते हननक्रियायां समवेतत्वात् परस्परं सम्बद्धा इत्ययं क्रियाकारकसम्बन्धस्य प्रथम आयामः अर्थात् सामान्यसम्बन्धः।

एतदनन्तरं द्वितीये आयामे श्रीरामः, बाणः, रावणः, हन्ति आदिषु पदार्थेषु अयं **विशेषसमबन्धः** स्थापितो भवति यत् हननम् इति कार्यपदार्थः, अथ च श्रीरामः, बाणः, रावणः, लङ्का इत्येते हननकार्यपदार्थस्य निर्वर्तकाः, जनकाः। अर्थात् एते परस्परं जन्यजनकभावेनसम्बद्धाः, अयं क्रियाकारकसम्बन्धस्य द्वितीय आयामः अर्थात् विशेषसम्बन्धः।

इदानीं विचारणीयं वर्तते यत् हननकार्यजनकत्वं तु श्रीरामः, बाणः, रावणः, लङ्का सर्वेषु अस्ति। अर्थात् श्रीरामोऽपि हननकार्यपदार्थस्य जनकः, बाणोऽपि हननकार्यपदार्थस्य जनकः, रावणोऽपि हननकार्यपदार्थस्य जनकः, लङ्कापि हननकार्यपदार्थस्य जनकभूता। अर्थात् सर्वेष्वपि क्रियाजनकत्वं तु अस्ति, किन्तु श्रीरामः, बाणः, रावणः, लङ्का केन केन प्रकारेण हननक्रियां जनयन्ति, कस्य का भूमिका इति इदानीमपि न ज्ञायते।

इदानीं क्रियाकारकसम्बन्धस्य तृतीये आयामे श्रीरामः, बाणः, रावणः, हन्ति आदिषु पदार्थेषु अयं **अतिविशेषसमबन्धः** स्थापितो भवति यत् 'हननम्' इति कार्यपदार्थः, तत्र च 'श्रीरामः' कर्तृत्वेन हननक्रियाजनकः, 'बाणः' करणत्वेन हननक्रियाजनकः, 'रावणः' कर्मत्वेन हननक्रियाजनकः, 'लङ्का' अधिकरणत्वेन हननक्रियाजनकः। अर्थात् –

- प्रथमे आयामे श्रीरामः, बाणः, रावणः, लङ्का, हन्ति आदीनां पदार्थानां परस्परं **सामान्यसम्बन्धः** स्थापितो भवति यत् एते हननक्रियायां समवेतत्वात् परस्परं सम्बद्धाः।
- एतदनन्तरं द्वितीये आयामे च श्रीरामः, बाणः, रावणः, हन्ति आदिषु क्रियाकारकेषु पदार्थेषु जन्यजनकरूपेण **विशेषसमबन्धः** स्थापितो भवति।
- तृतीये आयामे च कर्तृत्व-कर्मत्व-करणत्वादिरूपेण क्रियाकारकेषु **अतिविशेषसम्बन्धः** स्थापितो भवति।

अवधेयं वर्त्तते यत् तृतीय-आयामस्य अतिविशेषसम्बन्धाः एव कारकसम्बन्धाः। ते च कारकसम्बन्धाः षड् विधाः। तेषु कारकविभक्तय उक्ताः।

अस्याम् अवस्थायां **'षष्ठी शेषे'** सूत्रं कथयति यत् – कारकसम्बन्धेषु (अतिविशेषसम्बन्धेषु) तु पृथक्-पृथक् विभक्तय उक्ता एव। ताभ्यः ये शेषाः, अर्थात् प्रथम-आयामस्य **सामान्यसम्बन्धाः**, द्वितीय-आयामस्य च **विशेषसम्बन्धाः एते एव "कारकेतरसम्बन्धाः"** एतेषु कारकेतरसम्बन्धेषु षष्ठी स्यात्।

वस्तुतः हननक्रियायां, श्रीरामरावणादिषु च कारकेषु क्रियाकारकसम्बन्धस्य य आयामः वक्त्रा विवक्ष्यते तदनुसारं विभक्तिर्भवति। **अर्थात् प्रथम-आयामस्य सम्बन्धः विवक्ष्यते चेत् – श्रीरामः रावणस्य हन्ति।** एतादृशा अपि प्रयोगाः साहित्ये उपलभ्यन्ते।

जन्यजनकरूपः विशेषसम्बन्धः विवक्ष्यते चेत - श्रीरामः रावणस्य हन्ति। यद्यपि अत्रापि पूर्ववदेव षष्ठी, किन्तु अयं षष्ठीविभक्तेः विशेषसम्बन्धबोधकः भिन्नः द्वितीयः अर्थः। **यथाह भाष्यकारः - एकशतं षष्ठ्यर्थाः यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति।**[29]

क्रियाकारकयोः कर्तृत्व-कर्मत्वादिबोधकः अतिविशेषसम्बन्धः विवक्ष्यते चेत् – श्रीरामः रावणस्य हन्ती त्येवं कारकविभक्तिप्रयोगाः भवन्त्येव।

सन्दर्भाः –

[1] अष्टा. - २/३/५०

[2] म. भा.- २/३/५०

[3] अष्टा.- १/४/२३-५५

[4] एवं तर्हि सामान्यभूता क्रिया वर्त्तते, तस्या: निर्वर्तकं कारकम् अथवा यावद्ब्रूयात् क्रियायामिति तावत् कारके इति। म.भा.- १/४/२३

[5] का. - २/३/५०

[6] वा. प.- ३/७/१५६

[7] एवञ्च मातुः स्मरति, न भाषाणामश्रीयात्, अनुकरोति भगवतो नारायणस्य इत्यादौ श्रूयमाणेऽपि क्रियाशब्दे मातृसम्बद्धस्मरणमिति सम्बन्ध मात्रं विवक्षितम्। कर्मत्वं तु सदप्यविवक्षितमिति षष्ठी भवति। का.प.म. २/३/५०

[8] 'षष्ठी शेषे' इति चेत् विशेष्यस्य प्रतिषेधः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः षष्ठ्यर्थः, स च द्विष्ठः। का.प.म. २/३/५०

[9] राज्ञ इति केवलपदमुच्चार्यमाणे सम्बन्धित्वमनियतप्रतियोगिकमवगम्यते, पुरुषपदसन्निधौ तु सविशेषस्य प्रतीतिरित्येतावत्। ततश्चानियतं स्वमपेक्ष्य प्रथममेव सम्बन्धाश्रया षष्ठीर्भवति। का.प.म. २/३/५०

[10] का. च. - पृ. - ४५

[11] श. श. प्र. - पृ.-६७

[12] क्रियाकारकपूर्वकः इत्यनेन कारकत्वं व्याचष्टे । तथाहि राज्ञः पुरुषो, वृक्षस्य शाखा, पशोः पादः, पितुः पुत्रः इत्यादावश्रूयमाणक्रियाविषये स्वस्वामिभावावयवावयविभावजन्यजनकभावादौ सम्बन्धे ददातिस्थितिजन्यादिक्रियाप्रभाविते पूर्वभाविकारकत्वमुत्तरावस्थायामप्यनुगतमिति भवत्येव शेषः

कारकम् । राजा हि पुरुषाय ददाति यतस्ततो राज्ञः पुरुष इति । स्वस्वामिभावोऽवतिष्ठति । तत्र क्रियाकारकसम्बन्धः कारणभूतः शेषसम्बन्धस्तु फलभूतः । क्रियाकारकसम्बन्धो हि वृत्तः स्वाश्रये सैषसम्बन्धफलं निवेश्योपरमते । तत्र पूर्वं कर्तृसम्प्रदानरूपौ राजपुरुषावभूताम् । शेषसम्बन्धकाले तु कर्त्रादिविशेषरूपतानवगम इति तच्छेषभूतं सामान्यं कारकमवतिष्ठते । करणादिसाधनभेदोपाख्यनिमित्ताभावात् । कारकेभ्योऽन्यः कारकाणामविवक्षा शेषः । वा.प. प्र. प्र. -३/७/१५६

13 श्रूयमाणक्रियाविषयस्तु सम्बन्धः कारकभेद एव । अविवक्षितकर्मादिविशेषः सम्बन्धसामान्यस्वभावः क्रियाकारकसम्बन्ध एव स इति न तत्पूर्वकः । तद्यथा नटस्य श्रृणोतीत्यादि । करणादिसंज्ञानां निमित्तापवादप्रवृत्तेः । बुद्ध्यादिपरिगणनाच्चाकथितकर्मत्वाभावात् । कारकेभ्योऽन्योऽयं शेषः कारक एव । वा.प. प्र. प्र. - ३/७/१५६

14 इदानीं षष्ठ्यर्थः सप्तमः कारकभेदो विचार्यते । स च शेषलक्षणसम्बन्धः । तस्य कथं कारकभेदत्वं कथं च शेषत्वमित्येतदुपपादयितुमाह । वा.प. प्र. प्र. - ३/७/१५६

15 वा. पा. - ३/७/१५६

16 राज्ञ इति केवलपदमुच्चार्यमाणे सम्बन्धित्वमनियतप्रतियोगिकमवगम्यते, पुरुषपदसन्निधौ तु सविशेषस्य प्रतीतिरित्येतावत् । ततश्चानियतं स्वमपेक्ष्य प्रथममेव सम्बन्धाश्रया षष्ठीर्भवति । का.प.म. २/३/५०

17 वा.प.-३/७/१५७

18 यदा तु पुरुषस्याप्राधान्यं राज्ञश्च प्राधान्यं विवक्ष्यते, तदैकस्यापि वस्तुनो भिन्नविषयो गुणप्रधानभावो न विरुद्ध्यत इति द्वाभ्यामपि षष्ठी भविष्यति । राज्ञ इति हि षष्ठ्या राजपुरुषयोरेव सम्बन्धोऽभिहितः, न पुरुषस्य गृहस्य च । न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियेते, विद्यमान एवार्थः प्रतिपादयिषितश्च वाचकप्रयोगे हेतुर्भवति । तत्र गुणस्य परोपकारत्वेन विवक्षितत्वात् तदन्ते षष्ठी भवति । पुरुषस्य तु कार्यत्वात् स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा भवति । तत्र च सम्बन्धो गुणे पदं निधाय प्रधानमपि स्पृशति । गुणश्च प्रधानोपकाराय प्रवृत्तोऽन्यथानुपपत्तेः रूपान्तरमाश्रयति । प्रधानञ्च स्वनिष्ठत्वेन रुपान्तरं भजति । का.प.म.-२/३/५०

19 ननु सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् पुरुषशब्दादपि षष्ठ्युत्पत्तिरस्त्विति चेत्, न। राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां राजशब्दादेव षष्ठी, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् इति व्युत्पत्यनुरोधात् । अन्यथा तद्विवक्षायां राजा पुरुषस्येति पुरुषशब्दात् षष्ठ्यां पुरुषार्थं प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वापत्या व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । (प.ल.म.-पृ.-९१)

20 ननु सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् पुरुषशब्दादपि षष्ठ्युत्पत्तिरस्त्विति चेत्, न। राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां राजशब्दादेव षष्ठी, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् इति व्युत्पत्यनुरोधात् ।

21 अन्यथा तद्विवक्षायां राजा पुरुषस्येति पुरुषशब्दात् षष्ठ्यां पुरुषार्थं प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वापत्या व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । (प.ल.म.-पृ.-९१)

22 यथैव तर्हि राजनि स्वकृतं स्वामित्वं तत्र षष्ठ्येव पुरुषेऽपि स्वामिकृतं स्वत्वं तत्र षष्ठी प्राप्नोति । राजन्शब्दादुत्पाद्यमानया षष्ठ्याभिहितिः सोऽर्थ इति कृत्वा पुरुषशब्दात्षष्ठी न भविष्यति । म.भा.-२/३/५०

23 द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वात् गुणेषु व्यतिरिच्यते। तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ।

24 तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात्षष्ठी भवति। पुरुषस्य तूपकार्यतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात्प्रथमा । म.भा.प्र. - २/३/५०।

25 वैयाकरणभूषणसारः ।

26 सतोऽप्यविवक्षा भवति तद्यथा 'अलोमिका एडका', 'अनुदरा कन्येति' असतश्च विवक्षा भवति तद्यथा- 'समुद्रः कुण्डिका', विन्ध्यो वर्धितकम् । म.भा.- २/२/५०

27 नारद इत्यबोधि अर्थात् नारदं बुद्धवान्। अत्र नारदस्य कर्मत्वेऽपि ‘इति’निपातशब्देन अभिहितत्वान्न द्वितीया। यथाह आचार्यवामनः – ‘निपातेनाभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। सर्वङ्कषा – शि. व. - ३.१।

28 शि. व. - ३.१।

29 म.भा. – १.१.४९

वेदों में गो-महिमा

• प्रो. प्रयागनारायण मिश्र

शोधसार - शब्द-प्रधान वेदों में बहुधा वर्णित विविध-वैभवोपेत यह जगदात्मस्वरूप सूर्य तथा जगदाधार पृथिवी दोनों परम हित-साधक गो शब्द से भी प्रोक्त हैं। गच्छतीति गो इत्यादिरूप में किया गया यास्कीय निर्वचन गो के विविध अर्थ करते हुए सूर्य तथा पृथिवी के साथ सूर्य की किरण को भी गो कहता है।[१] पशुनामधेय के रूप में भी लोकसञ्ज्ञान को भाँति यास्क गो-पद का ग्रहण करते हैं। वेदों के इस परम रहस्य के विषय में चिन्तन करने पर विदित होता है कि ज्योति, आयु और गो की सञ्ज्ञा से अभिहित की जाने वाली त्रिविध सूर्यकिरणों स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियों में यथासम्भव न्यूनाधिक्य रूप में प्रविष्ट होती हैं। इनमें सूर्य की गो- सञ्ज्ञक किरण गो-सञ्ज्ञक पशु में सर्वाधिक मात्रा में प्रविष्ट अथवा समाविष्ट होती है, सम्भवतः इसी लिए इसे गो के नाम से अभिहित किया जाता है

बीजशब्द- संस्कृति, सूर्य, पृथिवी, व्यवहुत मही, विश्वायुः, रोहयैनम्, बृहस्पतिः

भारतीय धर्म और संस्कृति की चिरन्तन शाश्वत परम्परा में सर्व-ज्ञानमय वेदों की महिमा सर्वविदित है। अखिल ब्रह्माण्ड के आद्य ज्ञान कोश के रूप में प्रतिष्ठित वेद ही अखिल धर्म के मूल होने के कारण परम श्रेयस् के अधिष्ठाता हैं। सार्वभौम संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट शेवधि के रूप में विश्वविश्रुत वेद तथा वैदिक धर्म ही जगत्कल्याण का एक मात्र साधन हैं। सम्पूर्ण चराचर-स्थावर जड़-जङ्गम पदार्थों की स्थूल सत्ता का सम्बन्ध जिस पृथिवी से सर्वथा सिद्ध है, उस पृथिवी को आज का वैज्ञानिक सूर्य अंशमात्र मानकर जब सूर्य की अनन्त सर्वाधिष्ठान-शक्ति तथा अपरिचित ऊर्जस्थिता की कल्पना करता है तो **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**[२] के रूप में प्रोक्त ऋग्वेदीय विराट् सूर्य मानों सम्पूर्ण जगत् के रहस्य को आत्मसात किये हुए भौतिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रतिमान बनकर लोगों को परावैज्ञानिक चिन्तन की ओर उन्मुख करता है। पृथिवी का महत्त्व-स्वरूप तथा लोकाश्रयत्व भी सूर्य की

* आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ही भाँति विविध वैज्ञानिक पुष्टियों के साथ **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'**[३] इत्यादि रूप में वैदिक पृथिवी सूक्त में विस्तरतया प्रोक्त है।

शब्द-प्रधान वेदों में बहुधा वर्णित विविध-वैभवोपेत यह जगदात्मस्वरूप सूर्य तथा जगदाधार पृथिवी दोनों परम हित-साधक गो शब्द से भी प्रोक्त हैं। गच्छतीति गो इत्यादिरूप में किया गया यास्कीय निर्वचन गो के विविध अर्थ करते हुए सूर्य तथा पृथिवी के साथ सूर्य की किरण को भी गो कहता है।[४] पशुनामधेय के रूप में भी लोकसञ्ज्ञान को भाँति यास्क गो-पद का ग्रहण करते हैं। वेदों के इस परम रहस्य के विषय में चिन्तन करने पर विदित होता है कि ज्योति, आयु और गो की सञ्ज्ञा से अभिहित की जाने वाली त्रिविध सूर्यकिरणों स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियों में यथासम्भव न्यूनाधिक्य रूप में प्रविष्ट होती हैं। इनमें सूर्य की गो- सञ्ज्ञक किरण गो-सञ्ज्ञक पशु में सर्वाधिक मात्रा में प्रविष्ट अथवा समाविष्ट होती है, सम्भवतः इसी लिए इसे गो के नाम से अभिहित किया जाता है।[५]

धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर यह पृथिवी गो-नामक सूर्य-किरण की स्थावर-मूर्ति है तथा यह गो- सञ्ज्ञक पशु उसी सूर्य-रश्मि की जङ्गम- मूर्ति है, इसीलिए दोनों को गो शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि यह दोनों ही अनन्दगुण सम्पन्न भगवान् विराट् के स्वरूप हैं।

सर्वविदित है कि पृथिवी तथा सूर्य के विशद्-व्यापक-अनन्त तथा अपरिमित स्वरूप एवं महत्त्व का अप्रतिम प्रचोदन वैदिक मन्त्रसंहिताओं तथा वैदिक वाङ्मय निर्विवाद दृष्टव्य है। रही बात गो-नामधारी पशु-विशेष की तो वह भी सर्वथा निरपवाद स्वरूप को धारण करके वैदिक वाङ्मय में भूरिशः गरिमा मण्डित है। शुक्ल यजुर्वेद में **'कस्य मात्रा न विद्यते'**[६] कहकर जो प्रश्न किया गया है, उसके उत्तर में प्रोक्त मन्त्रांश **'गोस्तु मात्रा न विद्यते'**[७] स्पष्ट रूप से गाय के विराट् स्वरूप का सङ्कीर्तन करता है। पृथिवी की ही भाँति गो के लिए **व्यवहुत मही** शब्द भी गाय के विराट् स्वरूप का द्योतन करता है। ऋग्वेद में गाय को एकादश रुद्रों की माता, अष्टवसुओं की कन्या, द्वादश आदित्यों की बहन तथा घृत रूप अमृत का स्रोत बताकर अदिति के रूप में पृथिवी का स्वरूप स्वीकृत किया गया है, इससे इसका महत्त्व स्पष्ट है-

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ।।[८]

गृह्यसूत्रों तथा ब्राहमण ग्रन्थों में यत्र-तत्र गवा-लम्भन का मिथ्याभ्रम उत्पन्न करके कतिपय वेद-निन्दकों ने जो प्रवाद फैलाया है उसका स्पष्ट निषेध उपर्युक्त मन्त्र में 'अनागां गां मा वशिष्ट' कहकर यदि ऋत्रवेद में किया जा रहा है तो भला वेद-परिशिष्ट ब्राह्मण तथा वेदाङ्ग ऐसा कैसे कर सकते हैं। गाय का अघ्न्या विशेषण इसका परम प्रमाण है। जैसा कि शुक्लयजुर्वेद के प्रथम मन्त्र से ही स्पष्ट है-

देवो वः सविता प्राप्यतु श्रेष्ठतमाय कर्मणा आप्यायध्वमघ्न्या
इन्द्राय भागं ....माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात्।[९]

वेदों में प्रोक्त यज्ञरूपो श्रेष्ठतम कर्म-हेतु ग्राह्य उपर्युक्त गाय यज्ञ सम्बन्धी समस्त ऋत्वजों तथा यजमानों के साथ सभी को आयु को बढ़ाने वाली, समस्त यज्ञीय कार्यों का सम्पादन करने वाली तथा समस्त देवताओं तक का पोषण करने वाली है-

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्व धायाः [१०]

अर्थववेद में तो चतुर्थकाण्डस्थ इक्कीसवें सूक्त को गो- सूक्त के रूप में आर्ष ब्रह्मा द्वारा गायों को भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का प्रधान साधन माना गया है। लौकिक अथवा भौतिक दृष्टि से गो-सूक्त का अधोलिखित मन्त्र सार्थ द्रष्टव्य है-

यूयं गावो मेदयवा कुशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ।[११]

अर्थात् हे गो माता आप कृश-शरीर वाले व्यक्ति को हृष्ट-पुष्ट कर देती हो, तेजो-हीन व्यक्ति को सुन्दर तथा तेजस्वी बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दों से हमारे घरों को भी मङ्गलमय बना देती हो, इसी लिए सभाओं में आपके यशोगान का स्वर गूँजता रहता है।

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के चौदहवें सूक्त में मन्त्र-षटक् के माध्यम से गोशाला का वर्णन गायों के महत्त्व को और भी उत्कृर्ष प्रदान करता है क्योंकि इसमें अर्यमा-पूषा-बृहस्पति तथा इन्द्र आदि देवों से गायों को पुष्ट करने की प्रार्थना की गयी है जिससे सभी पुष्टि को प्राप्त करते हैं।

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु ।।[१२]

गायों की इसी अप्रतिम महत्त्व के कारण अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखाओं में वर्णित गृहमहिमा सूक्त में 'उपहूता इह गावः' कहकर गायों की कामना की गयी है। वहीं अथर्ववेदीय गृहसूक्त में घर को बहुदुग्धा गायों से विलसित बताया नाया है-

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।[१३]
इहैव ध्रुवा............ गोमती सुनृतवती ।
आ त्वा वत्सो........आ धेनवः सायमस्पन्दमानाः॥[१४]
गोभ्यो ....यच्छालायां विजायते ॥[१५]

इस प्रकार गायों का भौतिक महत्त्व अलौकिक वेदों से यत्र-तत्र- सर्वत्र अनुस्यूत है। आध्यात्मिक महत्त्व को दृष्टि से इससे बड़ा प्रमाण भला क्या हो सकता है कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर के परम धाम की सञ्ज्ञा ही गो-लोक है सम्भवतः इसी लिए वेदमन्त्र विष्णु के परम धाम में अनेक गो-समुदाय की सम्भावना व्यक्त करता है-

तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥[१६]

सम्भवतः इसी लिए अवर्ववेद में गायों को मृत्यु के बाद स्वर्गलोक में पहुँचाने वाली बताया गया है-

अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥[१७]

सूक्तिग्रन्थों में 'धनं च गोधनं प्राहुः' कहकर जिसे यथार्थ धन बताया गया है, वह गोधन ही है। महाभारत में 'गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युतं'[१८] कहकर गायों के परमधनत्व का प्रवचनकिया गया है। इसीलिए ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के साथ ही सामवेद भी अनेक प्रकार से गो समृद्धि को याचना का सन्देश देता है-

क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षु गोमन्तमी हे।[१९]

गायों के इसी सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सार्वनिष्ठ महार्हता के कारण ही श्रुतियों का अनुकीर्तन करने वाली स्मृतियों में भी गो-महत्त्व वर्णित है। अगस्त्य के अनुसार तो जिन सात-विभूतियों के कारण पृथिवी को धारण किया जाता है उसमें गाये सर्वप्रथम हैं-

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।।[२०]

महाभारत तथा वायुपुराण में **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत'**[२१] कहकर वेदोपबृंहण की परम्परा का सङ्केत किया गया है। इसी लिए वेदों में सूत्र शैली में निर्दिष्ट गो-तत्त्व-विवेक प्रधान तथा विविध पुराणों तथा महाभारत- रामायण आदि में भी विस्तर-तया वर्णित है। इसी लिए तो कालिदासादि महाकवियों के काव्यों में गो-सेवा-व्रत के सफल-प्रसङ्ग, सर्वजन ग्राह्य हैं। महाभारत में तो सदैव गायों के दर्शन-सेवन-नमन तथा सहवास के प्रति परम आस्था का वर्णन करके गायों के अनन्य सम्वन्ध तथा वैशिष्ट्य का प्रवचन है-

अतः परमकल्याण-स्वरूप स्वर्ग-सोपान-कल्प भूकल्पवृक्ष के रूप में सर्वथा प्रतिष्ठित विविध लौकिक तथा अलकिल वैभव-सुख-सम्पदा से मण्डित गो वैदिककाल से ही सर्वसिद्धि प्रदातृत्व तथा सर्वकामदोग्धृत्व के कारण सर्वथा पूज्य-पोषष्य तथा संरक्ष्य हैं। धार्मिक दष्टि से इसका इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि गोदान-हेतु ग्राह्य सुलक्षणा सवत्सा गाय के तत्तत् विविध अङ्गों में समस्त देवताओं ऋषियों, पितरों, नागों, किन्नरों-गन्धर्वों, नदियों-पर्वतों तथा पृथिवी अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग आदि का आह्वाहन करके उसे सम्पूर्ण ब्रह्माणु का मूर्त-स्वरूप प्रदान किया जाता है।[२२] इससे स्पष्ट है कि गाय भूलोकवासी अपने अनन्य उपासकों को गो-लोक-पर्यन्त अक्षुण्ण दिव्य-उपलब्धियों से समलङ्कृत करके अभीष्ट फल प्रदान करती है।

अतः साम्प्रतिक समाज में व्याप्त पशुहिंसा-विषयक विप्रतिपत्तियों का निराकरण करके गो-संरक्षण, गो-संवर्धन तथा धेनूपासन के परमार्थ सन्देश को वेदों में यत्र-तत्र-सर्वत्र अन्वेष्टित किया जाता

है। वैदिक काल को गवामयन-गोसव इत्यादि सत्रयागों का आनुष्ठानिक प्रयोग भले ही आदित्योपासना का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान माना जाता था परन्तु आज आवश्यकता है इन यागों की अन्वर्थ अन्य सञ्ज्ञाओं से उनके सामञ्जस्य तथा संयोगास्थापन की जिसके आधार पर साम्प्रतिक समाज में गो-रक्षा-महायज्ञ का सङ्कल्प लेकर ही वैदिक परम्पराओं को मूर्त रूप प्रदान किया जा सकता है। इससे न केवल गो नामधारी पशु-विशेष के समुद्धार की सुदृढ़ पृष्ठभूमि निर्मित होगी अपितु पशु-पक्षी-जीव-जन्तु-मनुष्य आदि प्राणिमात्र के प्रामाणिक परम कल्याण के साथ वेदोद्धार की परिकल्पना भी साकार हो सकेगी।

सन्दर्भ -

---

[१] निरुक्त १/५
[२] ऋग्वेद १/११५/१
[३] अथर्ववेद ९२.१.१२
[४] निरुक्त १/५
[५] कल्याण-वेदकथाङ्क पृ० ९३४
[६] शुक्लयजुर्वेद २३/४६
[७] तदेव २७/४८
[८] ऋग्वेद ८/१०/११५
[९] शुक्लयजुर्वेद १/१
[१०] तदेव १/४
[११] अथर्ववेद २१/४/४
[१२] तदेव ३/१४/२
[१३] तदेव ९/३/१६
[१४] तदेव ३/१२/२-३
[१५] तदेव ९/३/१३
[१६] ऋग्वेद १/१५४/६, शुक्लयजुर्वेद ६/३
[१७] अथर्ववेद १८/३/४, महाभारत अनुशासनपर्व ५१/३
[१८] महाभारत अनुशासनपर्व - ५१/२६
[१९] सामवेद उत्तरार्चिक ६८६
[२०] कर्मठगुरु- पृ० ११६
[२१] महाभारत आदिपर्व १/२६७-६८, वायुपुराण १/२०१
[२२] कर्मठगुरु पृ०११८ तथा कर्मकौमुदी पृ०१२-१३

भारतीय ज्ञान परम्परा के संवर्धन में वेदों की उपादेयता

• डॉ. अभिमन्यु सिंह

शोधसार – भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल श्रोत वेद हैं, जिनमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है। वैदिक कालीन शिक्षा प्रणाली नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक मूल्यों पर केन्द्रित रही है जिसमें विनम्रता, सत्यता, अनुशासन, आत्मनिर्भरता और सभी के प्रति सम्मान आदि मानवीय मूल्यों पर जोर दिया जाता रहा है। वेदों में विद्या को मनुष्ता की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया था, क्योंकि मनुष्य एवं राष्ट्र उत्थान की संकल्पना को अभिव्यक्त करने में वैदिक साहित्य जितना सक्षम है, उतना कोई भी साहित्य सक्षम नहीं है। वेदों में जिन मानवीय मूल्यों का उपदेश प्राप्त होता है, उन पदेशों से भारतीय ज्ञान परम्परा का सम्वर्धन होता है। संगच्छद्धवं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् इत्यादि जो उपदेश भारतीय ज्ञान परम्परा का सम्वर्धन करते हैं उन सभी उपदेशों को शोध पत्र में उपस्थापित करने का प्रयास किया जायेगा।

बीजशब्द : परम्परा, सम्वर्धन उत्थान, राष्ट्र, व्यवहार, उत्रृण, उच्छृखलता, सद्भाव, उपनयन, मूल्यपरक, संगठन।

भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल श्रोत वेद हैं जो अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा के प्रतीक हैं। इनमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है। ऋग्वेद के समय से ही शिक्षा प्रणाली जीवन के नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक मूल्यों पर केन्द्रित होकर विनम्रता, सत्यता, अनुशासन, आत्मनिर्भरता और सभी के प्रति सम्मान जैसे मानवीय मूल्यों पर जोर देती थी। वेदों में विद्या को मनुष्यता की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया

* सह आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

गया था, क्योंकि मनुष्य एवं राष्ट्र उत्थान की संकल्पना को अभिव्यक्त करने में वैदिक साहित्य जितना सक्षम है, उतना विश्व का कोई भी साहित्य सक्षम नहीं है। जीवन के उदात्त मानवीय मूल्यों के उपदेश वैदिक साहित्य में जगह-जगह देखने को मिलते हैं। जो भारतीय ज्ञान परम्परा को सम्वृद्ध करते हैं क्योंकि-

वेद समस्त मानव एवं प्राणियों का कल्याण करना चाहते हैं, इसीलिए माता-पिता-भाई-बहन, पति-पत्नी, भाई-भाई के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका उपदेश देते हैं-

'स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु[1]

अर्थात् माता-पिता के प्रति हमारा स्वस्तिमय सद्भाव एवं प्रशस्त आचरण होना चाहिए, जिससे वे अपने गृह में रहते हुए प्रत्यक्ष देव स्वरूप माता-पिता प्रसन्न रहे और हमें शुभाशीर्वाद देते रहे। हमें अपने माता-पिता की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु देव तुल्य उनकी सदैव सेवा करते रहना चाहिए। प्रमाद वश या उच्छृंखलतावश कभी भी उनके साथ कष्ट जनक अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए। वेद में दिया गया उपदेश मनुष्य को सदैव याद रखना चाहिए कि-

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौपितरौमया।।[2]

जब मैं छोटा बच्चा था उस समय जिस अत्यधिक स्नेहमयी माता का गोद में लेटकर अमृतमय दूध पीता था और अपने पैरों के आघात से पीड़ित करता था। अब मैं उनके लालन-पालन से बड़ा हो गया हूँ और मेरे माता-पिता वृद्ध और शक्ति रहित हो गये हैं। मैं उनसे उऋण होना चाहता हूँ। वे मेरे लिए अत्यधिक वन्दनीय हैं।

वेद इसी प्रकार का उपदेश परिवार के अन्य सभी सदश्यों को देते हुए कहते हैं कि-

अनुव्रतः पितुः पुत्रों मात्रा भवतु समना।
जाया पत्ये मधुमती वाचां वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसं।
सम्य´जः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रता।।[3]

पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करें, माता के प्रति अच्छा मन बना रहे, पत्नी भी अपने पति के प्रति मधुर, सुखमयी वाणी ही बोले तात्पर्य है कि द्वेष पूर्ण कटुवचन कदापि न बोले। भाई-भाई के प्रति भी दायभागादि से विद्वेष न करें तथा बहिन-बहिन के प्रति कभी भी द्वेष न करें इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य अच्छे मन वाले होकर अच्छा आचरण करते हुए कल्याणकारी वाणी बोलते हुए एक दूसरे का सम्मान करें। समभाव से रहने के लिए वेद में उपदेश दिया गया है कि-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिः हर्यत वत्सं जातमिवाहन्या।।[4]

मैं तुम सबको समान हृदय वाला बनाता हूँ, मैं तुम्हें सामनस्य का उपदेश देता हूँ कि तुम सब अपने मन को अच्छे संस्कारों, अच्दे विचारों, अच्छे संस्कारों से भर दो। वेमनस्य का निवारण करते हुए ऐसा सामंनस्य धारण करो जिससे सहृदय में प्रेम, सद्भाव, सरलता आदि गुणों का बोध रहे। जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े के प्रति अत्यन्त स्नेह करती है, वैसे ही तुम सब परस्पर (एक दूसरे के साथ) विशुद्ध स्नेह करते हुए जीवन निर्वाह करें।

पति-पत्नी विवाह के पश्चात् विवाद न करें अपितु एक दूसरे के प्रति समभाव से ओत-प्रोत रहे तभी एक दूसरे की कमियों की पूर्णाहुति की भावना रखे इसके लिए वेद का कथन है कि-

आयुष्मानस्तु मे पतिः[5]

अर्थात् पत्नी अपने पति के आयुष्मान होने की मन में कामना रखती है। इसी प्रकार पति पत्नी के प्रति यह भाव रखे-

पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्।[6]

पति-पत्नी दोनों का चित्त अनुकूल रहे इसके लिए पारस्करगृह्य सूत्र में कहा गया है कि-

मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।[7]

अर्थात् मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल और तेरा चित्त मेरे अनुकूल बना रहे यह जो वैदिक भाव है वह अत्यन्त मानवीय मूल्य परक है। जो भारतीय ज्ञान परम्परा के सम्वर्धन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

परिवार से जब बच्चे को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल भेजा जाता है उसी समय उपनयन और वेदारम्भ संस्कार के समय आचार्य शिष्य को जो मानवीय मूल्य परक उपदेश देते हैं। वह वेद में इस प्रकार है-

अभिवादनशीलस् नित्यं वृद्धोपसेग्निः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशों वलम्।। [8]

समावर्तन संस्कार के समय आचार्य द्वारा शिष्य को जो मूल्यपरक उपदेश दिया जता है वह इस प्रकार है कि-

ये के चास्मेच्छ्रेयासो ब्राह्मणः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्[9]

जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ घर पर पधारे उसको पाद्य, अध्र्य, आसन आदि प्रदान करके यथायोग्य सेवा करनी चाहिए जिससे सामाजिक सौहार्द बढ़ता है ऐसे सामाजिक सौहार्द सहित सौ वर्ष तक स्वस्थ रहते हुए जीने की कामना रखने के लिए वेद में कहा गया है कि-

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्टणुयाम शरदः शतं प्र।
ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।। [10]

हम सूर्य देव की सहायता से सौ वर्ष तक देखे सौ वष्र की आयु प्राप्त करें, सौ वर्ष तक कानों से सुने, सौ वर्ष तक उत्तम वाणी बोलें, सौ वर्ष तक दीनता रहित रहे और सौ वर्षों तक शरद ऋतुओं को पूर्ण करते हुए आनन्द पूर्वक रहे। यह जो विचार है वह मनुष्य को सीधे प्रकृति से जोड़ता है। जब हम पूर्ण रूप से स्वस्थ रहेंगे तभी हम आनन्द पूर्वक रहते हुए समाज व राष्ट्र के लिए कुछ करने में समर्थ होंगे। ऐसा सार्थक जीवन जीने की कामना रखनी चाहिए।

जीवन में मानवता का होना अत्यावश्यक है क्योंकि मनुष्यता के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। इसके लिए दुश्चरित-दुभावनादि रूपी पापों का निवारण आवश्यक है। इनके निवारण से ही मानव में अवस्थित सुप्त मानवता का विकास होगा। इसीलिए अपनी रक्षा हेतु पापों के निवारण के लिए वेदों में सर्व शक्तिमान परमात्मा से बार-बार प्रार्थना की जाती है कि-

श्रेष्ठो जातस्य रूद्रो श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि।। [11]

हे रूद्र देव ! आप विश्व में उत्पन्न समग्र अपरिमित ऐश्वर्य से श्रेष्ठ हैं, हे वज्रबाहो, आप हमें सभी मानवों के दुश्चरित रूपी पापों से, जो पशुता और दानवता के पोषक हैं उससे निवारण कर दें, पाप की दुर्भावनाओं आदि सभी कारणों से हमें मूल रूप से अलग कर दें।

इसी प्रकार की भावना से ओत-प्रोत होते हुए ऋग्वेद में पापों को मानव से अलग करने के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गयी है कि-

पदाशासा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वप्नः।
अग्निर्विश्वान्यय दृष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु।।[12]

मेरे द्वारा निराशा के समय, आशा को सफल बनाते समय, जाग्रत अवस्था और निद्रावस्था में, जानते हुए या नहीं जानते हुए जिस भी अवस्था में हमसे जो भी पापकर्म होते हैं, उन सभी कष्टकारी पाप कर्मों को हमसे दूर करें।

इस प्रकार वेद सम्पूर्ण मानव तथा प्राणियों का हित करना चाहते हैं इसीलिए उपदेश देते है कि कर्तव्य-पालन में कभी शिथिलता न बरतें। चाहें कर्तव्य व्यक्तिगत हो या समष्टिगत हो। यदि कत्र्तव्य दिव्यमन से शुचितापूर्ण सामुदायिक हो तो सर्वहितकारी कार्य बिना किसी बाधा के निश्चित रूप से पूर्ण हो सकते हैं। इस प्रकार की भावना से युक्त होकर अपने कत्र्तव्य का निर्वाह करने से तथा सोच समझ कर निर्णय लेने से सामाजिक संगठन मजबूत होता जिससे सभी कार्य सरलता से सम्पन्न होते हैं। वेद का कथन है कि- यह भाव वास्तव में भारतीय ज्ञान परम्परा को सम्वृद्ध करता है।

सां जानाम है मनसा सं चिकित्वा।
मा युष्महि मनसा दैव्येन।। [13]

हम मन से उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, ज्ञान प्राप्त करके एक मत से रहे, एक दूसरे से विरोध न करें, दिव्यमन से युक्त हों। ऐसे दिव्यमान से युक्त मनुष्य ही भारतीय ज्ञान परम्परा को आगे बढ़ा सकता है।

वैदिक ऋषियों के मतानुसार सामाजिक संगठन में एकत्रित होने की प्रबल भावना होनी चाहिए। मन और वाणी से एक साथ ही परमात्मा की उपासना करने की भावना होनी चाहिए, क्योंकि सामूहिक उपासना में सभी मनुष्य एक दूसरे से परस्पर जुड़े रहते हैं। जैसा कि कहा गया है कि-

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतन माविवासत् तंवतिनिरनु वावृतएकमित्पुरु।।[14]

आप सभी लोग एकत्रित होकर एक साथ उसका यशोगीत गाये जो परमात्मा दिव्य है, सर्वव्यापक है, पुराने और नये सबमें व्याप्त हैं। इस प्रकार संगठित रहना एक बहुत प्रेरणादायक मानवीय मूल्य हैं। जो सामाजिक संगठन को मजबूत करता है। जो भारतीय ज्ञान परम्परा का मूल मन्त्र है।

सामाजिक संगठन में केवल मिलकर चलना, मिलकर गाना ही नहीं होता, अपितु मिलकर रहना, मिलकर बोलना भी होता है। मिलकर चलो, मिलकर बोलो, ये सब संगठनीय लक्षण है। इसी का उपदेश वेद में व्याख्यायित करते हुए सार रूप में कहा गया है कि-

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानानां उपासते।।
समानो मन्त्रः समिति समानी।
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।। [15]

आप सभी मिलकर चले, आपस में मिलकर स्नेह पूर्वक वातालाप करें, समान विचार धारा वाले होकर ज्ञान अर्जित करें। जिस प्रकार प्राचीन काल में सज्जनों ने एक साथ मिलकर देवों की उपासना की थी उसी प्रकार एक मत होकर उपासना करें। सभी की प्रार्थना समान हो, पारस्परिक मिलना द्वेष भाव से रहित एक जैसा है। जिस प्रकार इन्द्र वरुण आदि देव धर्म एवं नीति की मर्यादा का पालन करते हुए अपने ही हविर्भाग को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार आप सभी लोग न्यायोचित भाग को ही स्वीकार करें। किसी अन्य के भाग को अन्याय से कदापि न ग्रहण करें। यह भारतीय ज्ञान परम्परा की महती भावना है।

क्योंकि अन्यायोपार्जित एवं अनीतिपूर्वक संगृहीता लक्ष्मी अकल्याणकारी (अभद्रा) पापिनी लक्ष्मी मानी जाती है। दोषपूर्ण रीति से कमायी गयी लक्ष्मी मानव समाज में सदैव संघर्ष ही कराती है। जो लक्ष्मी धर्म, नीति, एवं परिश्रम से उपार्जित की जाती है, जिसके कमाने में किसी प्रकार का

अत्याचार नहीं किया जाता वह कल्याणकारी (भद्रा) लक्ष्मी होती है। वह मनुष्य को सदैव सद्गति प्रदान करती है। इसलिए वेद में प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि-

या मा लक्ष्मीः पतयालूर जुष्टाभिचस्कन्द वन्दमेववृक्षम्
अन्यत्रास्मात्सविस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः [16]

जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है जिसका लोभ मनुष्य को नीति एवं धर्म से भ्रष्ट कर देता है शिष्ट मनुष्य ऐसी लक्ष्मी का सेवन कदापि नहीं करते क्योंकि वह दुराचारणी हैं जिस प्रकार वन्दना नाम की लता हरे -भरे पेड़ों का शोषण करती है उसी प्रकार वह मेरा शोषण करेगी। अतः हे सविता देव ! उस दोषपूर्ण लक्ष्मी को मेरे पास न आने दे। सुवर्ण के सदृश्य ज्योतिर्मय हाथ वाले सविता देव मुझे सुनीति, धर्म एवं परिश्रम द्वारा प्राप्त होने वाला ही धन प्रदान करें।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी पापमयी लक्ष्मी के निवारण के लिए और पूण्यमयी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्वक प्रार्थना की गयी है कि-

शिवा अस्म´यं जातवेदो नि यच्छ। [17]

हे परमेश्वर ! हमारे जीवन में कल्याणकारी लक्ष्मी ही प्रदान करना क्योंकि हमें अकल्याणकारी लक्ष्मी नहीं चाहिए।

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।[18]

पवित्र लक्ष्मी ही हमारे घरों में रहकर हमें सुखी बनाये और जो अभद्रा (अकल्याणकारी) लक्ष्मी है उसका पूर्णरूप से विनास हो जाय यही हमारे लिए कल्याणकारी है। मनुष्य में निहित इस प्रकार की भावना भारतीय ज्ञान परम्परा को बलिष्टता प्रदान करती है।

इस प्रकार की भावना से युक्त होकर अपने जीवन को मधुरता पूर्ण बनाने के लिए वेद में प्रार्थना की गयी है कि-

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।।[19]

मेरा निकलना मधुर हो, मेरा दूर जाना मधुर हो, मेरी वाणी मधुर हो जिससे हम समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेमास्पद बन सकें।

मानव जीवन को सफल बनाने में एक अच्छे और सच्चे मित्र की अत्यन्त महत्त्व पूर्ण भूमिका होती इसी लिए वेद में मित्र लाभ की प्रार्थना की गयी है कि-

दृत्रे दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषासमीक्षामहे।। [20]

हे भगवान ! आप मेरे दुर्गुणादि का नाश करके मुझे मैत्री की सद्भावना से युक्त कर दो। यह मेरा दृढ़ संकल्प है कि हमस ब मानव परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। हम सभी मानव एक दूसरे के

आत्मवत प्रिय बने रहे यह भारतीय ज्ञान परम्परा के आत्मसात् सर्वभूतेषु भाग को प्रबल बनाता है। इसीलिए इस प्रकार की प्रार्थनाएं अथर्व वेद में की गय है-

सर्व आशा मम मित्रं भवन्तु 21

अर्थात् समस्त दिशाओं में स्थित मानव आदि प्राणी मेरे मित्र बने रहें और मैं उनका मित्र बना रहूँ। कोई भी हमारे प्रति द्वेष भाव न करें। और हम भी किसी से द्वेष भाव न रखें। हम सभी आपस में हिलमिलकर रहें। इसके विपरीत रहने पर अशान्ति और दुःख होता है क्योंकि अशान्ति और दुःख का आविर्भाव विषमभाव ही है जबकि शान्ति और आनन्द का आविर्भाव समभाव है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य को समय-समय पर लौकिक व्यवहार में दृष्टिगोचर होता। कल्याण हेतु विषमभाव का त्याग अति आवश्यक है क्योंकि इसके रहने पर तो कल्याण सम्भव ही नहीं है। इसी लिए विषम भाव का विष के समान त्याग कर समभाव को अमृत के समान ग्रहण करने के लिए वेद में उपदेश दिया गया है कि-

समानी प्रणा सह वोदन्नभगसमाने।
याक्रे सहवो युनज्मि।।
समानी व आकृति समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। 22

सब मानवों की आकृति अर्थात् संकल्प, निश्चय व्यवहार समभाव वाले हो, सब मानवों के हृदय समान हो तथा सबका मन समान भाव वाला हो जिससे सबका कल्याण हो। इस प्रकार की भावना से संगठन दृढ़ होता है। ऐसी भावना सभी प्राणियों में होनी चाहिए तभी सभी में मानवीय मूल्यों का विकास होगा। जिससे भारतीय ज्ञान परम्परा का प्रभाव समाज में दृष्टिगोचर होगा

इस प्रकार वेदों में उल्लिखित उपदेशों को यदि मानव अपने जीवन में ग्रहण कर ले तो वृद्धों की समस्या, सम्पत्ति के बटवारे की समस्या, पति-पत्नी के बीच होने वाले झगड़े, आपसी विषमता की समस्या इत्यादि का समाधान हो जायेगा। जिसके प्रभाव से भारतीय ज्ञान परम्परा का पूर्ण रूप से सम्वर्धन होगा।

सन्दर्भ –

1 अथर्ववेद 01/31/04
2 शुक्ल यजुर्वेद 49/11
3 अथर्ववेद 03/30/2-3
4 अथर्ववेद, 19/30/01
5 पारस्करगृह्य सूत्र 01/06/12
6 पारस्करगृह्य सूत्र 01/08/19
7 पारस्करगृह्य सूत्र 01/08/08
8 मनुस्मृति 02/21

9 तैत्तरीय उपनिषद् 01/11
10 यजुर्वेद 36/24
11 ऋग्वेद 02/33/03
12 ऋग्वेद 10/64/03
13 अथर्ववेद 7/52/02
14 अथर्ववेद 07/21/01
15 ऋग्वेद 10/19/2-3
16 अथर्ववेद 7/115/02
17 अथर्ववेद 07/115/03
18 अथर्ववेद 07/115/04
19 ऋग्वेद 01/34/03
20 यजुर्वेद 36/18
21 अथर्ववेद 19/15/06
22 ऋग्वेद 10/191/04

भर्तृहरि प्रतिपादित 'एक-अनवयवशब्द-वाक्य' का विश्लेषण

• डॉ. सत्यकेतु

शोधसार- भर्तृहरि का 'एक-अनवयवशब्द-वाक्य' सिद्धांत वाक्य को अविभाज्य इकाई मानता है, जो 'स्फोट' के रूप में अर्थ व्यक्त करता है। सखण्डपक्ष (पदवादी) के विपरीत, जो वाक्य को शब्दों और उनके अर्थों का समूह मानते हैं, अखण्डपक्ष (वाक्यवादी) वाक्य को एक स्वतंत्र, अखण्ड इकाई मानता है। भर्तृहरि के अनुसार, पद और पदार्थ काल्पनिक हैं, केवल शास्त्रीय विश्लेषण के लिए स्वीकृत। वाक्यार्थ बुद्धि में अविभाज्य रूप में रहता है, और शब्दभावना से प्रेरित स्फोट इसका आधार है। उदाहरणों (नृसिंह, चित्र) से वे सिद्ध करते हैं कि वाक्य के पद उपाय मात्र हैं। इस मत की आलोचना धर्मकीर्ति आदि ने की, जिसका समाधान मण्डनमिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' में किया।

बीजशब्द- सखण्डपक्ष, अखण्डपक्ष, एक अनवयव शब्द, वाक्य, वाक्यार्थ , शब्दभावना।

सखण्डपक्ष तथा अखण्डपक्ष का आधारभूत प्रश्न यह है कि भाषाव्यवहार के समय अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाली इकाई कौनसी है। सखण्डपक्ष (पदवादियों) की मान्यता यह है कि वाक्यसंरचना में पृथक्-पृथक् शब्द एवं शब्दार्थ पहले से ही उपस्थित होते हैं। वाक्य की रचना के बाद शब्द वाक्य का अंग एवं शब्दार्थ वाक्यार्थ का अंग माना जाता है। अत एव वाक्य खण्डों से निर्मित होता है। वे 'पदप्रकृतिः' को बहुव्रीहिसमास (पदानि एव प्रकृतिः यस्याः सा संहिता) में घटित करके अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। यद्यपि पदसंघात के रूप में वाक्य की सत्ता है तथापि उनके अनुसार अर्थबोधकता वाक्य में न होकर, पदों में होती है और वाक्यार्थ वाक्यजन्य न होकर पदजन्य अर्थों का समूहमात्र है। चूंकि व्यवहार में सम्प्रेषण के समय वर्णों एवं पदों तथा उनके अर्थों का अवधारण होना एक सार्वजनीन अनुभव है अतः वाक्य की अखण्डता को मानने में कोई प्रमाण एवं तर्क नहीं है। बृहद्देवता में भी

* सह-आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सखण्ड पक्ष को स्वीकार किया गया है।[1] शाबरभाष्य में भी पदों के स्वतन्त्र अस्तित्व एवं वाक्यार्थ में उनकी साधनता वर्णित है।

अखण्डपक्ष (वाक्यवादियों) की अवधारणा के अनुसार भाषाव्यवहार में सम्पूर्ण अर्थ देने वाली इकाई वाक्य है। वक्ता की बुद्धि में तथ्य अथवा कल्पना के रूप में कोई भी विचार एक इकाई के स्वरूप में उपस्थित होता है और इसकी अभिव्यञ्जना भी एक इकाई के रूप में ही होती है। यह अखण्ड इकाई ही वाक्य है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रोता को इसका अवगम भी एक इकाई के रूप में ही होता है। साधारणतया भाषिक व्यवहार की अनिवार्यता यह है कि उसे सम्पन्न करने हेतु ध्वनियों का उच्चारण करना होता है। जिनका उच्चारण क्रमशः ही किया जा सकता है। अतः ध्वनियों की क्रमवत्ता जो वर्ण या पद के रूप में प्रत्यक्ष होती है, वाक्य पर आरोपित हो जाती है।[2] अन्यथा वाक्य के अन्तर्गत प्रतीयमान वर्ण या पद उसी प्रकार नितान्त असत् हैं जिस प्रकार 'ए', 'ऐ' आदि वर्णों में कल्पित 'अ', 'इ', 'ए' आदि वर्णभाग।[3] वैयाकरणों ने केवल शास्त्रीय व्यवहार की सिद्धि हेतु वाक्य से पदों का अपोद्धार स्वीकार किया है। क्योंकि पदों का स्वरूप तथा अर्थ दोनों अनिश्चित और सन्दिग्ध होते हैं अतः ये स्वतन्त्ररूप से व्यवहार के योग्य भी नहीं होते।[4] परिणामस्वरूप असत्य पदों से वाक्यार्थ की संरचना भी सम्पन्न नहीं हो सकती। वाक्यवादी आचार्य 'पदप्रकृतिः' में (पदानां प्रकृतिः संहिता) तत्पुरुषसमास को घटित कर संहिता (वाक्य) को ही पदों का कारण मानते हैं। स्वाभाविकरूप से वाक्य का विभाजन सम्भव ही नहीं हैं। क्योंकि विभाजन की योग्यता केवल ध्वनियों में है जो वैचारिक स्तर पर स्थित वाक्य की अभिव्यञ्जक या प्रकाशकमात्र हैं। वस्तुतः वाक्य, उच्चारणक्रिया से पूर्व वक्ता की बुद्धि में एवं बाद में श्रोता की बुद्धि में अखण्डरूपेण अवस्थित रहता है। यही अखण्डवाक्य एवं अखण्डवाक्यार्थ का एकमात्र कारण है।

भर्तृहरि अखण्डवाक्यार्थ का स्वरूप प्रतिभात्मक मानते हैं जिसका कारण व्यक्ति की अन्तर्निहित शब्दभावना होती है। इस अन्तर्निहित शब्दभावना की चर्चा ब्रह्मकाण्ड में विस्तार से की गयी है। जहाँ बताया गया है कि जिस बालक को शब्दोच्चारण की शिक्षा नहीं मिली, उसका शब्दोच्चारण के लिये प्राथमिक प्रयत्न, प्राणवायु को ऊपर की ओर प्रेरित करना तथा उस वायु का लौटकर वर्णोच्चारण के लिए ताल्वादि तत्तत् स्थानों पर आघात करना, जन्मान्तरीय शब्दभावना के विना सम्भव नहीं है।[5] यह शब्दभावना अनादि है। यह प्रत्येक पुरुष की बुद्धि में ज्ञानबीज के रूप में विद्यमान रहती है। इसे किसी भी प्रकार पौरुषेय-पुरुषप्रयत्नजन्य नहीं कहा जा सकता है। अनादि शब्द से ही इसकी अपौरुषेयता समझनी चाहिये। बालक के करणविन्यासादि उपदेशसाध्य न होकर प्रतिभागम्य ही होते हैं। यद्यपि वृद्ध

के द्वारा 'अपनी जिह्वा के अग्रभाग या उपाग्र को ताल्वादि स्थानों की ओर व्यापृत करो' ऐसा उपदेश किया जाता है, तथापि ये उपदेश के शब्द केवल बालक की प्रतिभा का उद्घाटन करते हैं। क्योंकि इन उपदेश शब्दों से बालक का कोई सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है। इसी आशय को वाक्यकाण्ड में प्रतिभावाक्यार्थ की सिद्धि करते हुए भी बताया गया है कि-

साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा। इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्त्तते ॥[6]

अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चरित प्रत्यक्षशब्द से जनित अथवा जन्मान्तरीय शब्दभावना के अनुगम से जन्य प्रतिभा को कोई भी व्यक्ति व्यवहार के अवसर पर भूल नहीं सकता। यह आन्तर शब्दभावना की उपज्ञा[7] (किसी विषयविशेष में किसी मत को सर्वप्रथम उपस्थापित करने को उपज्ञा कहा जाता है) ही भर्तृहरि को वैयाकरण दार्शनिकों में मूर्द्धन्य एवं अन्य समकालीन दार्शनिकों की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञानिक चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठापित करती है।

ब्रह्मकाण्ड में स्फोटात्मक शब्द का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ बताया गया है कि 'गौः' इत्यादि शब्दों में गकार, औकार तथा विसर्जनीय शब्द नहीं अपितु इन ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त 'स्फोट' ही अर्थ का वाचक है। अतः स्फोट ही वास्तविक शब्द है ध्वनियाँ नहीं। इस प्रकार शब्द का कुछ सामान्य प्रतिपादन करने के उपरान्त वाक्यपदीय के द्वितीयकाण्ड में वाक्य की स्वरूपविषयक चर्चा मुख्य रूप से की गयी है। प्रथमकाण्ड में जहाँ प्रतिपक्ष का अभाव सा दृष्टिगोचर होता है, वहीं इसके विपरीत वाक्यकाण्ड में शास्त्रार्थ का माहौल है। जो कोई पद तथा उसके अर्थ को सत्य मानता है वह भर्तृहरि का विरोधी है।[8] वाक्यकाण्ड का प्रारम्भ ही वाक्यविषयक विविध विद्वानों के आठ प्रतिनिधि मतों को उपस्थापित करते हुए किया गया है। वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज के अनुसार द्वितीयकाण्ड में वाचकत्व से युक्त वाक्य के स्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है[9]-

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्त्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥[10]

एक अनवयवशब्द को वाक्य सिद्ध करने वाला मत स्वयं भर्तृहरि को अभिप्रेत है।[11] यद्यपि भर्तृहरि ने ऐसा कहीं नहीं कहा है कि समस्त आठ लक्षणों में से उन्हें कौन-कौन-से अभीष्ट हैं तथा कौन-से अनभीष्ट हैं। वे तो सामान्यरूप से अखण्डवाक्य पक्ष को वैयाकरणों का पक्ष मानकर खण्डपक्ष का खण्डन करते हैं। यह तो वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज के अपूर्व विश्लेषण के फलस्वरूप ही हमें ज्ञात होता है कि यह पक्ष भर्तृहरि को अभिप्रेत है।[12] इससे पूर्व बाह्यपक्ष के अन्तर्गत जातिवादियों

का मत अखण्डजातिस्फोट वाक्य (संघातवर्तिनीजाति) के माध्यम से प्रस्तुत किया जा चुका है। अब बाह्यपक्ष के अन्तर्गत अखण्डवाक्यस्फोट का व्यक्तिवादियों द्वारा स्वीकृतपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

इनके मत में वाक्य एक अखण्डशब्द है। जो सभी प्रकार के अवयवों से रहित है। इस पक्ष की प्रतिष्ठा में सर्वाधिक असुविधा वाक्य के अन्तर्गत साक्षात् प्रतीयमान अवयवों के कारण है। क्योंकि इस पक्ष में वाक्य को किसी भी प्रकार के अवयवों से शून्य सत्ता कहा गया है किन्तु अवयव तो साक्षात् प्रतीत होते ही हैं। अतः इसके निराकरण हेतु युक्ति प्रदान करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि पदों अथवा पदार्थों का अर्थ निश्चित नहीं होता है किन्तु वाक्य में प्रयुक्त होने पर प्रसंग द्वारा उनका निर्धारण किया जाता है।[13] अन्य वाक्य में प्रसंगान्तर होने पर वही पद नितान्त भिन्न अर्थ की उपस्थिति कराते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वाक्य एवं वाक्यार्थ की सत्ता ही वास्तविक है, पद व पदार्थ की नहीं। उनके वाक्य से अपोद्धार में शास्त्रप्रक्रिया का निर्वहणमात्र हेतु है।[14] वस्तुतः व्यवहार में हम सब सम्पूर्ण वाक्य का ही प्रयोग, श्रवण एवं अर्थावबोधन करते हैं। अखण्डवाक्य का खण्डशः (पद एवं पदार्थरूप) विभाजन भाषा के अधिगम की अनिवार्यता है। बालबुद्धि मनुष्य की ग्रहणशक्ति (सामर्थ्य) कम होती है। जिससे प्रारम्भिक अवस्था में वह बड़ी इकाई (वाक्य) का एकसाथ ग्रहण तथा अवधारण करने में असमर्थ होता है। इसीलिए उसे बोध कराने हेतु पदों को वाक्य से अलग करके ग्रहण कराया जाता है।[15] समझाने की दशा में उसका (वाक्य का) विश्लेषण करना बुद्धि की प्रकृति है।[16]

भर्तृहरि अनेक उदाहरणों को उदाहृत करते हुए इस पक्ष को समझाते हैं। जिस प्रकार ज्ञानसामान्य एक ही है लेकिन विषयों की विविधता के अनुसार वही ज्ञान सामान्य घटज्ञान, पटज्ञान आदि में विभक्त हो जाता है इसी प्रकार से वाक्य एवं वाक्यार्थ एक अखण्ड इकाई हैं, किन्तु वाक्यार्थबोध के समय पदज्ञान एवं पदार्थज्ञान से विभक्त हो जाते हैं।[17] जिस प्रकार चित्र को देखने पर, चित्र का ज्ञान निरवयवरूप में ही होता है। उसके पृथक्-पृथक् अवयवों का ज्ञान नहीं होता है। परन्तु जब उसका वर्णन किया जाता है तब उसमें नील, रक्त आदि वर्णों का अवधारण किया जाता है। जैसे- चित्र के अवयव नील, पीत आदि वर्ण स्वयं में चित्र नहीं हैं, उसी प्रकार वाक्यगत पद वाक्य नहीं हैं, अपितु वाक्य के अवबोध में उपायभूत मात्र है।[18]

पुण्यराज 'नृसिंह' तथा 'गवय' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार 'नृसिंह' में नर-भाग और सिंह-भाग होते हुए भी 'नृसिंह' एक ही है। ऐसे ही 'गवय' में भी गो-भाग और अश्व-भाग होते हुए भी वह एक ही है, उसी प्रकार वाक्य भी एक अखण्डसत्ता है। यद्यपि उसमें पदरूप अवयव प्रतीत

होते हैं परन्तु वे वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं। उन्होंने वाक्य के अवयवरहितरूप को स्पष्ट करने हेतु चित्रबुद्धि, पानकरस तथा मयूराण्डरस को भी उदाहृत किया है।[19]

भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार समस्त पदों का अपना भिन्न स्वतन्त्र अर्थ नहीं समझा जाता है उसी प्रकार वाक्यस्थ पद भी स्वतः निरर्थक होते हैं।[20] सम्पूर्ण समस्तपद की ही भाँति सम्पूर्ण वाक्य भी अवयवरहित शब्द है जो पूर्णतया अभिव्यञ्जित होने पर ही अपने अर्थ का अभिधान करता है। भर्तृहरि ने इस लक्षण में 'एकोऽनवयवः' पद को 'शब्दः' का विशेषण बनाकर वाक्य की एकात्मकता एवं अखण्डता को और भी सुदृढ किया है। वर्णगत वर्णभागों (ए= अ,इ / ओ= अ,उ) की भाँति पदगत पदभाग (वर्ण अ, इ, य, र,) भी असत्य हैं, इसी प्रकार वाक्यगत वाक्यभाग (पद) भी असत्य हैं। वे केवल वाक्यार्थ के ग्रहण में उपाय मात्र हैं।[21] इस मत की पुष्टि **'वाग्वै पराच्य व्याकृताऽवदत्'**[22] जैसे वाक्यों द्वारा अनादि-श्रुति एवं **'इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः'**[23] जैसे वाक्यों से नैरुक्त परम्परा भी करती आ रही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाक्य एवं वाक्यार्थ, पद एवं पदार्थ से सर्वथा भिन्न है। अवयव रहित, निराकाङ्क्ष एवं अखण्डसत्ता हैं। इस मत की आलोचना धर्मकीर्ति, जयन्तभट्ट एवं कुमारिल भट्ट ने की है[24], जिसका समुपयुक्त समाधान मण्डनमिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ में किया है।

सन्दर्भ –

---

1 पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्। बृ०दे० २.११७

2 प्रकाशकानां भेदांस्तु प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्त्तते । वा०प० १.९९

3 वर्णान्तरसरूपत्वं वर्णभागेषु दृश्यते । वा०प० २.११

4 न हि नाम पदं किञ्चिद् रूपेण नियतं क्वचित् । वा०प०१.२६ स्वोपज्ञवृत्ति में संग्रह के नाम से उल्लिखित।

5 आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥ वा०प० १.११३

6 वा०प० २.१४६

7 उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्। अष्टा० २.४.२१

8 भर्तृहरि (प्राचीन टीकाओं के प्रकाश में एक अध्ययन), के. ए. एस. अय्यर, पृ० १९५

9 एवं शब्दस्य प्रयोजनसहितं-वाचकात्मनो वाक्यस्वरूपस्य-द्वितीय काण्डारम्भः। पु०रा०टी०, वा०प० २.१-२

10 वा०प० २.१-२

11 तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम् । वा० प० २.१-२

12 टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकाराभिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्तं मन्यमानो बहीरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति। पु०रा०टी०, वा०प० २.६

13 पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥ वा०प०१.२६ की स्वोपज्ञवृत्ति में संग्रह के नाम से उद्धृत

14 यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥ वा० प० २.१०

15 विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते। वा० प० २.१३

16 व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥ वा० प० १.९०

17 यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते ।
दृश्यभेदाऽनुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा ॥ वा० प० २.७

18 चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः ।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः ॥
तथैवेकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः ।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते ॥ वा० प० २.८-९

19 वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वं पानकरसमयूराण्डरसचित्ररूपनृसिंहगवयचित्रज्ञानवत् समानमेवेत्युच्यते। पु०रा०टी०, वा० प० २.७

20 ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥ वा० प० २.१४

21 वर्णान्तरसरूपं च वर्णभागेषु दृश्यते।
पदान्तरसरूपाश्च पदभागा अवस्थिताः॥ वा० प० २.११

22 तै० सं० ६.४.७

23 नि० १.१ पृ० १८

24 वाक्यार्थविवेचनम्, धनुर्धर झा, पृ० ६०

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पूर्वरङ्ग,नान्दी एवं प्रस्तावना- एक पर्यालोचन

• डॉ. अशोक कुमार शतपथी

शोधसार- नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग का विवेचन नाट्यप्रयोग की तात्त्विक और सांस्कृतिक भूमिका को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरतमुनि ने इसे 19 अङ्गों से युक्त बताया, जिनमें प्रत्याहार, अवतरण, अश्रावणा, वक्रपाणि, परिघट्टना, सङ्घोटना, मार्गासारित और आसारित आदि प्रमुख हैं। इनका उद्देश्य नाट्यप्रवेश से पूर्व दर्शकों को रसग्रहण के लिए तैयार करना था। कालान्तर में पूर्वरङ्ग का संक्षिप्तीकरण हुआ और कई अङ्ग लुप्त हो गए। नाट्यदर्पण ने इसके संक्षिप्त रूप को स्वीकार करते हुए केवल नान्दी और प्ररोचना को अनिवार्य माना। नान्दी मङ्गलाचरण है, जिसमें देवताओं, ब्राह्मणों, राजा और दर्शकों की कल्याणकामना की जाती है। प्ररोचना सूत्रधार का विनम्र निवेदन है, जिसमें नाटक के विषय, कथानक और नायक का उल्लेख कर दर्शकों को आकर्षित किया जाता है। इस प्रकार, पूर्वरङ्ग का विकास नाट्यपरम्परा में क्रमशः हुआ- विस्तृत अनुष्ठानिक रूप से लेकर संक्षिप्त प्रस्तावनात्मक रूप तक। यह अध्ययन दर्शाता है कि पूर्वरङ्ग न केवल नाट्यशास्त्र की संरचनात्मक अङ्ग है, अपितु रसोपयोगिता और दर्शक-नाटक के भावात्मक सेतु का भी आधार है।

बीज शब्द- पूर्वरङ्ग, नान्दी, प्ररोचना, त्रिगत, ध्रुवा, त्रिसाम, वर्धमानक, कविनामसंकीर्तन, सूत्रधार, विदूषक, अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, भरतमुनि, नाट्यदर्पण, नाटक-लक्षण-रत्नकोश, भावप्रकाशन, साहित्य दर्पण, रसोपयोगिता।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में पूर्वरङ्ग की व्याख्या अत्यंत गूढ़ और दार्शनिक दृष्टि से की है। उनके अनुसार नाट्यप्रयोग से पहले किया जाने वाला पूर्वरङ्ग केवल एक औपचारिक प्रारम्भ नहीं है, बल्कि वह शिव की आकाशरूपा मूर्ति के समान है। आकाश सर्वव्यापी, निराकार और सबको धारण करने वाला है। उसी प्रकार पूर्वरङ्ग सम्पूर्ण नाट्यप्रयोग का आधार है, जो आगे होने वाले अभिनय, रस और भावों को धारण करता है। शिव यहाँ नटराज के रूप में नाट्य के अधिष्ठाता देवता हैं। पूर्वरङ्ग को

* सह-आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

शिव की मूर्ति के समान बताने का अर्थ है कि यह पूर्वरङ्ग नाट्यकला का पवित्र आरम्भ है, जो दिव्यता और शुद्धता का प्रतीक है। यथा-

संसारनाट्यनिर्माणे याऽवकाशविधानतः।
पूर्वरङ्गायते व्योममूर्त्तिं तां शाङ्करीं नुमः॥[1]

पूर्वरङ्ग -

भरत का पूर्वरङ्ग नौ प्रारंभिक अङ्गों (प्रत्याहार, अवतरण, अश्रावणा, वक्रपाणि, परिघट्टना, सङ्घोटना, मार्गासारित और ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ आसारित इन अङ्गों) से बना था जो मञ्च के पीछे अथवा यवनिका के भीतर की जाती थीं, और नौ क्रियाएँ जो दर्शकों के सामने मञ्च पर समस्त वाद्यों के साथ प्रस्तुत की जाती थीं; इन दोनों समूहों के बीच एक प्रभावशाली संगीतमय अंतराल होता था।

प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च। आश्रावणा वक्रपाणिस्तथा च परिघट्टना॥
सङ्घोटना ततः कार्या मार्गासारितमेव च। ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च॥
एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः। प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च॥
ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् । विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु॥
गीतानां मद्रकादीनां योज्यमेकं तु गीतकम् । वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तनमेव च । नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वार तथैव च॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च । त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरङ्ग भवन्ति हि॥[2]

भरत द्वारा वर्णित और अनुशंसित विस्तृत पूर्वरङ्ग कालान्तर में संक्षिप्त कर दिया गया। कई अङ्ग समय के साथ पूरी तरह से लुप्त हो गए, क्योंकि नाटक साहित्यिक पक्ष से विकसित हुआ और उसमें पूर्ण रूप से लिखित संवाद आने लगे। ऐसे में ये प्रारंभिक मनोरंजनात्मक अङ्ग एक ओर तो समय लेने वाले थे और दूसरी ओर अब आवश्यक भी नहीं रहे।

बाद के आचार्यों ने सामान्यतः भरत के पूर्वरङ्ग का ज्ञान बनाए रखा। कुछ ने इसके संक्षिप्तीकरण को अपने ढंग से समझाने का प्रयास किया; किंतु कभी-कभी उनके कथनों में भ्रम भी मिलता है। भरत का पूर्वरङ्ग कुल 19 अङ्गों का था। परंतु अग्निपुराण में 32 अङ्ग बताए गए हैं; भावप्रकाशन (शारदतनय) में 22 अङ्ग का उल्लेख है। भावप्रकाशन ने संगीतमय अंतराल के अंगों—ध्रुवा, त्रिसाम और वर्धमानक—को अलग-अलग गिनकर संख्या बढ़ाई है।

पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः।
तस्य द्वाविंशदङ्गानि प्रत्याहारमुखानि तु॥
प्रत्याहारोऽवतरणमारम्भास्रावणे अपि ।
वक्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत्तु परिघट्टना॥
सङ्घट्टना ततो मार्गासारितञ्च ततो भवेत् ।

शुष्कापकृष्टकं तत्रोत्थापनं परिवर्तनम्॥
नान्दी प्ररोचना तत्र त्रिगतासारिते अपि ।
गीतं ध्रुवा त्रिसाम स्याद्रङ्गद्वारमतः परम्॥
सवर्धमानकं चारिर्महाचारिस्ततः परम् ।
एतान्यङ्गानि कथ्यन्ते पूर्वरङ्गस्य सूरिभिः॥[3]

पूर्वरङ्ग शब्द की व्याख्या कुछ नाट्यशास्त्रियों ने की है। भावप्रकाशन में रङ्ग का अर्थ रङ्गमञ्च बताया गया है और वह मनोरञ्जन जिसे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ आपस में आनंद हेतु प्रस्तुत करते हैं;[4] यह नाट्याभिनय के आरंभ से पहले (पूर्वम्) रचा जाता है, इसलिए इसका नाम पूर्वरङ्ग पड़ा।

नाट्यदर्पण ने भरत द्वारा बताए गए पूर्वरङ्ग के अंगों का सही उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि पूर्वरङ्ग स्वरगीतों, लय, वाद्ययंत्रों और नृत्य के साथ-साथ नाटकीय गतियों और वचनों का प्रदर्शन है। यह रङ्गमञ्च (रङ्ग) पर, नाट्यशाला में प्रस्तुत किया जाता है; नाट्याभिनय के आरंभ से पूर्व और इसका उद्देश्य केवल मनोरञ्जन होता है। यथा –

"पूर्वं नाट्यात् प्रथमं, गीत-ताल-वाद्य-नृत्तानि नाट्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं च प्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जनाहेतौ नाट्यशालायां स पूर्वरङ्गः । अस्य च पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादीनि आसारितान्तानि नव अन्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकं अङ्गानि प्रयोज्यानि पूर्वाचार्यैर्लक्षितानि।"[5]

नाट्यशास्त्रकारों ने पूर्वरङ्ग के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। अधिकांश ग्रंथकार इसे अनेक अंगों से युक्त मानते हैं, किन्तु नाट्यदर्पण ने ही इसकी सही संख्या बताई है। भावप्रकाशन ने केवल नाम दिए हैं, बिना भरतमुनि का उल्लेख किए। वहीं नाटक-लक्षण-रत्नकोश ने जरजर-स्तुति और दिग्वंदना का उल्लेख किया है, जो प्राचीन पूर्वरङ्ग में सूत्रधार के परिवर्त का महत्वपूर्ण भाग थे।

इन मतों से स्पष्ट होता है कि पूर्वरङ्ग का क्रमशः विकास और रूपांतरण हुआ। अधिकांश आचार्य केवल नान्दी और आमुख-प्रस्तावना को नाट्यप्रवेश की भूमिका मानते हैं।

नाट्यदर्पण ने पूर्वरङ्ग की संक्षिप्ति के कारणों पर विचार किया। वाद्य-यंत्रों का संयोजन, स्वराभ्यास आदि पहले से ही जनसामान्य को ज्ञात थे, अतः नाट्यप्रदर्शन में उनका विशेष प्रयोजन नहीं रहा। पूजा, प्रार्थना, स्तुति और वंदना भी दर्शकों के लिए नवीन नहीं थीं; उनका उद्देश्य केवल देवताओं की संतुष्टि और श्रद्धालुओं की आस्था को मान देना था। इसलिए नाट्यदर्पण ने विस्तृत पूर्वरङ्ग को त्यागकर केवल नान्दी (शुभाशंसापूर्वक आह्वान) और प्ररोचना (दर्शकों को आकर्षित करने का विनम्र निवेदन) को रखा।

जैन आचार्य द्वारा रचित नाट्यदर्पण का यह मत सर्वमान्य न भी हो, परंतु इसके बाद की नाट्यपरम्परा में पूर्वरङ्ग का संक्षिप्त रूप स्पष्ट दिखाई देता है। प्राचीन शास्त्रीय नाटकों की प्रस्तावना में केवल निम्नलिखित अङ्ग दिखाई देते हैं—

- नान्दी
- कविनामसंकीर्तन (कवि और नाटक का परिचय)
- प्रशस्ति (कवि और उसकी रचना की प्रशंसा)
- प्ररोचना (दर्शकों से विनम्र निवेदन और उनका अनुग्रह प्राप्त करना)
- और अंत में कोई युक्ति जिससे नाटक की कथा का आरंभ हो सके।

इनमें से नान्दी और प्ररोचना पूर्वरङ्ग के अवशेष हैं, जबकि अन्य अङ्ग आमुख या प्रस्तावना के अंतर्गत आते हैं।

नान्दी – नाट्यशास्त्रकार इस बात पर सहमत हैं कि नान्दी नाट्यप्रस्तावना का सबसे आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है, जिसे प्रत्येक नाट्यप्रदर्शन के आरंभ में किया जाना चाहिए। नान्दी एक मंगलाचरण है—देवता को संबोधित प्रार्थना-गीत, जिससे दिव्य आशीर्वाद प्राप्त हो सके। यह प्रदर्शन के दौरान संभावित विघ्नों और संकटों से रक्षा करने का धार्मिक उपाय भी है, और अभिनेताओं तथा दर्शकों की सुरक्षा का साधन है। शुभारंभ (मङ्गल) और पवित्र कामना के रूप में नान्दी नाटक की प्रथम प्रस्तुति से ही प्रचलित रही है।

नान्दी का मूल सिद्धांत संपूर्ण संस्कृत नाट्यपरम्परा में अपरिवर्तित रहा, परंतु इसका रूप भरतमुनि के समय से लेकर आगे तक काफी बदल गया।

नान्दी के रूपान्तर

1. देवता का उल्लेख- भरत की नान्दी में देवताओं को सामान्य रूप से संबोधित किया गया है, किसी विशेष देवता का उल्लेख नहीं है।[6] शास्त्रीय नाटकों में कवि अपनी इष्टदेवता को नान्दी में संबोधित करते हैं।

2. विशेष मङ्गलसूचक तत्त्व- भरत की नान्दी में सोम (चंद्रमा) की विजय, ब्राह्मणों और गौओं की सुख-समृद्धि का उल्लेख है। यथा –

जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च॥[7]

साहित्यदर्पण ने इस सूची में शंख, कमल, चक्रवाक, कुमुदिनी आदि को भी जोड़ा है। यथा – "मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी"[8]।। श्रीहर्ष को आलोचकों ने इन मङ्गलसूचक संकेतों को अपने नान्दी श्लोकों में लाने के लिए सराहा है। रत्नावली की नान्दी यथा-

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ।।[9]

नाटक-लक्षण-रत्नकोश ने भरत का पूरा उद्धरण देकर बताया कि सही नान्दी से चंद्रमा प्रसन्न होता है; चंद्रमा रस का आधार है, अतः उसकी प्रसन्नता से नाट्यप्रदर्शन की सफलता सुनिश्चित होती है। यथा-

नान्दीप्रयोगे च कृते प्रीतो भवति चन्द्रमाः॥

किं फलं स्यात्। रसाधारत्वात् चन्द्रमसः तत् प्रीतिसुलभा रससम्पत्तयः इति।[10]
भावप्रकाशन भी यही मत व्यक्त करता है कि चंद्रमा रस का अधिष्ठाता देवता है।

3. पदों की संख्या- भरत ने नान्दी को 8 या 12 पदों का माना। पद का अर्थ भरत के अनुसार व्याकरणिक वाक्य है। नाट्यदर्पण की व्याख्या भरत की भावना के निकट है। रसार्णवसुधाकर ने अस्पष्ट रूप से कहा कि नान्दी में 8, 10 या 12 पद हो सकते हैं। प्रतापरुद्रीय ने स्पष्ट कहा कि कुछ आचार्य पदों की संख्या के नियम को स्वीकार नहीं करते। नाटक-लक्षण-रत्नकोश ने पद के तीन अर्थ बताए: श्लोक का एक चरण या पंक्ति, व्याकरणिक रूप से पूर्ण शब्द एवं व्याकरणिक वाक्य।

4. आशीर्वचन और प्रशंसा- भरत की नान्दी में देवता, ब्राह्मण, राजा और अन्य के लिए आशीर्वचन और प्रशंसा है। बाद के ग्रंथों में दर्शकसभा, कवि, सरस्वती और गृहस्वामी का भी उल्लेख मिलता है।

ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा । प्रशास्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रङ्गस्याशा समृद्धयतु ।प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः॥
काव्यकर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति॥[11]

नान्दी में कवि की सफलता और प्रसिद्धि की कामना भी की जाती है। धीरे-धीरे दर्शकों की सुरक्षा और हित की चिंता भी नान्दी में सम्मिलित हुई।

5. भरतवाक्य में स्थानान्तरण- आश्चर्य की बात यह है कि वर्तमान नान्दी श्लोकों में भरत द्वारा बताए गए कुछ पवित्र संकल्प जैसे- ब्राह्मणों की समृद्धि, ब्राह्मण-द्वेषियों की पराजय, राजा के शासन की सफलता, राष्ट्र की समृद्धि, धर्म की उन्नति आदि का उल्लेख नहीं मिलता। ये कामनाएँ प्रायः नाटक के उपसंहार में भरतवाक्य नामक श्लोक में व्यक्त की जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि भरत की नान्दी की सामग्री को विभाजित कर दिया गया— एक भाग (मङ्गल, आशीर्वचन) आरंभ में, दूसरा भाग (समृद्धि और कल्याण की कामना) उपसंहार में। यही कारण है कि उपसंहार के श्लोक को भरतवाक्य कहा गया।

आमुख (प्रस्तावना) - नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार अनुष्ठान, संगीत और मनोरंजन से युक्त पूर्वरङ्ग का प्रदर्शन करता है और जब वह इसे पूरा कर लेता है तो मंच से बाहर चला जाता है। पूर्वरङ्ग के अंत में नाटक की प्रस्तावना, जिसे काव्य-प्रस्तावना कहा जाता है, आरंभ होती है। एक अन्य पात्र, जिसे स्थापक कहते हैं और जो रूप-गुणों में सूत्रधार के समान होता है, काव्य-प्रस्तावक की भूमिका में मंच पर प्रवेश करता है। उसके कर्तव्य और प्रदर्शन का वर्णन नाट्यशास्त्र के उसी अध्याय में किया गया है, जिसमें पूर्वरङ्ग का विवरण है। इसी कारण अभिनवगुप्त ने प्रस्तावना को पूर्वरङ्ग का शेष या समापन भाग कहा है, अर्थात् यह भी नाट्य-प्रारम्भ की भूमिका का अंग है।

स्थापक से अपेक्षित मंचीय क्रियाएँ इस प्रकार हैं -

1. वह संगीत और लय के अनुरूप गतियों (चारिओं) का प्रदर्शन करता है, जो जर्जर (ध्वजस्तम्भ) की पूजा के रूप में होती हैं, और तत्पश्चात देवताओं तथा ब्राह्मणों की स्तुति में श्लोकों का पाठ करता है।
2. इस अनुष्ठानिक भाग के बाद वह रंग-प्रसादन करता है, अर्थात् रंगमंच के देवताओं और दर्शकों को मधुर और भावपूर्ण पदों के गान द्वारा प्रसन्न करता है।
3. इसके बाद वह कवि का नाम उद्घोषित करता है (कविनाम-संकीर्तन) जिसका नाटक प्रस्तुत किया जा रहा है।
4. अंत में वह नाटक की विशेषताओं का वर्णन कर उसकी प्रशंसा करता है (काव्य-प्रख्यापनाश्रया प्रस्तावना)। इस प्रकार वह विविध उपायों से नाटक का परिचय कराता है ताकि दर्शक सीधे रचना के आरंभ में प्रविष्ट हो जाएँ और नाटक उनके सम्मुख उपस्थित हो जाए (काव्योपक्षेपण)।

नाट्यशास्त्र में आमुख का उल्लेख भारती-वृत्ति के चार विभागों में भी किया गया है। यह आमुख, जिसे विशेषज्ञ प्रस्तावना भी कहते हैं, सूत्रधार और नटी (सूत्रधार की पत्नी मानी जाती है) अथवा विदूषक या पारिपार्श्विक (सूत्रधार का सहायक) के बीच संवाद होता है। यह संवाद उद्देश्यपूर्ण होता है क्योंकि यह अभिनेताओं की गतिविधियों की ओर निर्देशित होता है। इसमें नाटक और उसके प्रदर्शन से संबंधित विविध कथन होते हैं। कभी-कभी पात्र सीधे नाटक का नाम लेकर बात करते हैं, कभी संकेतपूर्ण वाक्यों या प्रश्नोत्तर के माध्यम से सूचना देते हैं। यह संवाद नाटक की भूमिका है और विविध प्रकार से आरंभिक दृश्य का संकेत प्रदान करता है। नाट्यशास्त्र ने आमुख के अंग बताए हैं— उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवलगित।

नाट्यशास्त्र में भरत ने प्रस्तावना को अनिवार्य माना है क्योंकि संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन में दर्शकों तक कथा, कवि और नाटक की पृष्ठभूमि पहुँचाने का कोई अन्य साधन नहीं था। पूर्वरङ्ग की वस्तुओं का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि, त्रिगत (सूत्रधार, उसके सहायक और विदूषक के मध्य संवाद होता है जो एक अस्पष्ट किंतु संकेतपूर्ण और हास्यपूर्ण शैली थी, जिस)के माध्यम से नाट्य और नाट्यकार के विषय में कुछ सूचना दी जाती थी। नाट्यशास्त्र के अनुसार-

विदूषकः सूत्राधारस्तथा वै पारिपार्श्विकः ।
यत्र कुर्वन्ति सञ्जल्पं तच्चापि त्रिगतं मतम् ॥[12]

इसके बाद जो वस्तु आती थी, वह पूर्वरङ्ग की अंतिम कड़ी थी - प्ररोचना। इसमें सूत्रधार द्वारा दर्शकों को नाट्य प्रदर्शन देखने के लिए आमंत्रित किया जाता था। इसमें एक प्रकार का निवेदन भी निहित होता था, क्योंकि सूत्रधार दर्शकों को नाटक में रुचि लेने के लिए तर्कपूर्ण और प्रभावशाली बातें करता था। अभिनवभारती के अनुसार

"तेन काव्योपक्षेपेण हेतुभूतेन तद्विषये सामाजिकानां या आमन्त्रणा निमन्त्रणं सिद्धेन सिद्ध्योपलक्षितमित्यर्थः। यस्मात्खल्वतः प्रीत्युत्पत्तिर्भविष्यति तस्मादवलोक्यतामेतदिति सा प्ररोचना प्रकृष्टरुचिहेतुभूतत्वात्।[13]"

इस प्रयोजन से वह सीधे नाटक के विषय, कथानक और नायक का उल्लेख करता था। यह भी एक अवसर होता था, जिससे नाटक की नेपथ्य संबंधी सूचना प्रस्तुत की जाती थी।

नाट्यशास्त्र में आमुख/प्रस्तावना की चर्चा केवल पञ्चम अध्याय तक सीमित नहीं है; भरतमुनि ने इसे बीसवें अध्याय में भी पुनः वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि यह नाट्यप्रवेश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, जो न केवल तात्विक दृष्टि से आवश्यक है, अपितु सहृदयों को नाटक की भावभूमि में लाने का साधन भी है। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती टीका में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। यथा- **"अन्ये त्वाहुः । पूर्वरङ्गाध्यायेऽपि या प्रस्तावना उक्ता सापि भारतीभेद एव, इति किं द्वैविध्याभिधानप्रयासेन।"**[14]

उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रस्तावना के दो रूप हैं—एक पूर्वरंग का तकनीकी अंग, जिसे स्थापक या कोई कवि प्रस्तुत करता है; दूसरा आमुख के रूप में कवि की अपनी प्रस्तावना। इसी प्रकार प्ररोचना भी दो प्रकार की हो सकती है—सूत्रधार की और कवि की। नाट्यदर्पण ने भी स्थापककृत प्रस्तावना और कविकृत प्रस्तावना में भेद किया है।

यह सब पूर्वरङ्ग के विकास से जुड़ा है। प्रारम्भिक अवस्था में सूत्रधार और उसके अभिनेता नान्दी, प्ररोचना और प्रस्तावना का पारम्परिक रूप से प्रदर्शन करते थे। परवर्त्ती काल में कवि स्वयं इन अंशों को लिखकर अभिनेताओं को प्रस्तुत करने के लिए देने लगे। भास के नाटकों में यह पूर्व-शास्त्रीय अवस्था दिखाई देती है। शास्त्रीय नाटकों में कवि स्वयं नान्दी से लेकर प्रस्तावना तक सब कुछ रचता है।

भरत और अन्य आचार्य आमुख और प्रस्तावना को पर्यायवाची मानते हैं। **"आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि वा॥"**[15] शास्त्रीय नाटकों में नान्दी से लेकर नाट्यारंभ तक का प्राक्कथन एक सतत प्रस्तुति है जिसे स्थापना या आमुख-प्रस्तावना कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टि से, नान्दी शुभारंभ है; प्ररोचना में नाटक और कवि का परिचय तथा दर्शकों को प्रसन्न करने का प्रयत्न है; और अंत में आमुख है, जो नाटक के आरंभिक दृश्य का संकेत देता है।

अभिनवगुप्त ने कहा कि आमुख इसलिए कहलाता है क्योंकि यह मुख-संधि तक विस्तृत होता है, जहाँ कथा का प्रथम विकास दर्शकों को दिखाया जाता है। इस प्रकार पूर्वरङ्ग और नाटक का आमुख एक दूसरे से मिल जाते हैं। नाट्यदर्पण ने भी स्पष्ट किया कि नान्दी से लेकर आरंभिक दृश्य के संकेत तक सब कवि का कार्य है, जिसे सूत्रधार या स्थापक प्रस्तुत करते हैं। नाटक का मुख्य भाग अभिनेताओं का कार्य है।

अतः निष्कर्ष यह है कि यद्यपि आमुख और प्रस्तावना लगभग समान हैं, तात्त्विक दृष्टि से प्रस्तावना सामान्य परिचय है, जबकि आमुख विशेष रूप से नाटक के आरम्भिक दृश्य का संकेत है।

सन्दर्भ –

---

1 अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र पञ्चम अध्याय)

2 नाट्यशास्त्र 5.9-15

3 भावप्रकाशनम् सप्तम अधिकार,82

4 नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्। भावप्रकाशनम्,7.79

5 नाट्यदर्पणम् 3.106.159

6 नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो.. नाट्यशास्त्र 5.106

7 नाट्यशास्त्र 5.107

8 साहित्यदर्पण 6.25

9 रत्नावली 1.4

10 नाटक-लक्षण-रत्नकोश पृ112 (संपादक श्री बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज)

11 नाट्यशास्त्र 5.108-110

12 नाट्यशास्त्र 5.28

13 अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र पञ्चम अध्याय)

14 अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र विंशति अध्याय)

15 नाट्यशास्त्र 5.31

वेदवाक्यों का संगतिकरण; वाल्मीकि रामायण के संदर्भ में

• डॉ. सुखराम

शोधसार – शोध लेख में वेदों के सिद्धांतों और वाल्मीकि रामायण के आदर्शों के बीच संबंध का विश्लेषण किया गया है। वेदों के सिद्धांत सभी मानवों के लिए सार्वभौमिक सत्य और आदर्श हैं, न कि किसी विशेष भूखंड या संप्रदाय के लिए।

राम का चरित्र वेदों में वर्णित राजा के कर्त्तव्यों का आदर्श प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, ताटका के वध का आदेश वेदों में उल्लिखित न्याय के सिद्धांतों के अनुसार है। शूर्पनखा को दिए गए दण्ड को वेदिक शास्त्रों के अनुसार उचित ठहराया गया है। रामायण में अयोध्या में राजा के अभाव में होने वाली अराजकता का वर्णन वेदों में उल्लिखित अराजकता के दोषों की पुष्टि करता है। राम के शासन काल का वर्णन वेदिक आदर्शों के अनुरूप है, जहां चोरी, डकैती नदारद होती है और बाल मृत्यु नहीं होती। रामायण में वर्णित यज्ञ और संध्योपासना के प्रसंगों को वेदों की शिक्षाओं के अनुकूल दिखाया गया है, जैसे कि पुत्रेष्टि याग और दैनिक संध्यावंदना।

लेख यह स्थापित करता है कि वाल्मीकि रामायण वेदों के सिद्धांतों का आदर्श रूप है, जिसमें व्यक्तित्व, कर्त्तव्य और नैतिक आचरण को वेदानुकूल तरीके से प्रस्तुत किया गया है।

बीज शब्द - वेदवाक्य, वाल्मीकि रामायण, वेदिक सिद्धांत, राम, राजा के कर्त्तव्य, अराजकता, रामराज्य, यज्ञ, संध्योपासना, पुत्रेष्टि याग, वेदानुमोदक, धार्मिक आदर्श, नैतिकता।

वेदों के सिद्धांत सार्वभौमिक हैं। वेद सार्वभौमिक सत्य, कर्त्तव्य, सिद्धांतों व आदर्शों का वर्णन करते हैं जो किसी भूखंड विशेष अथवा संप्रदाय विशेष के लिए नहीं है अपितु इस संपूर्ण धरा पर रहने वाले मानवमात्र के लिए है। वेद सिद्धांतो का प्रतिपादन करते हैं। वेद कहता है–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

* सह-आचार्य, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।[1]

अर्थात् - "भाई अपने भाई से द्वेष न करें, बहन अपनी बहन से द्वेष न करें, समान गति से एक-दूसरे का सम्मान करते हुए मिल-जुलकर कर्मों को करें तथा भद्रभाव से संभाषण करें।" वेद ने यह सिद्धांत स्थापित कर दिया किंतु इस वेद वाक्य का आदर्श कहां प्राप्त होता है? यह आदर्श हमें वाल्मीकि रामायण में दृष्टिगोचर होता है।

वेद जिन सिद्धांतो का वर्णन करते हैं रामायण में राम ने उन सिद्धांतो के अनुरूप आदर्श स्थापित किया है। इन्हीं सब तथ्यों के आलोक में इस लेख में रामायण में वर्णित कुछ संदर्भों का वेद वाक्यों के साथ संगतिकरण करने का प्रयास किया है। अर्थात् रामायण के आदर्श वैदिक सिद्धांतो के अनुसार है यह प्रतिपादित किया जा रहा है।

राजा के कर्त्तव्य

रामायण में राम ने एक आदर्श राजा के रूप में अपने व्यक्तित्व को स्थापित किया है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह दुष्टों को दंड दे व राष्ट्र में शांति स्थापित करें। जब राक्षसों का आतंक व्याप्त हो गया था उस समय ऋषि विश्वामित्र ने राम जैसे योद्धा के द्वारा उनके विनाश का निश्चय किया। अनेक दुष्ट राक्षसों का वध किया गया। किंतु जब ताटका जैसी स्त्री राक्षसी के वध का आदेश विश्वामित्र ने राम को दिया तो यह चिंतनीय है कि क्या दुष्ट आचरण करने वाले स्त्री अथवा पुरुष को दंड देने में भेदभाव करना चाहिए? इस तरह की आशंका उत्पन्न होने से पहले ही वाल्मीकि ने निम्न श्लोक में राम को ताटका जैसी दुष्टा स्त्री के वध का आदेश दिया –

न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
का चातुर्वर्ण्य हितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥[2]

अर्थात् हे नरोत्तम ! तुम्हें ऐसी स्त्री का वध करने में घृणा नहीं होनी चाहिए क्योंकि चारों वर्णों का हितसाधन राजकुमार का कर्तव्य होता है।

विश्वामित्रजी का यह उपदेश सर्वथा उचित और वेदानुकूल है । वेद में राजा के लिए आदेश है-

इन्द्र जहि पुमान्सं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥[3]

हे राजन् ! पीड़ा देने वाले पुरुष को और छल-कपट से दूसरों का नाश करने वाली स्त्री का विनाश कर दो। उनकी गर्दनों को काटकर उन्हें नष्ट कर दो। ऐसे दुष्ट- स्त्री-पुरुष दूसरे दिन तक जीवित न रहें ।

इस वेद मंत्र से स्पष्ट है कि वेद दुष्टता करने वाले पुरुष हो अथवा स्त्री उनमें भेद नहीं करता।

रामायण में अन्य स्थल पर भी यही दंड विधान दृष्टिगोचर होता है। जब लक्ष्मण ने शूर्पनखा के नाक और कान काट डाले इसका वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं –

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः॥[4]

अर्थात् श्रीराम के ऐसा कहने पर बलशाली लक्ष्मण ने क्रुद्ध हो म्यान से तलवार निकालकर राम के देखते देखते उस राक्षसी के नाक और कान काट डाले।

लक्ष्मण ने यह कार्य श्रीराम के संकेत करने के उपरांत किया।[5]

ऐसे में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या राम ने शूर्पनखा के नाक-कान काट कर कोई अनुचित कार्य किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि श्रीराम ने उस राक्षसी को जो दण्ड दिया वह उचित एवं शास्त्रसम्मत ही था। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं-

स्वजातावुत्तमो दण्ड प्रानुलोम्ये तु मध्यमः।
प्रतिलोम्ये वधः पुंसः स्त्रीणां नासादिकर्त्तनम्॥[6]

यदि स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की इच्छा के बिना धींगामस्ती से स्व-वर्ण में विवाह करना चाहें तो उन्हें उत्तम- दण्ड = कठोरतम दण्ड देना चाहिए। यदि वे अपने से हीन वर्ण में अनुलोम विवाह करना चाहें तो मध्यम दण्ड और यदि अपने से उच्चवर्ण में प्रतिलोम विवाह करना चाहें तो पुरुष को वधदण्ड देना चाहिए और स्त्री के नाक-कान काट लेने चाहिएँ।

शूर्पनखा विधवा थी और पुलस्त्यवंशी रावण की बहन थी । वह शास्त्र मर्यादा के विरुद्ध क्षत्रिय राम से प्रतिलोम विवाह करना चाहती थी । अतः श्रीराम ने उसे जो दण्ड दिया वह सर्वथा उचित ही था ।

राजा रहित राष्ट्र की दुर्दशा का वर्णन

दशरथ की मृत्यु के उपरान्त अयोध्या राजाविहीन हो गई थी क्योंकि राम, लक्ष्मण वनवास काट रहे हैं और भरत, शत्रुघ्न ननिहाल में है। ऐसे में अयोध्या बिना राजा के अनाथ हो गई। ऋषि वाल्मीकि ने अयोध्याकांड के इक्यानवे सर्ग में अराजकता के दोषों का विस्तृत वर्णन किया है। वाल्मीकि कहते हैं –

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम्।
अराजके हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात् ॥[7]

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा नियुक्त करना चाहिए जिससे सम्राट्-हीन हमारा यह राष्ट्र नष्ट न हो ।

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥[8]

सम्राट् - हीन देश में बिजली की चमक सहित महागर्जन करने वाला विद्युन्माली नाम का मेघ अपने दिव्य जल से पृथिवी को नहीं सींचता ।

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।

नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥9

अराजक राष्ट्र में कृषक खेतों में बीज नहीं बोते तथा पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के अधीन नहीं रहती अर्थात् सब स्वतन्त्र हो जाते हैं।

अराजके धनं नास्ति भार्याप्यराजके।

इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यम राजके॥10

अराजक देश में धन नहीं रहने पाता (क्योंकि चोर डाकू लूट लेते हैं।) स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं। जब सब ओर भय एवं आतंक का साम्राज्य होता है तब सत्य का व्यवहार कैसे हो सकता है?

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां।

उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च॥11

अराजक देश में शुभ-अशुभ कर्मों के लिए लोग सभा नहीं करते, न रमणीक उद्यान लगवाते (दण्ड- भय न होने के कारण लोग वृक्ष काट डालते हैं ।) और न यज्ञशाला आदि बनवाते हैं।

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।

सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥12

अराजक देश में शान्त, दान्त, व्रती और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण लोग (विघ्न के भय से) दीर्घ समय तक चलने वाले महायज्ञ भी नहीं करते ।

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः।

ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः॥13

सम्राट्-हीन राज्य में धन-धान्य से परिपूर्ण लोग भी ऋत्विजों को यथोचित दक्षिणा नहीं देते।

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।

उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः।।14

अराजक राज्य में नट और नर्तक भी प्रसन्न नहीं रहते तथा राष्ट्रोन्नति के लिए उत्सव या सम्मेलन भी नहीं होते ।

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः।

कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः॥15

नरपति-हीन राज्य में लेन-देन अथवा क्रय- विक्रय करने वालों में विवाद उपस्थित होने पर मुकदमों के निर्णय ठीक नहीं होते। अराजक देश में कथावाचक उत्तम कथाएं कहकर कथा प्रेमियो को संतुष्ट नहीं करते।

इस प्रकार का यह वर्णन 32 श्लोकों में है। इस सम्पूर्ण सर्ग में राजा विहीन राज्य में अराजकता के दोषों का वर्णन है । यह सर्ग वेद के दो मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या है। वेद में अराजकता के दोषों का कथन निम्न रूप में हुआ है-

न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति। नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥[16]

अराजक राष्ट्र में वर्षा नहीं होती, समिति अराजक राज्य को योग्य नहीं समझती। अराजक राष्ट्र शत्रु की तो बात ही क्या मित्र को भी अपने वश में नहीं कर सकता।

यजुर्वेद में अराजक राज्य की इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में निंदा की गई है-

यकासको शकुन्तिका हलगिति वञ्चति। शाहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥[17]

जिस प्रकार बड़ी चिड़िया के सामने छोटी चिड़िया दबी रहती है उसी प्रकार अराजक देश में प्रजा दबी रहती है जैसे छोटी दरार में मोटी वस्तु घुसेड़ने से वह छिन्न-भिन्न हो जाती है वैसे ही अराजक देश में प्रजा की दशा होती है । अराजक देश में प्रजा का विनाश होता है । अतः अराजक देश प्रजा का घातक होता है ।

स्पष्ट है कि वाल्मीकि का उक्त वर्णन वेदानुमोदक ही है।

रामराज्य व वेद

चौदह वर्ष के वनवास के उपरांत राम का राज्याभिषेक हुआ। राम के शासन को वर्तमान में भी आदर्श माना जाता है व रामराज्य कहकर आदर्श रूप में स्वीकार किया जाता है। वाल्मीकि ने रामराज्य का वर्णन युद्धकांड के 74 वें सर्ग में किया है। वाल्मीकि कहते हैं –

निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥[18]

राज्य भर में चोरों, डाकुमों और लुटेरों का कहीं नाम तक नहीं था। दूसरे के धन को लेने की बात तो दूर रही, कोई छूता तक नहीं था और राम के शासन काल में वृद्ध ने किसी बालक का मृतक संस्कार नहीं किया (अर्थात् बालमृत्यु नहीं होती थी)

श्रीराम के राज्य का यह वर्णन वेद के निम्न वाक्य का आदर्श क्रियारूप में प्रचलित था-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।[19]

प्रभु- प्रदत्त पदार्थों को ही त्यागपूर्वक भोगो। लालच मत करो । सोचो, यह धन किसका है ।

साथ ही रामराज्य में अकाल मृत्यु का न होना भी वेदानुसार ही है। वेद का निम्न आदर्श भी राम-राज्य में साकार रूप में दृष्टिगोचर होता था-

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥[20]

जैसे दिन अनुक्रम से होते हैं (अर्थात् रात्रि के पश्चात् दिन) जैसे ऋतुएँ एक-दूसरे के पीछे क्रमानुसार प्राती हैं इसी प्रकार हे भगवन्! आप मनुष्यों के जीवनों का ऐसा निर्माण करो कि जो पीछे आया है वह पहले न मरे । पुत्र पिता से पीछे आया है अतः वह पिता के पश्चात् मरे ।

यज्ञ, संध्योपासना विषयक वेद सम्मत वर्णन

वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर याग, संध्योपासना आदि का वर्णन आया है। यह वर्णन भी वेदानुसार ही है।

पुत्रेष्टि याग का वर्णन

तीन रानियों के होते हुए भी जब दशरथ के संतान नहीं हुई तो दशरथ ने ऋषि ऋष्य श्रृंग से पुत्रेष्टि यज्ञ का आग्रह किया। तब ऋष्य श्रृंग कहते हैं –

इष्टि तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥[21]

हे राजन्! मैं आपके लिए अथर्ववेद में कहे हुए मन्त्रों द्वारा विधिवत् पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा। इसके विधिपूर्वक संपादन होने से आपका मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा।

इस संदर्भ को अथर्ववेद से प्रतिपुष्ट होना चाहिए। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में पुत्रेष्टि का संकेत मिलता है-

शमीमश्वत्थ श्रारूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि।।[22]

शमी (छौंकड़) वृक्ष पर जो पीपल उगता है वह पुत्र उत्पन्न करने का साधन है। यह पुत्र प्राप्ति का उत्तम साधन है । वह हम स्त्रियों को देते हैं ।

अथर्ववेद में इसी प्रकार के और भी बहुत-से प्रयोग हैं।

सायंप्रातः संध्योपासना

विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण राक्षसों के विनाश के लिए अनेक स्थानों से विचरते हुए रात्रिकालीन विश्राम हेतु शिवाश्रम में रुके। प्रातः काल होने पर ऋषि विश्वामित्र बोले –

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते। उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं देवमाह्निकम्॥

हे कौसल्यानन्दन! नरशार्दूल राम! प्रातःकाल होने को है, उठो और प्रातः कृत्य (शौच, स्नान, सन्ध्या) आदि कर डालो।

श्रीराम **'वेदाङ्गतत्त्वज्ञः**[23] वेद को जानने वाले थे। वेद में दोनों समय सन्ध्या करने का विधान है।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥[24]

हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! ज्ञानविज्ञान-प्राप्ति के लिए हम प्रतिदिन सायं और प्रातः अपनी बुद्धि और कर्मों से आपको धारण करते हुए, नमस्कार करते हुए आपको प्राप्त होते हैं।

वेदों ने सिद्धांत रूप में जिन कर्त्तव्य, आचरण आदि का वर्णन किया है उनका आदर्श यदि कहीं मिलता है तो वह वाल्मीकि रामायण ही है। वाल्मीकि स्वयं ऋषि थे इसलिए वेद प्रतिपादित शिक्षाओं को उन्होंने आदर्श रूप में रामायण के पात्रों में दर्शाया है। इस लेख में कुछ ही स्थल दर्शाएं हैं किंतु अनेकों स्थल वेदानुमोदक दिखाई देते हैं। पति पत्नी के कर्त्तव्य, भाई का भाई के प्रति स्नेह, पुत्र के कर्त्तव्य, परिवार में रहते हुए त्याग की भावना आदि प्रसंग आज भी आदर्श हैं जिनका अनुसार कर वर्तमान समाज अनेक समस्याओं से मुक्ति पा सकता है।

सन्दर्भ -

[1] अथर्ववेद 3.30.3

[2] वाल्मीकि रामायण,बालकांड, 15.18

[3] अथर्व० 8 । 4 । 24

[4] वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, 12.41

[5] वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, 12.39

[6] याज्ञवल्क्य स्मृ० 2286

[7] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.06

[8] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.07

[9] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.08

[10] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.09

[11] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.10

[12] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.11

[13] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.12

[14] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.13

[15] वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, 51.14

[16] अथर्व 5 ।19 ।15

[17] यजु० 23 ।22

[18] वाल्मीकि रामायण, युद्धकांड, 74.06

[19] यजु. 40.11

[20] अथर्ववेद, 12.02.25

[21] बालकांड, 8.4

[22] अथर्ववेद 6.11.1

[23] बालकाण्ड 1.14

[24] ऋ० 1.1.75

श्रद्धया विन्दते वसु

• डॉ. कामना विमल (शर्मा)

शोधसार - *वेदोखिलो धर्ममूलम्* - और इस वैदिक धर्म के मूलाधार हैं श्रद्धा और तर्क। वेदोक्त धर्म को समझने के लिए श्रद्धापूर्ण आस्तिक्य बुद्धि अपरिहार्य है - *श्रत् सत्यं दधाति यथेच्छया सा श्रद्धा* अर्थात् जिससे मनुष्य सत्य को धारण करता है, उस इच्छा को श्रद्धा कहते हैं। वैदिक मन्त्रों और भाष्यों से श्रद्धा का सत्य से घनिष्ठ संबंध सिद्ध है परन्तु इस भारतीय आस्तिक्यबुद्धि की सत्यप्रतिबद्धता से अपरिचित पाश्चात्य विद्वान् एवं कुछ भारतीय विचारक इसे कट्टरता अथवा अन्धविश्वास का नाम देते हैं।

सच्ची श्रद्धा ही सत्य प्राप्ति अर्थात् सच्चे सुख और आनंद की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। यह श्रद्धा जिज्ञासाओं को प्रेरित करके मानव को सूक्ष्म तथा बृहत सत्य की खोज में लगाती है। अध्यात्म विद्या का गौरव यह श्रद्धा मानव में अपने क्रियात्मक बुद्धि अथवा तर्क रूप में प्रवृत होती है। इस बुद्धि का वेदों में विज्ञानवती यथार्थ धारणावती शुद्ध बुद्धि के रूप में वर्णन किया गया है।

बीजशब्दः - श्रद्धा, तर्क, वैदिक धर्म, सत्य, विज्ञान, मेधा, विज्ञानवती यथार्थ धारणावती बुद्धि।

श्रद्धा एवं तर्क को सामान्यतः परस्पर विरोधी माना जाता है पर एक के अभाव को दर्शाने के लिए दूसरे का आश्रय लिया जाता है। दोनों के विषय एवं क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न बताए जाते हैं। जहां धर्म को श्रद्धा का विषय बताकर तर्क की उपस्थिति को अवांछनीय बताया जाता है वहीं विज्ञान को विशुद्ध तर्क का क्षेत्र माना जाता है जहां श्रद्धा बाधक होगी। वस्तुतः यह श्रद्धा और तर्क के विरोध की मान्यता भारत में अज्ञान एवं पाश्चात्य अंधानुकरण की प्रवृत्ति के कारण प्रचलित हुई। वर्षों तक विदेशी प्रभाव में रहने के कारण भारतीयों ने जहां एक और अपने ज्ञान के स्रोतों वेदादि शास्त्रों के ज्ञान को विस्मृत कर दिया वहीं दूसरी ओर शासक एवं समृद्ध वर्ग के अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण पाश्चात्य धर्म संस्कृति विचार भाषा एवं मान्यताओं को स्वीकार करने लगे। परिणामस्वरूप जो बौद्धिक एवं वैचारिक समस्याएं वस्तुतः भारतीय संस्कृति में है ही नहीं उनसे भ्रमित होने लगे। स्वयं भ्रमित होते हुए पश्चिमी विद्वानों की भांति

* सहायक प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, दौलतराम महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

ही अपनी स्थिति के लिए भारतीय संस्कृति को दोष देने लगे जिसमें जीवन को दिग्भ्रमित करने वाला श्रद्धा तर्क विरोध कभी था ही नहीं।

पश्चिमी देशों में एक ही धर्म था और वह भी राजकीय धर्म। वहां उस धर्म ने राज व्यवस्था और न्याय व्यवस्था को इतना प्रभावित किया कि चर्च ने कट्टर रूप धारण कर लिया। चर्च के कार्यों में, धार्मिक रचनाओं पर किसी भी प्रकार के संदेह की, प्रश्न की अनुमति न थी। केवल श्रद्धा ही अभीष्ट थी। तर्क को धर्म के क्षेत्र में कोई स्थान न रहा। इस कारण ही धार्मिक असहिष्णुता और अंधश्रद्धा ने जन्म ले लिया। संकीर्णताओं और बाध्यताओं से जूझते मानवो ने इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। चर्च के अधिकारों को कम करने के साथ ही उन्होंने श्रद्धा को भी अस्वीकार कर के उसके स्थान पर तर्क को स्वीकार किया अर्थात प्रमाणों के द्वारा परीक्षण, जीवन का नवीन सिद्धांत बन गया। निस्संदेह शुष्क तर्क की प्रधानता के कारण पाश्चात्य देशों के निवासी अब आध्यात्मिकता के प्रश्नों का सामना करने लगे। इस प्रकार पाश्चात्य देशों में श्रद्धा एवं तर्क के मध्य संघर्ष चलता रहा है।

परंतु भारतीय संदर्भ में यह विरोध अर्थहीन है। भारतीय सनातन धर्म के कोष स्वरूप वैदिक धर्म में विज्ञान अंग रूप में विद्यमान है। वैदिक दृष्टिकोण में श्रद्धा और तर्क परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। वेदों में दोनों का ही महत्त्व समान रूप से प्रतिपादित हैं और वैदिक ऋषि श्रद्धा-मेधा के समन्वित रूप के लिए प्रार्थना करता है - *अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे, स मे श्रद्धां च मेधाम च जातवेदाः प्रयच्छतु।*[1]

यही कारण है कि वैदिक परंपरा में विज्ञान एवं आध्यात्म परस्पर संयुक्त है न कि पृथक शाखा के रूप में। विश्व की अद्यतन वैज्ञानिक खोजों को आज से हजारों वर्षों पूर्व उनके सत्य रूप में जानकर चाहे वह गणित शास्त्र हो या शल्यक्रिया, रसायन विद्या हो अथवा भौतिक शास्त्र, उनसे संपूर्ण विश्व को लाभान्वित करने वाले वैदिक धर्म में श्रद्धा और तर्क जितना धर्म के लिए आवश्यक है उतना ही विज्ञान के लिए भी। वैदिक काल में माननीय जीवन श्रद्धा एवं तर्क के समन्वित रूप से प्रेरित एवं प्रोत्साहित होता था। आइंस्टाइन ने विज्ञान और धर्म के संबंध को बताते हुए कहा है कि धर्म के बिना विज्ञान पंगु है और विज्ञान के बिना अंधा है। वैदिक ऋषि ज्ञान को अंधश्रद्धा का विषय नहीं मानते जहां प्रश्न के लिए स्थान न हो। प्रश्नोत्तर शैली वैदिक ज्ञान परंपरा की विशिष्टता है जहां गुरु शिष्य परंपरा में शिष्य अत्यंत श्रद्धा पूर्वक तत्वज्ञान की इच्छा से गुरु से प्रश्न पूछता है और गुरु के द्वारा प्रदत तथा शास्त्रों में वर्णित ज्ञान हो स्वयं तर्कों द्वारा अनु प्रमाणित करता है। ऐसा वह ज्ञान स्वतः ही उस शिष्य का अपना दर्शन अथवा दृष्टिकोण बन जाता है।

वैदिक ज्ञान के चरम औपनिषदिक धर्म की प्रवृत्ति है ज्वलंत श्रद्धा के साथ संदेह होना, निर्भीक प्रश्नकर्ता मन, और सत्य की खोज के लिए श्रद्धा द्वारा प्रेरित बुद्धि, स्वयं पर विश्वास पर, कल्याण की

भावना से ज्ञात का उपदेश। श्रद्धा संदेह का गला नहीं घोटती वरन संदेह युक्त बुद्धि को सत्यान्वेषण के लिए सन्मार्ग पर प्रेरित करती है और पथ प्रदर्शन करती है।

लौकिक आध्यात्मिक ज्ञान की प्रत्येक शाखा में जिसका लक्ष्य व्यक्त से व्यक्त की यात्रा हो ऋषियों ने जिज्ञासा को प्रेरित किया है। जिज्ञासा वस्तुतः श्रद्धा द्वारा प्रेरित तर्क की आकांक्षा है जो श्रद्धा के विषय को बुद्धि का विषय बनाती है। इस प्रकार वैदिक जिज्ञासाओं में श्रद्धा और बुद्धि का उच्च स्थान रहा है। शंकराचार्य के गुरु गौडपाद मांडूक्योपनिषद में उस वैदिक दर्शन की वंदना करते हैं जो आंतरिक जगत (अध्यात्म अर्थात तथाकथित श्रद्धा का विषय) और बाह्य जगत (विज्ञान अर्थात तथाकथित तर्क का विषय) दोनों के सत्य का अन्वेषण करता है तथा विवादों और विरोधों (श्रद्धा तर्क विरोधिता अथवा श्रेष्ठता संबंधी विवाद) से मुक्त है-

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखोहितः
अविवादो अविरूद्धश्च देशितः तं नमाम्यहम ॥[2]

श्रद्धा शब्द का अर्थ एवं वेदों में श्रद्धा का महत्व

श्रद्धा शब्द श्रत् और धा से जुड़ कर बना है। *श्रत्* का अर्थ है *सत्य*[3]। *धा* धातु का अर्थ है– भरण पोषण करना[4]। अतः श्रद्धा का अर्थ है सत्य को धारण करना और उसे परिपुष्ट करना या प्रबल बनाना - *श्रत् सत्यं दधाति यथेच्छया सा श्रद्धा* - अर्थात मनुष्य जिस इच्छा से सत्य को धारण करता है, वह श्रद्धा है। आचार्य दयानन्द के अनुसार सत्य धारण में प्रीति और सत्य धार्मिक जनों में प्रीति ही श्रद्धा है। यजुर्वेद के मंत्र – *व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।*[5] पर महीधर भाष्य में कहते हैं – *श्रत् सत्यं धीयते यस्यां सा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पुण्यवेतां मनोविशेषः* – अर्थात् जिसमे सत्य स्थापित किया जाता है ऐसी आस्तिक्यबुद्धि जो पुण्यकारियों की विशेष मनोविशेष या मनोवृत्ति है।

श्रद्धा के बिना आत्मसाक्षात्कार संभव नहीं। यह अध्यात्म का प्रथम सोपान है। श्रद्धा का फलक विस्तृत है। इसके अंतर्गत स्वयं पर श्रद्धा, जीव मात्र में श्रद्धा, संसार में श्रद्धा. प्रभु में श्रद्धा, संपूर्ण अस्तित्व में श्रद्धा सम्मिलित है। श्रद्धा प्रेमभाव का विकास है। यह भेदभाव से दूर अपने साथ-साथ दूसरों की आस्था का भी सम्मान करने वाली है। विश्व शांति हेतु श्रद्धा आवश्यक है। यह संकीर्णताओं से परे है।

श्रद्धा का सत्य से घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि सत्य को धारण करने की इच्छा, सत्य को धारण करने की क्रिया, सत्य और सत्य वादियों में प्रीति और दृढ़ विश्वास सत्य को दृढ़ता पूर्वक धारण करना और बड़ी से बड़ी आपति या प्रलोभन आने पर भी विचलित न होना यही सच्ची श्रद्धा है। ऋग्वेद का श्रद्धा सूक्त जिसमे श्रद्धा का अत्यंत महिमामय वर्णन किया गया है और ऋषिका भी श्रद्धा नाम से विख्यात है, के अनुसार श्रद्धा ज्ञानाग्नि अथवा आत्माग्नि की प्रदीपिका है *श्रद्धया समिध्यते आत्मैवाग्निः।*[6]

गीता भी ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा को अनिवार्य मानती है - *श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्*[7] - श्रद्धालुओं को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। सामवेद में श्रद्धा का माता रूप में प्रतिपादन किया गया है। श्रद्धा मातामनुः कविः[8] - क्रांतदर्शी तत्वदर्शी श्रद्धा माता का अनुसरण करता है अर्थात श्रद्धा तत्वज्ञान के मार्ग पर प्रेरित करती है। वेदों में श्रद्धा की महिमा बताई गई है वह अंधश्रद्धा न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अर्थात तर्क द्वारा परीक्षित अतः सत्य निष्ठ है। वह सत्य धर्म में प्रीति, सत्य धारण की क्रिया, इच्छा व बुद्धि है। सत्य निष्ठा के कारण इसका तक विहीन होना सर्वदा असंभव है।

वेदों में तर्क का अर्थ व महत्व

ऋग्वेद में शुद्ध बुद्धि की प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद में उत्तम बुद्धि विषयक प्रार्थना की गई है। वेदों में तर्क का मेधा के रूप में चित्रण किया गया है जिसका अर्थ बताते हुए उसे विज्ञानवती यथार्थ धारणावती बुद्धि कहा गया है। यह सत्यासत्य, धर्माधर्म, पाप पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन करने वाली तर्क बुद्धि होती है जो श्रद्धा का आधार और उसको बढ़ाने वाली है। अथर्ववेद में - *मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीम्*[9] - में इसे प्रथमा बुद्धि कहने से इसे सभी बुद्धियों में श्रेष्ठ अथवा प्रथम कहा गया। साथ ही ब्रह्मण्वती की उपाधि इसका वेदाधारित होना सिद्ध करती है। सत्य से प्रकाशमान सभी विद्वानों, शिल्पियों, ऋषियों और योगियों के द्वारा सेवित इस कल्याणकारी शुद्ध बुद्धि को हम अपने अंतर में सदा धारण करें यह प्रार्थना इस मंत्र में की गई है – *यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुराः विदुः। ऋषयोः भद्राम मेधाम या विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥*[10]

अथर्ववेद में देवी प्रमति के रूप में इसी प्रकृष्ट, सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि की प्रार्थना की गई है जो कार्य आरंभ करने के लिए आवश्यक है। ऋग्वेद में तो श्रद्धा का गौरव और महत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन है। श्रद्धा अभीष्ट फलदात्री, वैभव की अधिष्ठात्री है - *श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धा हृदययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।*[11]

गीता में प्रकाशवान निर्माणात्मक और क्रियाशील बुद्धि को मानव जीवन के लिए आवश्यक बताते हुए कहा गया है - *बुद्धौ शरणम अन्विच्छ ।*[12]

प्राचीन भारतीय दर्शन व शास्त्रों में तर्क शास्त्रीय प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है।

श्रद्धा तर्क बुद्धि समन्वय

भारतीय दृष्टिकोण में अथवा वैदिक दृष्टिकोण में श्रद्धा एवं तर्क के विरोध का अभाव है। मानव जीवन के लिए दोनों की अनिवार्यता है तथा श्रद्धा और तर्क परस्पर आत्मनिर्भर अथवा आश्रित हैं। यह परस्पर पूरक एवं एक दूसरे के लिए प्रेरक हैं। ऋग्वेद में छुरी की धार सी तेज बुद्धि की प्रार्थना की गई है। साथ ही समान मंत्र में ही दिव्य गुणों से युक्त भक्त बनाने की प्रार्थना प्राप्त होती है- यह वैदिक दर्शन का उदाहरण है जिसमें श्रद्धा और तर्क बुद्धि में कोई विरोधाभास नहीं है। बुद्धि को तेज, पवित्र, सूक्ष्म व विकसित करने की प्रार्थना की गई है ताकि सत्यासत्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। अथर्ववेद

में श्रद्धा और मेधा दोनों के समन्वय को दर्शाते हुए दोनों के लिए अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है – *अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु।।*[13]

श्रद्धा विहीन तर्क के दुष्परिणाम श्रद्धा के अभाव को अश्रद्धा कहा जाता है। अश्रद्धा पर आधारित तर्क लक्ष्यहीन वाहन के समान भ्रमित हो जाता है और अपने निष्कर्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है। यदि कोई वैज्ञानिक बिना किसी हाइपोथेसिस की स्थापना किए शोध करता है तो संभवत वह निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व ही अपने शोध को संपूर्ण मान लेगा अथवा निष्कर्ष प्राप्ति पर पहुंचने के बाद भी उसे स्वीकार नहीं कर सकेगा। यह श्रद्धा विहीन तर्क कुतर्क में परिवर्तित हो जाता है। नकारात्मक प्रवृत्ति के कारण यह संदेह युक्त रहता है तथा दोषदर्शिता की प्रवृति को प्राप्त कर लेता है अर्थात चारों ओर निराशा, अनिष्ट, आशंकाओं और असुरक्षा को देखता है। उसके पास तथ्य होते हैं परंतु जीवन मूल्य नहीं। ऐसे वैज्ञानिक एटम बम और न्यूक्लियर बम जैसे विध्वंसकारी शस्त्रों या यंत्रों की रचना करते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए मानव जीवन का मूल्य नगण्य होता है स्वयं का तथा औरों का भी। यह शुष्क तर्क युक्तिवाद में फंसा रहता है और कर्तृत्व शक्ति तथा निर्माण शक्ति से शून्य होता है।

तर्क विहीन श्रद्धा - इसे अति श्रद्धा या अंधश्रद्धा कहना उचित होगा। यह मानव को अज्ञानी और असहिष्णु बनाती है। अंधश्रद्धा के कारण वह सत्य का अनुकरण नहीं कर पाता और सत्य के अभाव में सत्य निष्ठ श्रद्धा भी उसक त्याग कर देती है। तब अपनी छद्म श्रद्धा को वास्तविक एवं सत्य सिद्ध करने के लिए वह अपने मत की स्थापना और अन्य मतों के खंडन हेतु प्रपंच रचता है और अज्ञान के अंधकार को और अधिक गहरा कर लेता है। इस श्रद्धा को भक्ति का नाम देना उचित नहीं होगा क्योंकि यह अपने श्रद्धेय तक पहुंचने में सफल नहीं हो सकती। भक्ति के लिए ज्ञान को अनिवार्य बताते हुए गीता में कहा गया है – *न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते* ।[14]

गुरु और शास्त्र के वाक्यों के सत्य को तर्क द्वारा प्रमाणित करने को बुद्धिमान लोग श्रद्धा कहते हैं जिससे वस्तु का लाभ होता है अंतर में उपस्थित सत्य का लाभ होता है। यहां सत्य बुद्धि अवधारणा श्रद्धा के लिए तर्क की अनिवार्यता को दर्शाता है। अंधश्रद्धा परंपराओं के रूप में, अंधविश्वासों के रूप में अपना साम्राज्य बनाए रखती है। इसे चमत्कारों की अपेक्षा होती है। सत्य से दूर होने के कारण यह स्वयं भी असत्य होती है। इसमें निर्माण शीलता का अभाव होता है और यह आत्मघाती होती है अर्थात स्वयं अंधश्रद्धावान व्यक्ति का सर्वनाश कर देती है। कुपात्र पर श्रद्धा भी अश्रद्धा का ही अन्य रूप है जिससे व्यक्ति भ्रमित एवं दिशाहीन हो जाता है। वर्तमान समय में स्वघोषित स्वयंभू धर्मगुरुओं पर अत्यंत श्रद्धा के दुष्परिणाम ज्ञात ही हैं। अतः अंधश्रद्धा उचित नहीं है। गीता में कहा गया है *अज्ञश्च अश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति*[15] अर्थात अज्ञानी, श्रद्धा से रहित तथा संशय में पड़ा व्यक्ति सर्वनाश को प्राप्त करता है।

अतः वर्तमान समस्याओं का समाधान वेदों में वर्णित है। यदि वैदिक श्रद्धा तर्क समन्वय पर शिक्षा प्रणाली आधारित हो तो श्रेष्ठ बुद्धि और सच्ची श्रद्धा से समग्र चरित्र निर्माण संभव है। विशुद्ध वैदिक दृष्टिकोण से युक्त आस्तिक्य बुद्धि संपन्न मानव ही विश्व की समस्याओं को श्रद्धा -तर्क समन्वय के आधार पर सुलझा सकता है। वैदिक संस्कृति में प्रतिपादित श्रद्धापूर्ण तर्कशीलबुद्धि सभी वैचारिक एवं धर्मसम्बन्धी विरोधाभासों का निराकरण करने में सक्षम है और वर्तमान समय में विश्व में व्याप्त विभ्रम को दूर करने के लिए अनुकरणीय है। यही कारण है कि पाश्चात्य जगत अपने प्रश्नों का उत्तर भारतीय अध्यात्म में प्राप्त करके सन्मार्ग की ओर प्रवृत हो रहा है।

---

[1] अथर्ववेद 19/64/1
[2] मांडूक्योपनिषद् 4.2
[3] निघण्टु 3.10
[4] डुधाञ् धारणपोषणयोः
[5] यजुर्वेद 19.30
[6] ऋग्वेद 10.151.1
[7] गीता 4.39
[8] सामवेद मं. 90
[9] अथर्ववेद 6.108.2
[10] अथर्ववेद 6. 108.3
[11] ऋग्वेद 10.151.4
[12] गीता 2.49
[13] अथर्ववेद 19/64/1
[14] गीता 4.38
[15] गीता 4.40

वैदिक वाङ्मय में परिवार की अवधारणा

• डॉ. रेनू कोछड़ शर्मा

शोधसार - वैदिक वाङ्मय की परिधि विषय-वैविध्य तथा बहुआयामी चिन्तन से आपूर्ण है। वर्तमान सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि आज परिवार विघटित हो रहे हैं, परिवारों में अशान्ति, द्वेष तथा स्वार्थपरता पदे-पदे दृष्टिगत होती है। जबकि भारतीय संस्कृति के प्राणस्वरूप वैदिक वाङ्मय में परिवार के उच्चतम आदर्श प्राप्त होते हैं। परिवार ही मुख्यतः सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन की मूल इकाई के रूप में प्रतिष्ठापित है। वैदिक दृष्टि में परिवार पति-पत्नी, सन्तान और वृद्धजनों के परस्पर एकीकरण, कर्तव्यबोध तथा सामूहिक उत्तरदायित्व पर आश्रित है। गृहस्थाश्रम को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपासना का प्रमुख आधार माना गया है। सन्तानोत्पत्ति मात्र वंशवृद्धि का साधन नहीं है, अपितु नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्तराधिकार के संरक्षण का श्रेष्ठ उपाय है। अतः वैदिक वाङ्मय में परिवार - नैतिक और आध्यात्मिक समाज-निर्माण की आधारभूमि के रूप में वर्णित है, जिसकी प्रासङ्गिकता तथा उपादेयता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। अस्तु, प्रस्तुत शोधपत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य वैदिक वाङ्मय में निरूपित परिवार की अवधारणा को प्रस्तुत करना है।

बीजशब्द: - परिवार, विवाह, सप्तपदी, पति-पत्नी, यज्ञ, सन्तान, गृहस्थाश्रम, प्रजा, सांमनस्य तथा सहृदयता आदि।

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति, परिवार तथा समाज से सम्बन्धित अनेक उत्कृष्ट आदर्शों का निदर्शन प्राप्त होता है। संस्कृति के पोषक तत्त्वों में साहित्य का अन्यतम स्थान है। तदनुसार वैदिक वाङ्मय में परिवार की सुन्दर परिकल्पना की गई है। परिवार ही व्यक्ति की सामाजिकता का प्रथम सोपान है। व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज बनता है, अतः सुखी समाज के निर्माण के लिए पहले व्यक्ति और फिर परिवार से ही सुदृढ़ समाज का निर्माण होता है। इसी दृष्टि से वेद में व्यक्ति के साथ-साथ परिवार की मर्यादाओं और कर्त्तव्यों का विस्तृत निर्देश प्राप्त होता है।

* सहायक आचार्या (वैदिक अध्ययन) संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्यभाषा विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)

वैदिककाल से ही परिवार मनुष्य के सामाजिक जीवन की मुख्य आधारभूमि रहा है। व्यक्ति तथा समाज के उन्नयन में परिवार की महती भूमिका रही है। परिवार के मूल के रूप में पति तथा पत्नी को स्वीकार किया गया है। मानव जीवन मृत्यु तथा अमरत्व सदृश दो विरोधी तत्त्वों का एकत्र समन्वय है। मरणधर्मा मनुष्य अपनी सन्तान के रूप में विद्यमान अपने अंश से मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है। ऋग्वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हम अपनी प्रजा अर्थात् सन्तान के द्वारा अमरत्व का भोग करें - **प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्** ।[1] अर्थात् सन्तान के माध्यम से व्यक्ति अपने परिवार को व्यापक रूप प्रदान करता है तथा मृत्यु के पश्चात् भी दीर्घकाल उन सन्तानों के द्वारा पृथिवी पर विद्यमान रहता है। इसी क्रम में उल्लेख्य है कि स्नातक के उपरान्त आचार्य शिष्य को सन्तानरूपी तन्तु को विच्छेद न करने का उपदेश देते हैं-

प्रजातन्तुः मा व्यवच्छेत्सीः ।[2]

मा तन्तुश्छेदि ।[3]

यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण भी घोषणा करता है कि पति निश्चय से पति का आधा अंश है, अतः जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त करके सन्तान उत्पन्न नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता । किन्तु जब वह पत्नी प्राप्त करके सन्तति की प्राप्ति करता है तो वह पूर्ण बन जाता है -**अर्धो ह वा ऽएष आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति** ।[4]

ध्यातव्य है कि सन्तान, सन्तति, तनय और तनया इत्यादि पद √तनुविस्तारे से निष्पन्न होते हैं, अर्थात् सन्तान के द्वारा मनुष्य का विस्तार होता है, यह तथ्य औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। निरुक्तकार यास्क के अनुसार भी पिता के शरीरावयवों से पुत्र की उत्पत्ति होती है-

अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामानि स जीव शरदः शतम् ।[5]

सन्तानोत्पत्ति से परिवार की वृद्धि के साथ ही साथ आत्मसंरक्षण तथा धर्मपालनादि अनेक प्रयोजनों की सम्पूर्त्ति होती है।

परिवार का मूल आधार विवाह संस्कार एवं गृहस्थाश्रम है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के लगभग तीन सूक्तों में विवाह संस्कार का वर्णन उपलब्ध होता है।[6] उक्त सूक्तों में पारिवारिक व्यवस्था को सुखमय बनाने की दृष्टि से पति-पत्नी के कर्तव्यों का विस्तृत परिचय भी प्राप्त होता है। उल्लेख्य है कि पति-पत्नी के सम्बन्धों की दृढ़ संस्था परिवार है, जिसकी नींव 'विवाह' नामक महत्त्वपूर्ण संस्कार में रखी जाती है।

'विवाह' शब्द का तात्पर्य - विशेष रूप से विविध कर्तव्यों का वहन करना ही 'विवाह' है। ध्यातव्य है कि यहाँ विवाह भोग-विलास के लिए कथमपि नहीं, अपितु गृहस्थ धर्म के पालन के लिए विहित है। गृहस्थ को आश्रम कहा जाता है और आश्रम शब्द **'आ समन्तात् श्रमः यत्र स आश्रमः,**

गृहस्थे आश्रमः गृहस्थाश्रमः' - इस भाव को प्रकट करता है कि गृहस्थ आश्रम - वह साधना-स्थली है, जहाँ रहने वाले दम्पती एवं परिवार के अन्य सदस्य कठोर परिश्रम करते हैं।

वैदिक विवाह-पद्धति में 'सप्तपदी' की क्रिया आदर्श गृहस्थ-जीवन का एक उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है, प्रत्येक पद का विशेष महत्त्व है, तद्यथा-

- पहला पद अन्न के लिए -**इषे एकपदी**
- दूसरा पद बल के लिए - **ऊर्जे द्विपदी**
- तीसरा पद धन एवं ज्ञान के लिए - **रायस्पोषाय त्रिपदी**
- चौथा पद सुख के लिए-**मयोभवाय चतुष्पदी**
- पाँचवाँ पद सन्तान के लिए- **प्रजाभ्यः पञ्चपदी**
- छठा पद ऋतुओं के लिए -**ऋतुभ्यः षट्पदी**
- सातवाँ पद मित्रता के लिए - **सखे सप्तपदी** रखा जाता है।

गृहस्थ जीवन ही परिवार का केन्द्र है, अतः गृहस्थ निर्माण का आधारभूत दाम्पत्य अथवा पति-पत्नी का संयोग है। इस आदर्श दाम्पत्य की कामना वेद में अधोलिखित प्रकार से की गई है-

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा समु धाता देष्ट्री दधातु नौ ॥[7]

अर्थात् सब विद्वान् और दिव्य शक्तियाँ मिलकर ऐसा करें कि हम दोनों (पति-पत्नी) के हृदय जलों की भाँति एकरूप हो जायें, वायु की भाँति समान गुण-कर्म वाले हो जायें, परमात्मा के द्वारा धारण की गई सृष्टि के समान एक-दूसरे को धारण करें और वक्ता तथा श्रोता की भाँति परस्पर प्रीति रखें।

ऐसे आदर्श दम्पती को वेद में आशीर्वाद प्रदान किया गया है कि तुम इस गृहस्थाश्रम में आनन्दपूर्वक पूर्ण आयु का भोग करो, तुम्हारा कभी वियोग न हो और पुत्र-पौत्रों के साथ अपने घर में खेलते हुए जीवन बिताओ-

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥[8]

दम्पती की गृहस्थ-साधना का लक्ष्य सन्तति-निर्माण है। पत्नी को 'जाया' इसीलिए कहा जाता है कि उसमें सन्तान रूप में पति स्वयं जन्म लेता है-

अर्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया। तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते।[9]

सन्तान के लिए सुख-सुविधा, शिक्षा-दीक्षा के साधन जुटाना पति-पत्नी का कर्तव्य है। वेद में जहाँ एक ओर '**दशवीरा जयेम**' जैसे वाक्यों में दश वीर पुत्रों की कामना है, वहीं दूसरी ओर '**बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश**' भी कहा गया है, जिसका सन्देश है कि अधिक सन्तान वाला गृहस्थ कष्टों में पड़ता है।

इस भाँति पति-पत्नी और सन्तान को मिलाकर जिस परिवार का निर्माण होता है उसमें सबका परस्पर कैसा व्यवहार हो, इस हेतु वेद का आदेश है-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥[10]

अर्थात् परिवार में पुत्र अनुव्रत हो और माता के साथ समान मन वाला हो तथा पत्नी पति से मधुर और सुखद वाणी बोले। 'अनुव्रत' का अभिप्राय है कि जैसा पिता का आचरण है वैसा ही पुत्र का हो। इसके लिए पहले पिता को अपना आचरण संयत करना होगा। माता के प्रति पुत्र के हृदय में सम्मान की भावना हो, किन्तु पत्नी रूप में उस माता का कर्तव्य है कि वह पति के प्रति मधुरभाषिणी हो। साथ ही भाई-भाई से द्वेष न करे, बहिन-बहिन से ईर्ष्या न करे और सब परिवारजन एक से विचारों वाले और एक प्रकार से कर्म करने वाले हों तथा परस्पा शिष्टतापूर्वक वार्तालाप करें-

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

समयञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[11]

परस्पर प्रेम परिवार के सुख का आधार है और ऐसे प्रेममय वातावरण में परिवार सुख-शान्ति एवं समृद्धि से भरा रहेगा। ऐसे परिवार के लिए वेद मन्त्र में प्रार्थना है कि-

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।

अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥[12]

हे गृहस्थों! तुम लोग 'सूनृता' वाणी अर्थात् सत्य, मधुर वाणी बोलो, श्रेष्ठ धन कमाओ, भरपूर अन्न वाले बनो, सदैव प्रसन्नता से आपूर्ण रहो, तृष्णा से रहित, सन्तुष्ट तथा तृप्त रहो-ऐसी मर्यादाओं से युक्त तुम लोग हमसे, अर्थात् अतिथियों से मत डरो। स्पष्ट है कि जब परिवार इन मर्यादाओं का पालन करेंगे तो वहाँ अतिथियों का स्वागत-सत्कार भी होगा और फिर उनसे डरने की आवश्यकता ही न होगी। गृहस्थों के लिए पञ्च महायज्ञों का विधान किया गया है, उनमें 'अतिथियज्ञ' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः परिवार में सौहार्द-सद्भावना के साथ-साथ सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन भी होना चाहिए-यही वेद का सन्देश है।

आज व्यक्तिवादी, स्वार्थप्रधान पाश्चात्य संस्कृति के प्रचार से परिवार संस्था का वह उदात्त, उत्कृष्ट रूप देखने को नहीं मिलता जिसमें सब परिवारजन एक-दूसरे के प्रति सम्मान एवं साहचर्य का भाव रखते थे तथा अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों पर ध्यान देते थे। यही कारण है कि आज श्रेष्ठ मानवों का सर्वत्र अभाव दिखाई देता है, क्योंकि परिवार ही मानव-निर्माण की कार्यशाला है। माता-पिता विद्यार्थी, अध्यापक, उपदेशक, चिकित्सक, व्यापारी, नेता अभिनेता- आदि सभी का व्यक्तित्व मूलतः परिवार में ही बनता है, अतः परिवार के सुधार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए वेद उद्बोधन देता है कि-

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥[13]

हे परिवारजनों ! तुम लोग अपने बड़ों का मान करने वाले बनो, बुद्धिमान् होकर परस्पर वृद्धि के लिए कर्म करो तथा एक-दूसरे के लिए सत्य और मधुर वचनों का प्रयोग करो, एक-दूसरे के मन को समझते हुए सहगामी और सहचारी बनो जैसे बैल आदि पशु एक जुए में जुड़ कर चलते हैं और भार वहनादि कार्यों को सम्पन्न करते हैं। जब इसी भाँति समस्त परिवारजन अपने दायित्व को समझते हुए एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए मिलकर चलते हैं तो 'सौमनस्य' की सृष्टि होती है और पृथ्वी पर ही स्वर्ग का सुख फैलता है-

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसौ वो अस्तु ॥[14]

परिवार की दृढता के लिए परस्पर 'सांमनस्य' होना अत्यन्त आवश्यक है, जब तक सबके हृदय एक नहीं होंगे, तब तक विचार एक से नहीं होंगे तो विरोध होना स्वाभाविक है। परस्पर विरोध होने पर भी सब एक-दूसरे का अनिष्ट नहीं सोचेंगे और क्षुद्र, स्वार्थप्रेरित व्यवहार नहीं करेंगे, सम्भवतः यही कारण है कि सब 'संसेवन' के आश्रय से 'एक-श्नुष्टि' बनें अर्थात् अनुशासित हों। किन्तु सामान्य मानव स्वभाव को देखते हुए यह विधान वस्तुतः कुछ कठिन प्रतीत होता है, अतः पुनः प्रेरणा देते हुए कहा गया है-

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥[15]

हे गृहस्थो! मैं तुम लोगों के लिए घर में वही कर्म निश्चित करता हूँ, जिससे विद्वान् लोग आचरण करते हैं और न तो परस्पर द्वेष करते हैं और न ही पृथक् होते हैं। तुम लोग भी उसी भाँति परस्पर प्रीतिपूर्ण व्यवहार करो और ऐश्वर्य को प्राप्त करो। विद्वानों के अनुसार आचरण करने से परिवार में सुख-शान्ति होगी और परिवार शान्त ओने से समाज में भी शान्ति का साम्राज्य होगा। किन्तु इस कार्य के लिए परिवार के बुजुर्गों को पहल करनी चाहिए। उनका कर्तव्य है कि वे अपने पुत्र-पुत्रियों को ऐसी शिक्षा से सुसंस्कृत करें जो सदाचार को और सुमति को बढ़ाने वाली हो तथा उन्हें बुराईयों से बचायें-

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुरगाद् वसवः सुदानवो विश्वस्मान् नो अंहसो निष्पिपर्त्तन् ॥[16]

अतः जो वृद्धजन 'सुप्रवाचना' (अच्छे, उत्तम वचन बोलने वाले) तथा 'सुदानवः' (अच्छे संस्कारों को देने वाले) हैं, उनके लिए उनके परिवारजनों का स्वाभाविक सम्मान होता है तथा वे उन्हें सदा आदरपूर्वक बुलाते हैं और कहते हैं कि-

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥[17]

अपने पिता, पुत्र, पौत्र, दादा, पत्नी, उत्पन्न करने वाली माता को और जो भी प्रिय हैं, उन सबको मैं सम्मान से बुलाता हूँ। ऐसे परिवार में जहाँ बड़े छोटों का ध्यान रखें और छोटे बड़ों का मान करें, सबके प्रति स्नेह-भाव का विस्तार होना स्वाभाविक है तथा ऐसे स्नेहमय वातावरण में ही गृहस्वामी की यह अभिलाषा सार्थक होती है कि मेरे घर में मेरी माता सुख से सोये, पिता सुख से सोये, कुत्ता सुख से सोये, प्रजापति सुख से सोये, सब सम्बन्धी सुखपूर्वक सोयें और आस-पास सब लोग सुख से सोयें-

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः ॥[18]

परिवार के माहात्म्य विषयक अन्य ध्यातव्य तथ्य -

- परिवार के सभी लोग निर्भय होकर जीवन व्यतीत करें तथा विपत्तियों में न घबरायें-

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वम्, ऊर्जं बिभ्रत एमसि ।[19]

- माता-पिता के कर्तव्यों में बताया गया है कि वे प्रभूत दान देने वाले तथा मधुरभाषी हों – **पिता माता मधुवचाः सुहस्ता ....** ।[20]
- गृहस्थ जीवन में अतिथि-सत्कार का अत्यन्त महत्त्व है। जो गृहस्थ अतिथि से पूर्व भोजन करता है उसके इष्टापूर्त नष्ट हो जाते हैं –

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥[21]

साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि श्रोत्रिय अथिथि को पहले भोजन कराना चाहिए तत्पश्चात् स्वयं भोजन ग्रहण करना चाहिए-

एष वा अतिथिर्यत् श्रोत्रियः तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ।[22]

- ऋषि सुशील पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं-

साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ।[23]

- वेद का उद्घोष है कि पत्नी गृहस्वामिनी के रूप में गृह का ध्यान रखे-

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञयेधि पत्युरस्तं परेत्य।।[24]

(अर्थात् जिस प्रकार बलवान् समुद्र ने नदियों के साम्राज्य को उत्पन्न किया, उसी प्रकार तुम (पत्नी) पति के घर को प्राप्त करके सम्राज्ञी होना।)

- पत्नी के मुख्य कर्तव्यों में क्रमशः सन्तानोत्पत्ति, सदैव जागरूक तथा सजग रहना, पति के साथ उत्तम व्यवहार तथा ज्ञानविषयक सभाओं में सम्मिलित होना परिगणित हैं-

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यताम् अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्व अधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥[25]

- यज्ञप्रधाना वैदिक संस्कृति में पत्नी का पति[26] तथा परिवार[27] के साथ यज्ञ करने का वर्णन मिलता है।
- दाम्पत्य के सुख का आधार वस्तुतः पति-पत्नी का अगाध स्नेह ही है-

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुतम्॥[28]

(अर्थात् हे इन्द्र! चक्रवाक दम्पती के तुल्य इस दम्पती को इस संसार में प्रेरित करो। ये दोनों सुन्दर घर वाले, सन्तान से युक्त होकर पूर्ण आयु को प्राप्त करें।)
वेदमन्त्रों में पुनः पुनः पति-पत्नी के हृदय[29] मिले रहें, मन[30] एक समान रहें तथा उनके हृदय एक दूसरे के लिए सदैव निश्छल[31] रहें।

इस प्रकार सबके प्रति हित-भावना से प्रेरित तथा परिवार के वृद्धजनों के आशीर्वाद को प्राप्त करके गृहस्थ पवित्र आचरण वाले होते हैं तथा आनन्दपूर्वक सम्पूर्ण आयु भोगते हैं; साथ ही उनके पितर, पितामह और प्रपितामह शान्त एवं सन्तुष्ट होकर उन्हें पवित्र करते हैं-

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। .... विश्वमायुर्व्यश्नवै॥[32]

इस प्रकार वैदिक पृष्ठभूमि में वस्तुतः आदर्श परिवार वही है, जहाँ समस्त परिवारजन अपने लौकिक, व्यावहारिक कर्तव्यों एवं सम्बन्धों का भली-भाँति पालन करते हैं तथा परस्पर स्वाभाविक स्नेह-सूत्र में आबद्ध रहते हैं। इस प्रकार के परिवार का निर्माण करने के लिए पारिवारिक सदस्यों में क्रमशः तीन भावों का होना अत्यन्त अनिवार्य है- सहृदयता अर्थात् सहानुभूति, सांमनस्य अर्थात् समान विचार तथा अविद्वेष अर्थात् वैर-विरोध का त्याग और जब ये तीनों भावनायें विकसित होती हैं तो मनुष्य आपस में एक-दूसरे के प्रति ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं, जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से करती है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ [33]

यही वह भव्य भावभूमि है जहाँ समग्र विश्व एक परिवार बन जाता है-

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।[34]

आधुनिक युग में जब विज्ञान के प्रभाव से संचार-माध्यमों का इतना विकास हो चुका है कि समस्त ब्रह्माण्ड शारीरिक और भौतिक दृष्टि से अत्यन्त निकट आ गया है, तब आवश्यकता इस बात कि है मनुष्यों के मन भी एक-दूसरे के निकट हों तथा उनमें कृत्रिम भावों के स्थान पर सहृदयता का विकास हो, जिससे मानवता सुरक्षित रह सके और वैदिककालीन परिवार के आदर्श की पुनर्स्थापना की जा सके। वेद मन्त्र में सुखद परिवार हेतु प्रार्थना समुपलब्ध होती है- छलनी में छानकर शुद्ध करते हुए अधिक श्रेष्ठ और अधिक नवीन आयु धारण करते हुए हम (गृहस्थ) लोग अपने मैल को (पाप या दोषों

को) दूर करें और फिर उत्तम सन्तान और उत्तम धन से बढ़ते हुए (हमारे) घरों में सुगन्धियाँ हों अर्थात् हमारे विचार शुद्ध हों, आचरण श्रेष्ठ हों, आयु दीर्घ हो, सन्तान उत्तम हो, धन-वैभव प्रचुर हो तथा परिवारों में खुशियाँ हों-

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु॥ [35]

सन्दर्भ –

1 ऋग्वेद, ५.४.१०
2 तैतिरीयोपनिषद्, १.११.१
3 ऋग्वेद, २.२८.५
4 शतपथ ब्राह्मण, ५.२.१.१०
5 निरुक्त, ३.४
6 ऋग्वेद, १०.८५.१-४७; अथर्ववेद, १४.१.१-६४, अथर्ववेद, १४.२.१-७५
7 ऋग्वेद, १०.८५.४७
8 ऋग्वेद, १०.८५.४२
9 शतपथ ब्राह्मण, ५.२.१.१०
10 अथर्ववेद, ३.३०.२
11 अथर्ववेद, ३.३०.३
12 अथर्ववेद, ७.६०.६
13 अथर्ववेद, ३.३०.५
14 अथर्ववेद, ३.३०.७
15 अथर्ववेद, ३.३०.४
16 ऋग्वेद, १.१०६.३
17 अथर्ववेद, ९.५.३०
18 ऋग्वेद, ७.५५.५
19 यजुर्वेद, ३.४१
20 ऋग्वेद, ५.४३.२
21 अथर्ववेद, ९.६.३१
22 अथर्ववेद, ९.६.३७
23 अथर्ववेद, २०.१२९.५
24 अथर्ववेद, १४.१.४३
25 ऋग्वेद, १०.८५.२७; अथर्ववेद,१४.१.२१
26 सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान्।- अथर्ववेद, १४.२.२५
27 तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सर्पयतु ।-अथर्ववेद, १४.२.२३
28 अथर्ववेद, १४.२.६४
29 ऋग्वेद, १०.८५.४७
30 अथर्ववेद, ७.३६.१
31 अथर्ववेद, १४.१.५७
32 यजुर्वेद, .३७
33 अथर्ववेद, ३.३०.१
34 यजुर्वेद, ३२.८
35 अथर्ववेद, १८.३.१७

ध्वनिसिद्धान्त के विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान

• डॉ. सन्त प्रकाश तिवारी

शोधसार - संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों में एक ध्वनि सम्प्रदाय भी है। यह सिद्धान्त आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा पुरोवर्तित है। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। ध्वनि शब्द यहाँ प्रतीयमान अर्थ और ध्वनन व्यापार का द्योतक है, जो व्यञ्जना वृत्ति पर आश्रित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' नाम्नी व्याख्या लिखकर ध्वनि सम्प्रदाय को दृढ़ता प्रदान की है। प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने स्वरचित ग्रन्थ स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग एक में आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य के स्वरुप का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि ध्वन्यर्थ सहित शब्दों एवं अर्थों के उसी सुसङ्गठित समुदाय को काव्य कहते हैं जिसमें गुणालङ्कार से उद्भूत सौन्दर्य होता है। इनका ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का आधार शैवदर्शन ही प्रतीत होता है। शैवदर्शन में आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया कि शिव की परा आदि शक्तियाँ अव्यक्त रूप से शिव में विद्यमान रहती हैं तथा विश्व का उन्मीलन करती हैं। यही बात काव्यपक्ष में ध्वनि के विषय में घटित होती है। ध्वन्यार्थ भी सदैव व्यङ्ग्य होता है। नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा भी अपनी शक्ति द्वारा एक पृथक् ही संसार का उन्मीलन करती है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यर्थ की व्याख्या मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक रूप में की है।

बीजशब्द - ध्वनि, ध्वन्यर्थ, व्यञ्जना, रस-चर्वणा, ब्रह्मास्वादसहोदर, उन्मीलन, सहृदय, नवनवोन्मेषशालिनी, संवित्, चित्तवृत्ति, पूर्णाह्लता।

ध्वन्यालोक का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जिस समय साहित्य में अलङ्कारों को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त था। काव्य के सौन्दर्य हेतु अलङ्कार को ही अनिवार्यता से स्वीकार किया गया था। साहित्यशास्त्र को अलङ्कारशास्त्र तथा साहित्यशास्त्री को आलङ्कारिक कहा जाने लगा था। यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों को व्यङ्ग्य का आभास था परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन प्रथम

* सहायकाचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

आचार्य हैं जिन्होंने व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता को समझाते हुए इसे आत्मपद पर प्रतिष्ठित किया।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है "जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त (अभिव्यक्त) करते हैं वह 'काव्यविशेष' विद्वान् लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।[2] आचार्य आनन्दवर्धन ने वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसादि नाम से ध्वनि के तीन भेद भी किए हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धान्त के विकास में सहयोग दिया कि उन्होंने ध्वन्यर्थ की व्याख्या मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक रूप में की। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो रसध्वनि को ही आत्मतत्त्व सिद्ध किया है।[3] **अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध- व्यवहारं लक्ष्यतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।**[4] की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि विमति के मार्ग में पड़े हुए ध्वनि का स्वरूप लक्षित करते हुए के मन में आनन्द, जो निर्वृत्ति रूप और दूसरे शब्द में चमत्कार है, प्रतिष्ठा को, अर्थात् विपर्यास आदि से उपहत दूसरे द्वारा अनुन्मूलित होने के कारण स्थिरता को प्राप्त करे।[5] अर्थात् आचार्य आनन्दवर्धन को भी आनन्दास्वाद का प्राधान्य ही अभीष्ट है। इसलिए रसध्वनि का ही सर्वत्र मुख्य आत्मत्व प्रदर्शित होता है।[6] आचार्य अभिनवगुप्त का यह भी मत है कि कवि, अभिनेता नायक और सहृदय के अनुभव समान रूप से ही होते हैं। यदि कवि का मूल अनुभव कला के रूप में देखी गयी प्रकृति से उत्पन्न न होकर किसी पूर्णरूप कलाकृति से ही उद्भूत होता तो कवि का पृथक् रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता न पड़ती।[7] केवल व्यञ्जना व्यापार से अनुभूत होने वाले आनन्दास्वाद रूप रस, जिसे दूसरे शब्दों में रसध्वनि कहा गया है, शब्दों द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संवाद (सङ्गति) रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से (आत्मा में विशेषरूप से) रहनेवाली रत्यादि वासनाओं के अनुराग (उद्बोध) के द्वारा सुकुमार एवं सहृदय की संवित् (मन) का, आनन्दमय चर्वणारूप व्यापार के द्वारा आस्वादन के योग्य रस है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर रसध्वनि है और वह ध्वनि ही है। वही मुख्यरूप से काव्य की आत्मा है।[8]

इसको भट्टनायक ने भी आत्मरूप में स्वीकार करते हुए कहा है- यदि वह वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का ही सम्भवतः उपालम्भ है तो उन्होंने ही 'रसध्वनि' को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका निर्णय है कि रस-चर्वणारूप तीसरा अंश अभिधा और भावनारूप दो अंशों से अतिरिक्त है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि का 'रसध्वनि' में ही पर्यवसान है।[9] क्योंकि ब्रह्मास्वादसहोदर में वही ध्वनि प्रधानतया सिद्धि रूप है।[10] अतः रस ध्वनि में ही आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि– विभावादिरूपता में पर्यवसान होने के कारण, रसादि तात्पर्य ही सिद्ध होता है ऐसी स्थिति में सर्वत्र रसध्वनि का ही आत्मत्व है।[11] ध्वनि के तीन भेदों वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि का भी पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। अतः रसध्वनि मात्र काव्य की आत्मा है।[12]

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यस्वरूप के खण्डन में आचार्य आनन्दवर्धन के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि **'काव्य की आत्मा ध्वनि है'** ऐसा, तो क्या उसमें वस्तु, अलङ्कार और रसादि तीनों ध्वनियाँ काव्य की आत्मा है? अथवा रसादि ध्वनि ही? प्रथम (त्रिरूप ध्वनि) काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। क्योंकि इससे प्रहेलिका आदि में अतिव्याप्ति होती है। दूसरी (रसादिध्वनि) यदि काव्य की आत्मा है तो, ठीक है। हम भी ऐसा कहते-स्वीकारते हैं।[13]

इनके अनन्तर मम्मटाचार्य ने भी रत्यादि के द्वारा रसध्वनि को ही सर्वोत्कृष्ट बताते हुए कहते हैं कि मुख्य रस के विद्यमान होने पर कहीं-कहीं वे (भावशान्ति आदि अङ्गित्व अर्थात्) प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं।[14] रसगङ्गाधर के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि पण्डितराज को भी रसध्वनि का आत्मत्व अभीष्ट है क्योंकि रस, वस्तु, अलङ्कार, अर्थान्तर सङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य रूप पाँच प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि ही परम रमणीय है।[15]

प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने काव्य के स्वरूप का उल्लेख करते कहा है कि सन्देह शून्य रूप में यह स्वीकार किया गया है कि ध्वन्यर्थ काव्य की आत्मा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ध्वन्यर्थ मात्र ही काव्य है। ध्वन्यर्थ के अस्तित्व के कारण ही किसी कथन को काव्य मान लेना वैसा ही युक्तिहीन है जैसा कि सर्वव्याप्त आत्मा के सर्वत्र विद्यमान होने के कारण एक घट को 'जीव' मान लेना होता है। जिस प्रकार से मनुष्य या किसी प्राणी की कुछ विशेष अवस्थाओं में जब आत्मा का अस्तित्व होता है तभी उस शरीर को जीव कहते हैं और उस प्रत्येक वस्तु को जोव नहीं कहते हैं जिसमें सर्वव्याप्त आत्मा का अस्तित्व होता है, उसी प्रकार से ध्वन्यर्थ सहित शब्दों एवं अर्थों के उसी सुसङ्गठित समुदाय को काव्य कहते हैं जिसमें शब्दार्थगुणालङ्कार[16] से उद्धुत सौन्दर्य होता है। यही कारण है कि गङ्गायां घोषः (गङ्गा पर छोटा गाँव बसा है) अथवा सिंहो माणवकः (यह बालक सिंह है) आदि कथनों में ध्वन्यर्थ वर्तमान होने पर भी उनको काव्य नहीं माना जा सकता है। काव्यकृति में ध्वन्यर्थ के साथ शब्दों और अर्थों, उनके गुणों एवं अलंकारों तथा रीति एवं वृत्ति का परस्पर वही सम्बन्ध है जो आत्मा, शरीर एवं उसके अलङ्कार आदि में परस्पर वर्तमान होता है। जिस प्रकार से प्राणी के अस्तित्व ही के लिए आत्मा आवश्यक है उसी प्रकार से ध्वन्यर्थ भी काव्यकृति के लिए आवश्यक है।[17]

महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक को लोचन प्रदान किया है। इनका ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का आधार भी शैवदर्शन ही प्रतीत होता है। शैवदर्शन में आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया कि शिव की परा आदि शक्तियाँ अव्यक्त रूप से शिव में विद्यमान रहती हैं तथा विश्व का उन्मीलन करती हैं। यही बात काव्यपक्ष में ध्वनि के विषय में घटित होती है। ध्वन्यार्थ भी सदैव व्यङ्ग्य होता है। नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा भी अपनी शक्ति द्वारा एक पृथक् ही संसार का उन्मीलन करती है। जिसकी उन्मीलन शक्ति से ही क्षण में विश्व उन्मीलित हो जाता है उस अपने

आयतन में स्थित शिव प्रतिभा की वन्दना करता हूँ।[18] इसी प्रकार द्वितीय उद्योत के अन्त में पश्यन्ती,[19] तृतीय उद्योत के अन्त में मध्यमा[20] तथा चतुर्थ उद्योत के अन्त में तुर्याशक्ति के सादृश्य से ध्वनि का निरूपण किया है।[21] डॉ. मीरा रस्तोगी ने अपने शोधपत्र सौन्दर्यमीमांसा के शैव आधार[22] में स्पष्ट किया है कि रसानुभूति रस वस्तु के माध्यम से स्वसंवित् के विशुद्ध रूप का साक्षात्कार है। प्रत्येक संवित् (चेतना) प्रकाशविमर्शमयी है। प्रकाश का अनिवार्य धर्म है प्रतिबिम्बन और यह प्रतिबिम्बन निर्भर करता है स्वच्छत्व अर्थात् नैर्मल्य पर। **जो संवित् जितनी निर्मल होगी, उसमें प्रतिबिम्बन सामर्थ्य उतनी अधिक होगी अतः उसमें दूसरों की भावनाओं के साथ उतना गहरा तादात्म्य स्थापित हो सकेगा।**[23] इस दृष्टि से कलाकार हो या सहृदय सभी में संवित् की निर्मलता आवश्यक है[24] अन्यथा रसानुभूति संभव नहीं होगी।[25] आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत रसानुभूति की परिभाषा- **सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।**[26] का रहस्य इसी निर्मलता व प्रतिबिम्बन की धारणा में निहित है। जो संवित् जितनी निर्मल होगी उसमें उतना विजातीय तत्त्वों का अभाव होगा और प्रतिबिम्बन सामर्थ्य उतनी ही अधिक होगी, फलतः कलावस्तु के साथ उसका उतना अच्छा तादात्म्य सम्भव होगा।

रसबोध के लिए सहृदय का चिन्तन किया जाता है। सहृदय कौन है? इस सहृदय की अन्य प्रमाताओं से क्या विशिष्टता है? इन प्रश्नों का उत्तर आचार्य अभिनवगुप्त स्पष्ट करते हुए सहृदय की परिभाषा देते हैं- 'जो समान हृदय वाले हैं अर्थात् जिनका चित्त इतना निर्मल है कि उसमें नट में प्रदर्शित चित्तवृत्ति ठीक उसी रूप में प्रतिबिम्बित हो सकती है।' वे इसकी अन्यत्र व्याख्या करते हैं- **विमलप्रतिभानशालिहृदयः (सहृदयः)**[27] अर्थात् सहृदय वे हैं जिनका हृदय निर्मल प्रतिभा वाला है। रसानुभूति की चरमावस्था को बताने के लिए अभिनवगुप्त कई शब्दों का प्रयोग करते हैं- चमत्कार, भोग, निर्वृति आदि।[28] यह अवस्था आध्यात्मिक अनुभव तथा कलानुभव के मध्य एकसूत्रता स्थापित करती है। फलतः दोनों ही अनुभवों के लिए समान संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है। चमत्कार पूर्ण आत्मतृप्ति की अवस्था है[29] जिसे शैवशास्त्र में बार-बार पूर्णाह्लता का अनुभव कहा गया है।

अतः हर प्रकार से 'ध्वनि' का अन्तस्तत्त्व तथा आत्मा होना सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः साहित्य में शरीरवाद के विपक्ष में आत्मवाद की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ किन्तु जिस प्रकार चार्वाक शरीर से आत्मा के पृथग्भाव के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाते हैं, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय वाच्य अर्थ मात्र के सम्मिश्रण से विमोह की स्थिति प्राप्त कर चुका है, वे वाच्य के अतिरिक्त किसी अर्थ के पृथग्भाव में सन्देह करते हैं।

सन्दर्भ –

---

1 योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्वन्यालोक 1/2

2 यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। ध्वन्यालोक 1/13

3 संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, पृ. सं. 113 (डॉ. अमरजीत कौर, प्रका.- भारतीय विद्याभवन वाराणसी)

4 ध्वन्यालोक, वृत्तिभाग पृ. सं. 37 (सम्पा.- आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण- 2011)

5 ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः । ध्वन्यालोकलोचन पृ.सं. 37

6 रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति । वही पृ.सं. 40

7 एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः ।
वही पृ.सं. 87

8 किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणा- व्यापाररनीयरूपो रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति । वही पृ.सं. 50

9 **यदूचे भट्टनायकेन**- …….तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदिनामोपलम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति । वही पृ.सं. 51

10 ………. रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिवृत्तिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति । वही पृ.सं. 193

11 ……..विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः । ध्वन्यालोकलोचन पृ.सं. 208

12 स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाश्च । तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् । वही पृ.सं. 86

13 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति तत्किं वस्त्वलङ्काररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः, प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः । साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, पृ. सं. 17 सम्पादक- शालिग्रामशास्त्री अष्टम् पुनर्मुद्रण 2016

14 मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन । काव्यप्रकाश 4/37 (सम्पा.- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तसिरोमणि, प्रका.- ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रण जून 2010)

15 पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते । रसगङ्गाधर प्रथमानन पृ. सं. 79, उद्धृत संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, पृ. सं. 112

16 काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण आत्मेत्युक्तम् । ध्वन्यालोकलोचन पृ.सं. 103-104

17 स्वतन्त्रकलाशास्त्र भाग 1, पृ. सं. 303, प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय।

18 यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ।। ध्वन्यालोकलोचन पृ.सं. 172

19 प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया । वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत् । वही पृ.सं. 310

20 काव्यलोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत् । इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान्संविधास्यति ।।
आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम् । त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम् ।। वही पृ.सं. 556

21 सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः । नैव निन्दति खलान्मुहुर्मुहुधिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनलः ।।
वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते । नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वचस्तेन वश्शिवमयी दशा भवेत् ।।
वही पृ.सं. 604

22 वाङ्मयी (वार्षिक शोधपत्रिका अङ्क 7-8, वर्ष 1999-2001)

23 येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।
ध्वन्यालोक लोचन पृ. 36-40

24 येषां न तन्मयी भूतिस्ते देहादिनिमज्जनम् । अविदन्तो मग्नसंविन्मानस्त्वहृदया इति ।। तन्त्रालोक

25 तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार-निर्देश-रसन-आस्वादन- भोगसमापत्ति-लय विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते । अभिनवभारती पृ. 473

26 वही 473

27 अभिनवभारती पृ. 470

28 चमत्कृतिर्हि भुञ्जानस्य या क्रिया भोगसमापत्तिमयः आनन्द……. । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी भा. 2 पृ. 177 (उद्धृत वाङ्मयी वार्षिक शोधपत्रिका अङ्क 7-8, वर्ष 1999-2001, पृ. सं. 162)

29 वही

वैदिक चिन्तन परम्परा में ध्वनिविज्ञान

• डॉ. विकास शर्मा

शोधसार - विद्या या ज्ञान का सागर अनन्त है- 'अनन्त पारं किल शब्दशास्त्रम्' तथा समस्त विद्याओं, ज्ञानतत्त्व एवं धर्मतत्त्व का मूल वेद को ही कहा गया है- 'सर्वज्ञानमयो हि सः, वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। वैदिक साहित्य में धर्म, अध्यात्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, भाषा विज्ञान के विविध पक्ष जैसे भाषा दर्शन, अर्थविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान इत्यादि विषयों का उल्लेख बहुधा प्रकार से प्राप्य है। संस्कृत में छः वेदांगों में शिक्षा भी एक अंग है। शिक्षा-ग्रन्थों में, प्रातिशाख्य ग्रन्थों और व्याकरण आदि में ध्वनि के स्वरूप पर गहन मनन, चिन्तन और वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन समय में फोनेटिक्स के लिए ध्वनिशिक्षा, ध्वनिशास्त्र, वर्णविज्ञान आदि शब्द प्रचलित थे। अतएव ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हो गया था। वैदिक ऋषियों का प्रयास उस सुदूर प्राचीन काल में भी भाषा के परिष्कार की ओर पूर्ण रूप से था। संहिताग्रन्थों के सम्यगनुशीलन से यह भी विदित हो जाता है कि उस वैदिक युग में ध्वनिसम्बन्धी अध्ययन अपने उच्च शिखर पर विराजमान हो गया था। वैदिक ध्वनिविज्ञान का मुख्य प्रयोजन वैदिक मन्त्रों के शुद्ध शुद्ध पाठ की प्रक्रिया बतलाना है। इसके अध्ययन से हम वैदिक मंत्रों के शुद्ध पाठ की विधियों को हृदयंगम करके उनसे होने वाले परिणामों को आत्मोत्कर्ष का विषय बना सकते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में **वैदिक चिन्तन परम्परा में ध्वनिविज्ञान** के स्वरूप पर विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है।

बीजशब्द – वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, भाषा, ध्वनिविज्ञान, वाक्, प्रातिशाख्य, शब्द, स्फोट, अर्थबोध, व्यक्त, पाणिनि, भर्तृहरि, उच्चारण, सूत्र, पद।

भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों में भाषा ही सर्वप्रमुख साधन है। भाषा ही वह जीवन-ज्योति है, जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से व समाज से सम्पर्क सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि मनुष्य के पास भाषा जैसा अमोघ अस्त्र न होता तो मनुष्य भी पशु-पक्षियों के तुल्य अपने भावों को अत्यन्त

* सहायक आचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्यभाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

स्पष्ट रूप में प्रकट करने में असमर्थ रहता। यह भाषा वस्तुतः मानव शरीर में दैवी अंश है, जो इस सृष्टि में केवल मनुष्य मात्र को ही प्राप्त है –

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥[1]

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है कि हमारी लोकयात्रा वाग्देवी की ही कृपा से संभव हो पाती है।[2] यह दिव्य ज्योति ही समस्त संसार में अपना प्रकाश फैलाए हुए है। इस भाषारूपी ज्योति के बिना संसार घोर अन्धकारमय होता -

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ [3]

भाषा का आधार है ध्वनि। ध्वनियों से ही भाषा का निर्माण हुआ है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों की अपनी निजी विशेषतायें होती हैं। ध्वनियों का सम्बन्ध उच्चारण से है। अतः किसी भी भाषा के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान तभी हो सकता है जब उस भाषा में प्राप्त होने वाली ध्वनियों की उच्चारण प्रक्रिया एवं अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सम्यक् अनुशीलन किया जाए।

ध्वनि-विज्ञान का तात्पर्य - ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ है- '**वह गुण जिसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है।**' इस परिभाषा के अनुसार वाद्य यन्त्रों से तथा अन्य किसी भी पदार्थ के परस्पर टकराने से जो ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि के अन्तर्गत रखा गया है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। प्रातिशाख्यों में ध्वनि के लिए में 'शब्द' प्रयोग किया जाता है। प्रातिशाख्यों के भाष्यकारों ने 'शब्द' का अर्थ ध्वनि किया है - **शब्दोनाम ध्वनिः।**[4] वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि के दो भेद किये जा सकते हैं-

- वाद्य यन्त्रों या अन्य साधनों से उत्पन्न वह ध्वनि जिससे अर्थबोध नहीं हो सकता।
- मनुष्य के उच्चारणावयवों से निःसृत वह ध्वनि जिससे अर्थबोध होता है।

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वैयाकरणों के युग से प्रारम्भ होता है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थबोध कराने वाली शक्ति की संज्ञा 'स्फोट' है एवं स्फोट के व्यञ्जक तत्व को 'ध्वनि' कहा गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली 'ध्वनि' शब्द है - **प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते ।**[5] पतञ्जलि के अनुसार ध्वनि और शब्द दोनों एक ही हैं। उन्होंने स्फोट को शब्द और ध्वनि को शब्द का गुण कहा है - **स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः।**[6] शब्द के गुण कहने का आशय यह है कि ध्वनि से शब्द व्यञ्जित होते हैं। ध्वनि व्यञ्जक है, शब्द व्यंग्य है। स्फोट से तात्पर्य है- जिससे अर्थ निकले '**स्फुटति अर्थो यस्मात्**'। ध्वनि नश्वर होती है, परन्तु क्रमशः नष्ट होते हुए भी स्फोट को द्योतित करती है। श्लोकवातिक के अनुसार ध्वनि स्फोट का व्यायाम है - **स्फोटः शब्दो ध्वनिः तस्य व्यायाम उपजायते।**[7]

ध्वनियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन करने वाला शास्त्र **ध्वनिविज्ञान** कहलाता है। इसके लिए आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक 'Phonetics' शब्द का प्रयोग करते हैं। संस्कृत अध्येताओं एवम् आचार्यों ने इसके लिये 'शिक्षाशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया है जिसके परिणामस्वरूप प्राचीनकाल में अनेक शिक्षाग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों के उच्चारण से सम्बन्धित सभी तथ्यों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया जाता है जिसमें ध्वनि उत्पत्ति की सामान्य प्रक्रिया, ध्वनियों के उच्चारण में स्थान, करण, बाह्यप्रयत्न, आभ्यन्तरप्रयत्न ध्वनियों के विशेष रूप में परिवर्तित होने के कारण, ध्वनियों के उच्चारण में लगने वाला काल, स्वराघात आदि विविध विषयों का अध्ययन किया जाता है –

ध्वनेर्विश्लेषणं शिक्षा, वर्णनं च विभाजनम् ।
परिवृत्त्यादीतिहासश्च, ध्वनिविज्ञानमुच्यते ॥ (कपिलस्य)[8]

वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् में परोक्षरूप से ध्वनिचिंतन मिलता है तथा शिक्षाग्रन्थों में, प्रातिशाख्य ग्रन्थों और व्याकरण आदि में ध्वनिशिक्षा पर गहन मनन, चिन्तन और वर्णन प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होता है। प्राचीन समय में फोनेटिक्स के लिए ध्वनिशिक्षा, ध्वनिशास्त्र, वर्णविज्ञान इत्यादि शब्द प्रचलित थे।

वैदिक वाङ्मय में ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता – मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने भारतीय समाज को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिये भारतीय संस्कृति के स्तम्भ रूप वेदों के अध्ययन को नियमित रूप से करने का विधान किया है। इसके लिये वेदाध्ययन को धार्मिक कृत्य कहा गया है तथा इसके द्वारा अदृष्ट फल की कल्पना का उद्घोष भी किया गया है। अतः वेदाध्ययन की मौखिक परम्परा विद्यमान होने के कारण तत्कालीन वैदिक विद्वानों को यह भय सदैव बना रहता था कि कालक्रमानुसार वेदमन्त्रों में विकार भी आ सकता है। इसीलिए तत्कालीन विद्वानों ने वेदों के बाह्य स्वरूप में आने वाले विकारों के निराकरण के लिए वेद मन्त्रों के प्रत्येक पदों के ध्वनि, मात्रा, स्वर आदि तत्त्वों का सूक्ष्म निरीक्षण किया तथा उनको अविकृत रखने के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयास किया। इसी उद्देश्य को लेकर शिक्षाग्रंथों एवं प्रातिशाख्यों की रचना हुई। इन ग्रंथों में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण को शुद्ध रूप में करने के लिये सभी आवश्यक नियमों का विधान किया गया। साथ ही साथ वेदाध्ययन करने का समय, स्थान व अन्य महत्त्वपूर्ण नियमों का भी उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में विधान किया गया है कि जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार अध्येता स्वस्थ, प्रशान्त एवं निर्भीक होकर अपने मन, दृष्टि एवं चेष्टा को एकाग्र करके वेदमन्त्रों के वर्णों का उच्चारण करना चाहिए।

कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः ।
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः ।।[9]

पाणिनीय शिक्षा में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो वेदमन्त्र उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से एवं वर्णोच्चारण की दृष्टि से हीन रूप में प्रयुक्त होता है वह मिथ्या रूप में प्रयुक्त होकर अपने वास्तविक अर्थ का कथन नहीं करता। वह वाणी रूपी वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर डालता है। स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु (वृत्र) के विनाश की कथा तो सबको ज्ञात ही है -

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।[10]

ध्वनि उत्पत्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया – वायु ही सभी ध्वनियों का आधार है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाय तो वायु ही ध्वनियों का मूल कारण है। जिस प्रकार वाद्य-यन्त्र बिगुल तथा हारमोनियम से जो ध्वनि निकलती है, उसमें वायु का ही महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी वायु की सहायता से ही ध्वनियों को उत्पन्न करता है। यह वायु दो प्रकार की होती है - एक वह जिसे हम श्वास के रूप में अन्दर ग्रहण करते हैं तथा दूसरी वह जिसे हम फेफड़े से मुँह या नाक द्वारा बाहर निकालते हैं। यही दूसरे प्रकार की वायु ध्वनियों का मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है। प्रातिशाख्यों में स्पष्टतः कहा गया है कि शब्द (ध्वनि) का कारण वायु ही है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'शब्द' का कारण बतलाते हुए कहा गया है - शब्द का कारण वायु है और वह वायु आकाश से उत्पन्न होती है - **वायुः खात् । शब्दस्तत्** ।[11] उवट का कथन है कि शब्द वायु स्वरूप ही है - **शब्दस्तदात्मको वाय्वात्मक इत्यर्थः** ।[12] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में कहा गया है कि फेफड़े से बाहर निकली हुई प्राणवायु ही श्वास, नाद इत्यादि रूपों में परिणत होती है। किन्तु फेफड़े से निकली हुई वायु तभी श्वास या नाद में परिणत होती है, जब वक्ता बोलने की चेष्टा करता है - **वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानः कण्ठस्य खे संवृते विवृते वा वक्रीहायाम्** ।[13] मनुष्य द्वारा बोलने की चेष्टा न करने पर वायु अबाध गति से मुख-विवर से अथवा नासिकाविवर से बाहर निकल जाती है। फलतः कोई भी वर्ण उच्चरित नहीं होता है। वक्ता द्वारा प्रेरित वायु स्वरतन्त्रियों के अवकाश से 'नाद' अथवा 'श्वास' का रूप ग्रहण कर लेती है। यही श्वास और नाद ध्वनियों का मूलकारण अथवा प्रकृति है - **ताः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति** ।[14] ऋक्तन्त्र में भी वायु को ही ध्वनि की प्रकृति स्वीकार किया गया है - **वायुं प्रकृतिमाचार्याः** ।[15]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में आचार्य कात्यायन ने इस प्रकार कहा है - उचित करण अर्थात् उच्चारण साधनों से युक्त होकर हृदय प्रदेशस्थ वायु वेणु, शंख आदि से शब्द (ध्वनि) के रूप में प्रकट हो जाती है। वेणु, शंख आदि वाद्ययन्त्रों में जिस प्रकार ध्वनि उत्पादन की क्षमता रहते हुए भी वादक द्वारा किया गया प्रयत्न नितान्त अपेक्षित होता है, उसी प्रकार मनुष्य के उच्चारणावयवों में ध्वनि उत्पादन को क्षमता रहने पर भी वक्ता द्वारा किये जाने वाले आन्तरिक प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है।[16] यहाँ पर एक और प्रश्न हो सकता है - क्या शरीर से बाहर निकलती हुई वायु मात्रा आदि की विशेषताओं से समन्वित वर्ण-विशेष के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है ? इसका उत्तर है कि ऐसी बात

नहीं है। शरीर के एक भाग (मुख) में पहुँचने पर वायु तालु आदि स्थानों से संयुक्त होने पर सक्रिय उच्चारणावयवों के द्वारा विशेष-विशेष स्वरूप से समन्वित वर्णत्व को प्राप्त करती है - **शारीरे** ।[17] उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वायु ही सभी ध्वनियों का मूल कारण है, उपादान कारण है ।

जिज्ञासा - अब प्रश्न यह हो सकता है कि यह वायु किस प्रकार वर्ण रूप में परिणत होती है तथा वायु के वर्णरूप में परिवर्तित होने में किन शक्तियों का योगदान है ? क्या वक्ता की इच्छा होने मात्र से ही ध्वनि की उत्पत्ति हो जाती है अथवा इस क्रिया में अन्य भी अङ्ग सहायक रूप में कार्य करते हैं ?

समाधान - इन सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने से कण्ठ और उरस् के संधिस्थल में ध्वनि की उत्पत्ति होती है - **वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने** ।[18] इस सूत्र पर तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के सभी भाष्यों में पाणिनीय शिक्षा से एक कारिका को अंशतः उद्धृत किया गया है, जिसमें वायु के ध्वनिरूप में परिणत होने में जितने भी प्रयोजक हेतु होते हैं, उन सभी हेतुओं का सम्यक् उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार जब वक्ता को बोलने की इच्छा होती है तब सर्वप्रथम आत्मा 'कहे जाने वाले' अर्थों को संकलित करके उन अर्थों का सम्पर्क बुद्धि से कराती है। फिर बुद्धि को मन से युक्त कराती है। मन शरीर में स्थित अग्नि को धकेलता देता है। कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। इस प्रकार कायाग्नि द्वारा प्रेरित वायु फेफड़े में विचरण करता हुआ मन्द्र ध्वनि को उत्पन्न करता है। इस सम्पूर्ण कारिका को इस प्रकार समझा जा सकता है- वक्ता जब बोलने की इच्छा करता है तब कहने वाले पदों को आत्मा बुद्धि से मिलाती है, बुद्धि मन को प्रेरित करती है, मन कायाग्नि को प्रेरित करता है, इस प्रकार मन द्वारा प्रेरित कायाग्नि शरीर में स्थित वायु को प्रेरित करता है, तब फेफड़े में पहुँची हुई श्वासरूप में गृहीत वायु फेफड़े में विचरण करती हुई 'मन्द्र' स्वर में परिणत हो जाती है - **आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्। योऽयमन्तः शरीरेऽग्निः स प्रेरयति मारुतम् । स शरीरं सदोपैति मनसा चोपयुज्यते। ततः सञ्जायते नादः तमिदं ब्रह्मणो विदुः** ।[19]

इसी प्रकार आचार्य भर्तृहरि ने ध्वनि-उत्पत्ति के इस भाव को प्रकारान्तर से रखा है-

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः। व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः। वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥

विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः। प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते॥[20]

अर्थात् जीवात्मा सूक्ष्म वाक् रूप में विद्यमान है और वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द रूप में परिवर्तित होता है। वह विचार रूप में परिवर्तित होता है और शारीरिक ऊष्मा से युक्त होकर प्राण वायु में प्रवेश करता है। तदनन्तर वह ऊपर उठता है। वह अपनी ग्रन्थियों को विभक्त करके

पृथक् पृथक् ध्वनियों के रूप में परिवर्तित होता है। इस प्रकार प्राण वर्णों को अभिव्यक्त करता है और उनमें लीन हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक प्रत्यय (विचार) किस प्रकार ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर आत्मा के द्वारा चेतनतत्त्व, बुद्धि के द्वारा ज्ञानतत्त्व, मन के द्वारा प्रेरणातत्त्व और वायु के संचार निर्गम और अवरोध के द्वारा शारीरिक पक्ष का निर्देश है। मानव में चेतनातत्त्व ही है, जो भाषा को जन्म देता है। केवल चेतना बुद्धि के बिना काम नहीं कर सकती है। यही कारण है कि बुद्धि या विवेक के अभाव के कारण पशु-पक्षियों में भाषा का अभाव है। मानव में चेतना और बुद्धि का समन्वय है। इसके द्वारा विचार अभिव्यक्ति के योग्य होते हैं। इनके लिए प्रेरणा-तत्त्व मन की आवश्यकता होती है। मन प्राण-वायु का सहयोग प्राप्त करके वाग्यन्त्र के नियमित संचालन के द्वारा ध्वनि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति के लिए चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है-

- भाव या विचार
- विवक्षा (विचार को प्रकट करने की इच्छा)
- प्राण वायु का सहयोग
- वाग्यन्त्र का नियमित संचालन

मानव में ये चारों बातें प्राप्त होती हैं। चेतनतत्त्व के द्वारा प्राप्त भावों को मन के द्वारा गति मिलती है, वायु के द्वारा निर्गमन होता है और वाग्यन्त्र के द्वारा उसको ठीक ध्वन्यात्मक रूप मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनिविज्ञान का अध्ययन प्राचीन काल में ही हो गया था।

वेदों में उपलब्ध ध्वनिविज्ञान - संहिताग्रन्थों के सम्यगनुशीलन से यह भी विदित हो जाता है कि उस प्राचीनयुग में ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन अपने उच्च शिखर पर विराजमान हो गया था। वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद में वाक् सूक्त के ८ मंत्रों में इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि वाक्-तत्त्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है। इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है –

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषि तं सुमेधाम्॥[21]

ऋग्वेद संहिता में अनेक मन्त्र इस प्रकार के विधानों से भरे हुए प्राप्त होते है। दशम मण्डल तो इस दृष्टि से अपना अप्रतिम महत्त्व रखता है। ऋग्वेद संहिता १०/६८/२ में वाक् का अधिष्ठान 'आसन्' को बतलाया गया है - **दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्।**[22] 'आसन्' का अर्थ व्याख्याकारों ने 'मुख' (आस्य) किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता १० ।७२/२ में उच्चारण की विधि के प्रसंग में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी पदार्थ को छलनी से छानकर उसका प्रयोग किया जाना अधिक

श्रेयस्कर होता है, उसी प्रकार वाणी को मन में सोच-समझ कर प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार की वाणी बोलने वाले व्यक्ति के साथ लोग मैत्रीभाव रखते हैं तथा ऐसी वाणी के प्रभाव से जीवन में सफलता की उपलब्धि भी होती है।[23]

ऋग्वेद संहिता के अनुसार वाक् के चार अवयव हैं। जिनमें प्रथम तीन अत्यन्त गूढ़ हैं, ये हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के विषय नहीं बनते हैं। इनका ज्ञान योगियों को हो हो सकता है। इनमें जो चतुर्थ अवयव है उसे मनुष्य बोलते हैं।[24] निरुक्त – १३/९ में इस मन्त्र को उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गई है। आचार्य यास्क इस मन्त्र की व्याख्या में वाक् के प्रथम तीन अवयवों को कीटादि जन्तुओं द्वारा बोला जाने वाला स्वीकार करते हैं। इन तीनों अवयवों में मनुष्य नहीं बोल पाते - **सर्पाणां वाग्वयसां छुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थो व्यावहारिकीत्येके** ।[25]

पतञ्जलि आदि परवर्ती वैयाकरणों ने इस मन्त्र को बहुधा उद्धृत किया है तथा इसकी व्याख्या भी विभिन्न प्रकार से की है। परवर्ती वैयाकरणों ने वाणी के चार रूपों की स्थापना भी ऋग्वेद संहिता के इसी मन्त्र के आधार पर की है। ये चार रूप परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी हैं। इनमें प्रथम तीन का सम्बन्ध श्रवणीय ध्वनि के साथ नहीं है, ये तीन ध्वनियाँ हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं बन पाती। इनका प्रत्यक्ष योगियों को होता है। चतुर्थ रूप अर्थात् वैखरी का सम्बन्ध हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के साथ है, इसका श्रवण हमारी श्रोत्नेन्द्रिय से होता है। आचार्य यास्क भी इसी प्रकार से व्याख्या करते हैं।

ऋग्वेद संहिता में अनेक मन्त्र इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिनमें वाणी की उत्पत्ति प्रक्रिया का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ऋग्वेद संहिता में उच्चारण के लिए 'वाक्' को कर्म बनाकर 'वाचम्' के प्रयोग के साथ 'इयर्ति' शब्द का प्रयोग पांच बार तथा 'उद्' उपसर्ग के साथ 'उदियर्ति वाचम्' का प्रयोग दो बार हुआ है।[26] **उदियर्ति** का तात्पर्य है- '**ऊपर की ओर प्रेरित करना**' (उद्गमयति, उच्चारयति, प्रेरयति)। ध्वनि-उत्पत्ति की प्रक्रिया में वक्ता के अन्तर्गत कहने की इच्छा होने पर उसका आत्मा कथनीय तथ्य को बुद्धि में रखता है। बुद्धि बोलने की इच्छा से उससे मन को संयुक्त करती है, इसके पश्चात् मन कायाग्नि पर आघात पहुँचाता है, कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। परिणामतः हृदय प्रदेश में विचरण करता हुआ वायु कण्ठादि स्थानों में आकर विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों के माध्यम से विभिन्न वर्गों के स्वरूप को प्राप्त करता है। पूर्वोक्त मन्त्रो में 'इयर्ति' पद का प्रयोग यह बतलाता है कि उस युग में ध्वनि उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका था।[27] ऋग्वेद संहिता में वाक् की रचना अक्षर से बतलायी गई है।[28] अक्षर का अर्थ 'नष्ट न होने वाला' भी ऋग्वेद संहिता में बतला दिया गया है।[29] मैत्रायणी संहिता[30] एवं काठक संहिता में वाक् के पूर्वोक्त चार रूपों का कथन किया गया है। इनमें चतुर्थ रूप को पशुओं में स्थित बतलाया गया है - **सा वै वाग्दृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम्** ।[31]

ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध ध्वनिविज्ञान – शतपथ ब्राह्मण के कई स्थलों पर ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर शुद्ध उच्चारण के सम्बन्ध में कहा गया है कि असुर लोग 'हे अरयः हे अरयः' के शुद्ध उच्चारण में अशक्त होने के कारण हेऽलवः हेऽलवः कहने के परिणामस्वरूप हार गये। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि संदिग्ध वाणी में बोलने बाले लोग म्लेच्छ कहे जाते हैं।[32]

शतपथ ब्राह्मण में वाक् के चार रूपों को बतलाकर यह भी कहा गया है कि इसमें चौथी वाणी को ही मनुष्य बोलते हैं। शतपथब्राह्मण के इस कथन से प्रतीत होता है कि भाषा के दो रूप है- **व्यक्त भाषा एवं अव्यक्त भाषा**। यह ब्राहाणग्रन्थ व्यक्त भाषा की भी कई अवान्तर स्थितियों का संकेत करता है। व्यक्त भाषा की जो उच्चतम स्थिति है, उसमें मनुष्य बोलते हैं। उससे निम्न स्थिति में पशु बोलते हैं। पशुओं की भाषा से निम्न स्थिति में पक्षी बोलते हैं एवं व्यक्त भाषा की जो निम्नतम स्थिति है, उसमें सर्प बोलते हैं।[33] वास्तव में वाक् के जो चार रूप- परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी बतलाये गये हैं। उनमें प्रथम तीन प्रकार के वाक् में श्रोता द्वारा गृहीत होने की योग्यता का अभाव होने से ये अव्यक्त वाक् के रूप में कहे जा सकते हैं। चतुर्थ अवस्था का ग्रहण श्रोता द्वारा हो जाने से उसे व्यक्त वाक् कहा जा सकता है। मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीट-पतंग इत्यादि इसी व्यक्त भाषा का उच्चारण करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण का उपर्युक्त कथन इसी बात को स्पष्ट करता है कि भाषा के मुख्य दो रूप होते हैं, जिनमें प्रथम रूप का श्रवण हमारी इन्द्रियों से न होने के कारण वह हमारी ग्रहण-शक्ति के परे की वस्तु है। द्वितीय रूप का ग्रहण करने में हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण समर्थ हैं। इनमें द्वितीय प्रकार के वाक् के भी दो अवान्तर भेद किये जा सकते हैं- (१) मनुष्यों की स्पष्टरूपेण अर्थबोध कराने बाली भाषा एवं (२) पशु आदि जन्तुओं द्वारा बोली जाने वाली वह भाषा जो अर्थबोध कराने में असमर्थ होती है। मनुष्यों द्वारा उच्चरित भाषा में वर्ण, पद आदि का बोध हो जाने से ही उसे पशु आदि जन्तुओं की भाषा से उच्च-स्तर की भाषा कहा गया है तथा पशुओं की भाषा में वर्ण, पद आदि का स्पष्टीकरण न होने के कारण मनुष्यकृत भाषा की अपेक्षा उसे निम्न कोटि का बतलाया गया है। उस आदिम युग में भाषा के सम्बन्ध में इतना वैज्ञानिक विश्लेषण इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि शतपथ ब्राह्मण-काल में भी ध्वनि विज्ञान का विकास हो रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण में वाक् को इन्द्र से उद्भावित माना गया है तथा वाणी की नित्यता के सम्बन्ध में उसकी उपमा समुद्र से दी गई है। जिस प्रकार समुद्र अक्षीण है, उसी प्रकार वाणी भी अक्षीण एवं नित्य है। एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि पदों या मन्त्रों को मध्यमा वाक् में प्रयुक्त करना चाहिए। मध्यमा वाक् से तात्पर्य द्रुत आदि वृत्तियों में मध्यमावृत्ति से लिया जाता है। मध्यमा वृत्ति से किया गया पाठ अपना संस्कार करता है।[34]

आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध ध्वनिविज्ञान- आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय आरण्यक ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का वैज्ञानिक विवेचन करता है। इसमें एक स्थल पर वर्णों के स्वरूप की उपमा विभिन्न रूपों में प्रस्तुत की गई है। स्पर्श वर्णों को पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, चक्षु एवं प्राण का रूप बतलाया गया है, ऊष्म वर्णों को अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद, श्रोत्र एवं अपान का रूप बतलाया गया है तथा स्वर वर्णों को द्युलोक, आदित्य, सामवेद, मनस् एवं व्यान का रूप बतलाया गया है।[35] इस साम्य का तात्पर्य यह हो सकता है कि जिस प्रकार पृथिव्यादि लोकत्रयी में सर्वाधिक महत्त्व द्युलोक का है, जिस प्रकार अग्नि, वायु आदित्यादि देवत्रयी में सर्वाधिक महत्त्व आदित्य का है, जिस प्रकार ऋग्यजुष्सामरूप वेदत्रयी में सर्वाधिक महत्व सामवेद का है, जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र एवं मनस् रूप अङ्गत्रयी में सर्वाधिक महत्व मनस् का है एवं जिस प्रकार प्राण, अपान तथा व्यान रूप वायुत्रयी में प्रधान स्थान व्यानवायु का है, उसी प्रकार सम्पूर्ण वर्णराशि में स्वरों का स्थान ऊष्म और स्पर्श व्यञ्जनों से अत्युत्कृष्ट है । ऊष्म वर्णों का महत्व स्वरों से कम एवं स्पशों से अधिक है । इसीलिए महत्त्व की दृष्टि से द्युलोक के बाद आने वाले अंतरिक्ष, आदित्य के बाद आने वाले अग्नि, सामवेद के बाद आने वाले यजुर्वेद, मनस् के बाद आने वाले श्रोत्र एवं व्यान के बाद आने वाले अपान से ऊष्म वर्णों का साम्य दिखलाया गया है । महत्व की दृष्टि से पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, चक्षु एवं प्राण को उपरि कथित अन्य तत्वों के बाद रखा जाता है । इसीलिये स्पर्श वर्णों का स्थान ऊष्म एवं स्वर वर्णों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है । स्वर सभी अन्य ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होते हैं । स्वरों के माध्यम से ही स्पर्श और ऊष्म ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। अतः स्वरों का महत्त्व इन ध्वनियों से अधिक है ।

ऐतरेय आरण्यक के इस विवेचन को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐतरेय आरण्यक के रचना-काल तक स्वर, ऊष्म एवं स्पर्श वर्णों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका था और यह तथ्य भी प्रकाश में आ चुका था कि स्वर ध्वनियों अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है। इसी ऐतरेय आरण्यक के एक अन्य स्थल पर ऊष्म ध्वनियों की तुलना प्राण से, स्पर्श ध्वनियों की तुलना हड्डियों से, स्वर ध्वनियों की तुलना मज्जा से तथा अन्तस्थ ध्वनियों की तुलना मांस एवं रक्त के साथ की गई है - **तस्यैतस्याऽऽत्मनः प्राण ऊष्मरूपमस्थीनि स्पर्शरूपं मज्जानः स्वररूपं मांसं लोहितमित्येतन्यच्चतुर्थमन्तस्यारूपमिति ह स्माऽऽह ह्रस्वो माण्डूकेयः।**[36] इस तुलना का आधार भी यही है कि स्वर-ध्वनियाँ अक्षर का आधार होती हैं और व्यंजन ध्वनियाँ स्वरों के आश्रित होकर अक्षर की सीमा में आती है । इसीलिए स्वरों की तुलना मज्जा से की गई है । मज्जा ही मांस एवं रक्त का आधार हो सकता है, परन्तु स्पर्श ध्वनियों को हड्डियों के साथ को गई तुलना स्पष्ट नहीं प्रतीत होती है।

'संहिता' भाषा की प्रमुख विशेषता है। ऐतरेय आरण्यक में संहिता के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि जिस उच्चारण में संधि करके उच्चारण

किया जायेगा वह 'निर्भुज' एवं जिस उच्चारण में दोनों अक्षरों को शुद्ध रूप में उच्चरित करेंगे वह 'प्रतृष्ण' उच्चारण कहलाता है।[37] निर्भुज एवं प्रतृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य ने कहा है कि जिस संहितारूप उच्चारण में पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों शब्द मिलकर 'भुज' के सदृश हो जाते हैं, यह उच्चारण 'निर्भुज' कहलाता है तथा जिस उच्चारण में पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती दोनों अक्षर विकाररहित अर्थात् शुद्धरूप में उच्चरित होते हैं, वह उच्चारण 'प्रतृष्ण' कहलाता है।[38] वास्तव में निर्भुज का अर्थ है 'संहितापाठ' एवं प्रतृष्ण का अर्थ है 'पद-पाठ' । सायण ने निर्भुज और प्रसृष्ण दोनों के सम्मिलित उच्चारण को 'क्रमपाठ' कहा है - **येन क्रमेण संहिता पदं चेत्युभयं व्याप्तं भवति सोऽयं क्रम उभयमध्यवर्तित्वादुभयमन्तरेणेत्युच्यते।**[39] क्रमपाठ में संहितागत प्रत्येक पद को अलग-अलग दिखलाया जाता है। परन्तु जब दो पदों का क्रमवर्ग बनाया जाता है तो उसमें 'आर्षी संहिता' की रक्षा भी हो जाती है। दो पदों का प्रथम क्रमवर्ग बनाने के अनन्तर प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद के साथ उसके परवर्ती पद को मिलाकर द्वितीय क्रमवर्ग बनाया जाता है।

ऐतरेय आरण्यक में संहिता की कई परिभाषायें दी गई हैं। इनमें कतिपय परिभाषाएँ ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से अपना अत्यन्त महत्त्व रखती हैं जैसे संहिता अर्थात् दो अक्षरों के उच्चारण को संहिता कहा जाता है, जिसमें दोनों अक्षर न तो एक दूसरे से पृथक् ही हों और न तो परस्पर मिलकर एक ही हो गये हों। उदाहरणार्थ 'तवेतत्' पद में पूर्वपद 'तव' का अन्त्य अकार एवं उत्तर पद इत् का आदि इकार यदि पृथक् पृथक् उच्चरित किये जाएँगे, तब उनमें अत्यन्त विश्लेष हो जाएगा तथा यदि अकार में इकार को अन्तर्भावित करके उच्चरित करेंगे तब अत्यन्त एकीकरण हो जाएगा। इसलिए इन दोनों उच्चारणों को छोड़कर दोनों के स्वरूप वाले स्वर 'एकार' का उच्चारण हो जाएगा। संहिता की यह परिभाषा आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी उचित कही जा सकती है। ऐतरेय आरण्यक का उपर्युक्त विचार यह सिद्ध करता है कि उस प्राचीनकाल में भी ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था।[40]

उपनिषदों में उपलब्ध ध्वनिविज्ञान - उपनिषदों के युग तक आते-आते ध्वनि सम्बन्धी विचार अपने परिष्कृत रूप में पहुँच गये थे। इस समय स्वर, ऊष्म वर्ण, स्पर्श एवं अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन होने लगा था। छान्दोग्य उपनिषद् २।२१ में कहा गया है - सभी स्वर इन्द्र की आत्मा हैं, सभी ऊष्म वर्ण प्रजापति की आत्मा हैं एवं सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु की आत्मा हैं - **सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शाः मृत्योरात्मानः।**[41] उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि स्वरों का महत्त्व सभी वर्णों की अपेक्षा अधिक है। जिस प्रकार सभी देवता इन्द्र के शासन में रहते हैं उसी प्रकार अन्य सभी वर्ण स्वरों के अधीनस्थ है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी व्यञ्जन स्वर वर्णों के ही अधीनस्थ हैं । व्यञ्जन के उच्चारण में स्वरों की आवश्यकता निश्चित ही पड़ती है - **दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः। दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वत् हरते बलवान् स्वरः।**[42] इसी

खण्ड में सभी प्रकार के वर्णों के उच्चारण के विषय में अत्यन्त वैज्ञानिक विधान प्राप्त होते हैं। इस विधान के अनुसार सभी स्वरों को घोषयुक्त एवं बलयुक्त उच्चरित करना चाहिए। सभी ऊष्म वर्णों को ग्रस्त एवं निरस्त दोषों से रहित एवं विवृत प्रयत्न द्वारा उच्चरित करना चाहिए- **सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः, सर्व ऊष्माणो ग्रस्ता अनिरस्ता विवृताः वक्तव्याः, सर्वे स्पर्शाः लेशेनानभिनिहिताः वक्तव्याः।**[43]

ग्रस्तादि उच्चारण दोषों का स्वरूप ऋक्प्रातिशाख्य के चौदहवें पटल (उच्चारण दोष पटल) में स्पष्ट किया गया है। प्रसङ्गवश कतिपय दोषों का स्वरूप अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

ग्रस्त - ऋक्प्रातिशाख्य १४।८ के अनुसार जिह्वामूल के निग्रह होने पर ग्रस्त संज्ञक दोष होता है अर्थात् जब जिह्वा के मूल भाग को स्थिर करके कड़ा कर लिया जाता है तब ग्रस्त संज्ञक दोष होता है। यह दोष केवल कंठ्य स्वर वर्णों के उच्चारण में होता है - **जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतत्। ग्रासः कण्ठ्ययोः।**[44]

निरस्त - उच्चारण स्थान तथा उच्चारणावयव का अपकर्ष होने पर निरास अथवा निरस्त संज्ञक दोष होता है अर्थात् जब कोई वर्ण अपने निश्चित उच्चारण स्थान एवं करण के योग से उच्चरित न होकर अन्य प्रकार से उच्चरित हो जाता है, तो उसे निरस्त दोष से युक्त कहा जाता है - **निरस्तं स्थानकरणापकर्षे** ।[45]

लेश - प्रयत्न शैथिल्य को लेश कहा जाता है। इस दोष से ग्रस्त व्यञ्जन अपने आंशिक रूप में ही उच्चरित हो पाता है - **लेशेन प्रयत्नशैथिल्येन।**[46] छान्दोग्य उपनिषद् के इस विधान से यही स्पष्ट होता है कि उस युग में वर्णों के उच्चारण में होने वाले दोषों के सम्बन्ध में भी ध्वनि-वैज्ञानिक तथ्य विद्वानों की दृष्टि से ओझल नहीं थे।

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षाध्याय में वर्ण, स्वर, माला, बल, साम एवं सन्तान को शिक्षा का विषय बतलाया गया है। वर्ण का तात्पर्य उच्चारणीय अकारादि स्वर एवं व्यञ्जन वर्ण से है। स्वर का तात्पर्य उदात्तादि स्वराघातों से है। उच्चारण में लगने वाला काल 'मात्रा' कहा जाता है। उच्चारण में अपेक्षित बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्नों को 'बल' कहा जाता है। अक्षरों का द्रुतादि वृत्तियों में उच्चारण करना 'साम' है तथा अध्ययनकाल में अपेक्षित संधियों को 'सन्तान' कहा गया है- **शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। माला बलम्। साम सन्तानः।**[47] उपर्युक्त विवरणों के अतिरिक्त उपनिषदों में कतिपय विधान इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिनमें ध्वनि की उत्पत्ति एवं ग्रहण विषयक पर्याप्त वैज्ञानिक तथ्य उपनिबद्ध हैं।[48] परन्तु संहिता काल से लेकर आरण्यक काल तक ध्वनि सम्बन्धी जितने विचारों का आविर्भाव हुआ था उन सबका सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों के मौखिक संहिता पाठ से था। आधुनिक युग में मान्य ध्वनि विज्ञान सम्बन्धी संकेत तैत्तिरीयोपनिषद् में ही प्राप्त होते हैं। इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम पृथक् पृथक् ध्वनियों, स्वराघात, मात्रा एवं वैदिक मन्त्रों के उच्चारण को शिक्षा के अन्तर्गत

रखा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहद् रूप में छन्दों के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले विवरण इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि उस युग में मन्त्रों का छन्दों के नियमानुसार किया जाने वाला मौखिक पाठ ही अधिक महत्त्वपूर्ण था।

सूत्र युग में ध्वनि-विज्ञान एवं भाषा-सम्बन्धी अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में बृहद रूप में विचार होता रहा। इस युग में भाषा-सम्बन्धी जो भी कार्य हुए वे सभी कार्य भारतीय भाषाविज्ञान के मौलिक आधार हैं। इसी युग में शिक्षाग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों का आविर्भाव भी हो गया था। जिनमें पूर्णरूपेण ध्वनिसम्बन्धी नियमों के विधान हो किये गये हैं। ध्वनि विज्ञान के लिए इन ग्रंथों में 'शिक्षा' शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसका कारण यही है कि प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की रक्षा करना था। उस प्राचीन युग में इस सम्बन्ध में मौखिक रूप से अध्ययन-अध्यापन किया जाता था। उस युग में वैदिक मन्त्रों को शुद्ध रूप में कण्ठस्थ रखने के लिए पदपाठ एवं क्रमपाठ आदि पाठो की पद्धतियों का भी आविर्भाव हुआ था। जिनमें संहितागत मन्त्रों के पदों को अलग- अलग करके पढ़ा जाता था तथा दो-दो पदों का क्रमवर्ग बनाकर भी पाठ किया जाता था। तात्पर्य यह है कि उस युग में ध्वनि-सम्बन्धी जितने भी कार्य हुए सबका उद्देश्य एक मात्र वैदिक मन्त्रों को विकृतियों से बचाना ही था। इसीलिए प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में वैदिक संहिताओं में प्राप्त होने वाले वर्णों का स्वरूप तथा उच्चारण आदि विषयों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। परन्तु पाणिनि तक आते-आते शिक्षा का क्षेत्र पदपाठ तथा क्रमपाठ से अलग हो गया था। पाणिनि ने क्रमादिगण की सूची में पाँच विषयों का परिगणन किया है। जिनमें शिक्षा को 'क्रम' तथा 'पद' से पृथक् गिनाया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस युग में क्रमपाठ और पदपाठ का क्षेत्र शिक्षा से पृथक् हो गया था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में ध्वनि विज्ञान को भी विवेच्य विषय बनाकर संधि नियमों का विस्तृत विधान किया है।[49] पतञ्जलि के बाद तो वैयाकरणों की एक परम्परा सी चल पड़ी है। इन सभी वैयाकरणों ने ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों को अपने अध्ययन क्षेत्र से बाहर नहीं रखा। कात्यायन, भर्तृहरि, नागेश आदि आचार्यों ने ध्वनि सम्बन्धी अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है ।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यक ग्रन्थों, उपनिषद् व वेदांग साहित्य तक ध्वनिविज्ञान का विवेचन अनेक स्थानों पर परोक्षरूप से तथा अन्यत्र प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध होता है, जिसका मुख्य प्रयोजन तो वैदिक मन्त्रों के शुद्ध शुद्ध पाठ की प्रक्रिया बतलाना और वेदमन्त्रों को विकृत होने से बचाना था । वैदिक चिन्तन परम्परा में वाक् विवेचन, वाणी के चार प्रकार, ध्वनि का आधार वायु तथा वर्णोत्पत्ति या ध्वनि उत्पत्ति में वायु का स्थान, स्वर, वर्ण, मात्रा, संहिता, पदपाठ, क्रमपाठ, स्वराघात तथा एक एक वर्ण का अत्यंत सूक्ष्म निरीक्षण करके उनके उच्चारण विषयक विधान प्रस्तुत किए हैं ।

सन्दर्भ -

1. वाक्यपदीय - १-१२४
2. वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते – काव्यादर्श -१/३
3. काव्यादर्श - १/४
4. तै० प्रा० - २/१
5. पा० १/१/७० पर महाभाष्य
6. पा० १/१/७० पर महाभाष्य
7. वाक्यपदीय १/२२ पर हरिवृत्ति में उद्धृत
8. भाषाविज्ञान, द्विवेदी, कपिलदेव, पृष्ठ १०७
9. याज्ञवल्क्य शिक्षा - २३
10. पाणिनीय शिक्षा
11. वाजसनेयि प्रातिशाख्य - १/६-७
12. वा० प्रा० - १/७ पर उवट
13. ऋग्वेद प्रातिशाख्य - १३/१
14. ऋ० प्रा० - १३/३
15. ऋक्तन्त्र - १।१
16. वाजसनेयि प्रातिशाख्य - १/८
17. वा० प्रा० - १।२४
18. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - २/२
19. तै० प्रा० – २/२ भाष्य
20. वाक्यपदीय, ब्रह्मकांड - ११२-११५
21. ऋग्वेद - १०-१२५-५
22. ऋग्वेद संहिता - १०/६८/२
23. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रेषां लक्ष्मीर्निहताधि वाचि । ऋ० सं० - १०/७१।२
24. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ऋ० सं० - १/१६४/४५
25. निरुक्त - १३।६
26. कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाणं इयर्ति वाचमरितेव नावम् - ऋ० सं० - २।४२।१, उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै । - ऋ० सं० - ५/३६/४, एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः । - ऋ० सं० - ५/३६/४, हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम् । प्रेन्द्राग्निभ्यां सुवचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः । - ऋ० सं० - १०/११६/९, स्यूमना वाच उदियर्ति वह्निः । - ऋ० सं० - १/११३/१७, पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देव या विप्र उदियर्ति वाचम् । - ऋ० सं० - ४५
27. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् । - पा० शि० -६/७
28. गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् । वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः । ऋग्वेद संहिता - १/१६४/२४
29. ततः नक्षरत्यक्षरं तत् । ऋग्वेद संहिता - १/१६४/४२
30. सा वै वाग्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम् – मै० सं० - १/११/५
31. काठक संहिता- १४/५
32. निरुक्त १३/६, ते असुराऽआत्तवचसो हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः । श० ब्रा० - ३/२/१/२३, तत्रैतामपि वाचमूदुरूपजिज्ञास्याम् । स म्लेच्छः । श० ब्रा० - ३/२/१/२४
33. तुरीयं..........स्तुरीयमेह तर्हिवाङ् निरुक्तं वदिष्यतीति । तदेतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्ति अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद् वयांसि वदन्ति । अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपः वदति । - श० प्रा० - ४/१/३/१६
34. वाग्ध्यैन्द्री । ऐतरेय ब्राह्मण - ६/२, वाग् ये समुद्रो न वाक् क्षीयते । ऐ० ब्रा० - १३/२१, मध्यमा वाचा संसत्यात्मानमेव तत् संस्कुरुते । ऐ० ब्रा० - १२/१३
35. पृथिव्याः रूपं स्पर्शाः अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवः स्वरा अग्नेः रूपं स्पर्शावायोरूष्माण आदित्यस्य स्वरा ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शाः यजुर्वेदस्योष्माणः सामवेदस्य स्वराश्चक्षुषो रूपं स्पर्शाः श्रोत्रस्योष्माणो मनसः स्वराः प्राणस्य रूपं स्पर्शा अपानस्योष्माणो व्यानस्य स्वराः । - ऐतरेय आरण्यक - ३/२/५

36. ऐ० आ० - ३/२/१
37. यद्धि संधि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपमथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्याग्र उ एवोभयमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति । - ऐ० आ० - ३ ।१ ।३
38. निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तरशब्दौ यस्मिन्संहितारूप उच्चारणे तदुच्चारणं निर्भुजम्.........। शुद्धे विकाररहिते पूर्वोत्तरे उभे अक्षरे अभिव्याहरति स्पष्टमुच्चारयतीति यदस्ति तत्प्रतृण्णशब्दाभिधेयस्य पदच्छेदस्य स्वरूपम् । -ऐ० आ० - ३/१/३ पर सायण
39. ऐ० आ० - ३ ।१ ।३ पर सायण
40. अथ हास्य पुत्र आह मध्यमः प्रातीबोधीपुत्रो अक्षरे खल्विमे अविकर्षन्ननेकी कुर्वन्यथावर्णमाह तद्याऽऽसौ मात्रा पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सन्धिं विज्ञपनो साम तद्भवति सामैवाहं संहितां मन्य इति । - ऐ० आ०- ३/१/५
41. छा० उ० - २/२१/३
42. या० शि० - २८
43. छा० उ० - २/२१/५
44. ऋ० प्रा० - १४/८ , ऋ० प्रा० - १४/१२
45. ऋ० प्रा० - १४/२
46. ऋ० प्रा० - १४/१७ पर उवट
47. तैत्तिरीयोपनिषद् - ११२
48. चित्तं वाच संकल्पाद्भूयो यदा वेचेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति । - छा० उ० - ७/४, सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनम् । बृहदारण्यकोपनिषद् - २/३/११
49. क्रमादिभ्यो वुन् । - पा० सू० - ४/२/६१ पर गणपाठ (क्रम पद शिक्षामीमांसा सामन्)

पाणिनीय परम्परा की दृष्टि में 'भ्यसो भ्यम्' : एक मीमांसा

• डॉ. रवि प्रभात
• रमिंदर कौर

शोधसार - प्रस्तुत शोधपत्र में पाणिनीय व्याकरण के एक विशिष्ट विधि सूत्र 'भ्यसो भ्यम्' को आधार बनाकर कुछ गहन व्याकरणिक मीमांसा करने का प्रयास किया गया है। युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तरवर्ती चतुर्थी तथा पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर आचार्य 'भ्यम्' आदेश का विधान करते हैं। प्रकृत आदेश के फलस्वरूप 'युष्मद् भ्यस्' इस स्थिति में 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र से भ्यम् आदेश तथा 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से अन्त्य का लोप होकर 'युष्मभ्यम्' तथा इसी प्रकार 'अस्मभ्यम्' शब्द सिद्ध होता है।'भाष्यकार 'भ्यस्' के आदेशभूत 'भ्यम्' के विषय में विशेष विचार करते हैं। जिज्ञासा यह है कि विधेय 'भ्यम्' है अथवा 'अभ्यम्' है, इस जिज्ञासा का मूल यह है कि 'भ्यम्' और 'अभ्यम्' दोनों स्थितियों में सूत्र का उच्चारण समान है। इस सन्दर्भ में वैयाकरण निकाय में प्रामाणिक आचार्यों ने अपने अपने प्रकार से समाधान देने का उपक्रम किया है। पाणिनीय दृष्टि में उचित समाधान क्या होना चाहिए? सभी आचार्यों के मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् निष्कर्षात्मक रूप से यह बतलाने का कार्य प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है।

बीजशब्द – भ्यस्, भ्यम्, अभ्यम्, अङ्गाधिकार, टि-भाग, अन्तोदात्त, पररूप एकादेश, लोप, अनुवृत्ति, 'शेषे लोपः', परिनिष्ठितस्य

पाणिनीय व्याकरण अपनी वैज्ञानिक प्रविधि, व्यापक व्यवस्थित चिन्तन के लिए विश्व में प्रख्यात है। मानव मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में सर्वविदित पाणिनीय अष्टाध्यायी पर गहन अनुसन्धान प्राचीन काल से अद्यावधि निरन्तर क्रियमाण है। पाश्चात्य जगत् के अनुसन्धाता भी इस विमर्श का हिस्सा बन स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में पाणिनीय सूत्र 'भ्यसो भ्यम्' की व्याकरणिक दृष्टि से समीक्षा करने का प्रयास किया जा रहा है।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, हर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
* एम.फिल, टीजीटी (संस्कृत), सर्वोदय कन्या विद्यालय, दिल्ली

युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तरवर्ती चतुर्थी तथा पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर आचार्य 'भ्यम्' आदेश का विधान करते हैं।[1] प्रकृत आदेश के फलस्वरूप 'युष्मद् भ्यस्' इस स्थिति में 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र से भ्यम् आदेश तथा 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से अन्त्य का लोप होकर 'युष्मभ्यम्' तथा इसी प्रकार 'अस्मभ्यम्' शब्द सिद्ध होता है।

आदेश-स्वरूप-विमर्श

'भाष्यकार 'भ्यस्' के आदेशभूत 'भ्यम्' के विषय में विशेष विचार करते हैं। जिज्ञासा यह है कि विधेय 'भ्यम्' है अथवा 'अभ्यम्'[2] है, इस जिज्ञासा का मूल यह है कि 'भ्यम्' और 'अभ्यम्' दोनों स्थितियों में सूत्र का उच्चारण समान है। 'अभ्यम्' शब्द होने पर भी 'एङः पदान्तादति' (अष्टा. 6.1.109) से पूर्वरूप एकादेश होकर भ्यसोऽभ्यम् यह उच्चारण होगा तथा 'भ्यम्' आदेश होने पर भी 'भ्यसोऽभ्यम्' यही उच्चारण होगा।

कैयट द्वारा प्रस्तुत चार विधियाँ

इस विधि में भाष्यकार के अभिप्राय के अनुरूप कैयट आदेशभूत 'भ्यम्' के विषय में चार प्रकार की स्थितियों का निरूपण करते हैं।[3]

1. 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से अन्त्य का लोप स्वीकार करें।[4]
2. 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप।[5]
3. 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेपे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग का लोप।[6]
4. 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप।[7]

इन चारों पक्षों का विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

'भ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित आक्षेप

सर्वप्रथम 'भ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित होने वाले आक्षेपों पर विचार करते हैं, यदि 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग का लोप स्वीकार किया जाता है तो 'युष्मद् भ्यम्' तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग 'द्' का लोप होने पर 'युष्म +भ्यम्' यह स्थिति उत्पन्न होती है। युष्म +भ्यम् इस स्थिति में 'बहुवचने झल्येत्' (अष्टा, 7.3.103) सूत्र से अदन्त युष्म से उत्तर झलादि बहुवचन 'भ्यम्' परे होने पर एत्व की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में युष्मेभ्यम्' इस प्रकार अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।[8]

यदि 'भ्यम्' आदेश और 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से युष्मद् के 'टि' भाग के लोप को स्वीकार करते हैं तो युष्मद् +भ्यम् = 'युष्मभ्यम्' इष्ट रूप सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस पक्ष को प्रदीपकार ने अत्यन्त दुष्ट पक्ष कहा है, क्योंकि रूप-सिद्धि नहीं हो पायेगी।[9]

'भ्यम्' आदेश पक्ष में प्रस्तुत समाधान

'भ्यम्' आदेश पक्ष में एत्व-सम्बन्धी आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार अङ्गाधिकार-सम्बन्धी एक परिभाषा[10] को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अङ्गाधिकार में कथित एक कार्य के हो जाने पर अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं होता।[11] 'युष्मद्-भ्यम्' यहाँ पर अन्त्य लोप विधायक 'शेषे लोपः' (अष्टा, 7.2.90) सूत्र भी अङ्ग-विधि है तथा एत्व विधायक सूत्र 'बहुवचने झल्येत्' (7.3.103) भी अङ्ग-विधि है अतः एक बार अङ्ग-विधि 'शेषे लोपः' के प्रवृत्त हो जाने के बाद पुनः एत्व-सम्बन्धी अङ्ग कार्य प्रवृत्त नहीं होगा तथा इष्ट सिद्धि हो जायेगी। ध्यातव्य है कि नागेशभट्ट उक्त परिभाषा को अनित्य मानते हैं।[12] ज्ञापक के रूप में वे 'किंयत्तदोर्निधारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' (अष्टा. 5.3.92) सूत्र में आये हुए 'द्वयोः' इस पद को प्रस्तुत करते हैं। 'द्वयोः' शब्द की सिद्धि में 'द्वि+ओस्' इस स्थिति में अङ्गाधिकारीय 'त्यदादीनामः' (अष्टा. 7.2.102) सूत्र से द्वि को अत्व होने (द्व) पर, अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य एत्व विधायक सूत्र 'ओसि च' (अष्टा. 7.3.104) प्रवृत्त होता है तब 'द्वे +ओस्, द्वयोस्, द्वयोः' इष्ट रूप सिद्ध होता है। नागेश का कथन है कि यह परिभाषा अनित्य है, परन्तु 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा के अनित्यत्व के बल को जानकर ही भाष्यकार ने इस परिभाषा के साथ 'निष्ठितस्य' शब्द का प्रयोग किया है (अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिनिष्ठितस्य)[13] 'निष्ठितस्य' का अर्थ है 'परिनिष्ठितस्य' अर्थात् जिस अङ्ग-कार्य की प्रवृत्ति के बिना ही परिनिष्ठित (व्यवहार्य) प्रयोग बन जाता है, वहीं अङ्ग-कार्य एक अङ्ग कार्य करने पर प्रवृत्त नहीं होता। अतः यहाँ पर भी यह परिभाषा नित्य रूप से प्रवृत्त हो जायेगी तथा 'एत्व' आदेश रूप अङ्ग कार्य प्रवृत्त नहीं होगा।

'अभ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित आक्षेप

'अभ्यम्' आदेश पक्ष की मीमांसा करते हुए कुछ दोष दृष्टिगोचर होते हैं। यदि 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप स्वीकार करते हैं तो 'युष्मद् अभ्यम्' में 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप होने पर 'युष्म्‌अभ्यम्' यह स्थिति बनती है। यहाँ पर 'अभ्यम्' 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अष्टा. 3.1.4) सूत्र से अनुदात है तथा 'युष्मद्' शब्द प्रातिपदिक स्वर की दृष्टि से 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि.सू. 1) फिट्-सूत्र के द्वारा अन्तोदात्त है।

'अभ्यम्' अनुदात्त के परे होने से जब 'युष्मद्' के अन्तोदात्त 'अद्' भाग का लोप होता है तो ऐसी अवस्था में अन्तोदात्त प्राप्त होगा। प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं कि 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' (अष्टा, 6.1.159) सूत्र से 'अन्त' पद की अनुवृत्ति 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (अष्टा. 6.1.161) सूत्र में होती है जिससे उसका अर्थ इस प्रकार होता है कि जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होता है उस अनुदात्त को भी अन्तोदात्त हो जाता है, इससे यहाँ पर 'युष्मभ्यम्' इसमें अन्तोदात्त की प्राप्ति होने लगती है जबकि मध्योदात्त इष्ट है।[14]

'अभ्यम्' आदेश पक्ष में प्रस्तुत समाधान

'अभ्यम्' आदेश और 'टि' लोप में अन्तोदात्त स्वर सम्बन्धी आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' सूत्र में उपरिनिर्दिष्ट सूत्र 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' सूत्र से 'अन्त' पद की अनुवृत्ति नहीं आयेगी, अतः 'युष्मद् +अभ्यम्' इस स्थिति में अनुदात्त 'अभ्यम्' के परे रहते उदात्त 'अ' का लोप हो 'अभ्यम्' को आदि उदात्त ही होगा[15] जिससे कि 'युष्मभ्यम्' शब्द मध्योदात्त हो जायेगा तथा इष्ट सिद्धि हो जायेगी।

ध्यातव्य है कि प्रदीपकार की दृष्टि में तृतीय पक्ष अधिक निर्दोष है जब 'अभ्यम्' आदेश तथा अन्त्य 'द्' का लोप होता है। 'युष्मद् +अभ्यम्' इस स्थिति में अन्त्य 'द्' का लोप होने पर 'युष्म अभ्यम्' होने पर अभ्यम् के अकार के कारण 'झल्' परक एत्व की प्राप्ति नहीं होती तथा अकार-उच्चारण के सामर्थ्य से सवर्णदीर्घत्व की भी प्राप्ति नहीं होती। युष्म+अभ्यम् इस अवस्था में 'अतो गुणे' (अष्टा. 6.1.96) सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (अष्टा. 8.2.5) सूत्र से उदात्त और अनुदात्त के एकादेश को उदात्त ही होता है इस नियम् से 'युष्मभ्यम्' को मध्योदात्त हो जायेगा।[16]

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भ्यम् अथवा 'अभ्यम्' आदेश में किसको स्वीकार करें। काशिकाकार 'भ्यम्' आदेश का सिद्धान्त के रूप में स्थापित करते हैं तथा 'अभ्यम्' आदेश को 'केचित्' पद द्वारा निर्दिष्ट करते हैं।

इस सारी चर्चा में एक विशेष तथ्य ध्यातव्य है कि 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र की दो प्रकार की व्याख्याओं के आधार पर ही यहाँ 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश की चर्चा होती है। 'शेषे लोपः' सूत्र की एक व्याख्या अन्त्य-लोप विधायक के रूप में होती है तथा दूसरी टि-भाग के लोप विधायक के रूप में। काशिकाकार की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें 'भ्यम्' आदेश ही अभीष्ट है। अत एव वे 'अभ्यम्' आदेश की चर्चा 'केचित्' पद के साथ करते हैं। भाष्य में इस तरह का कोई सङ्केत प्राप्त नहीं होता। पदमञ्जरीकार भी 'केचित्' पद की व्याख्या 'येषां मते तु' इस प्रकार करते हैं जिससे अन्य आचार्यों का ही बोध होता है। भट्टोजिदीक्षित 'भ्यम्' और 'अभ्यम्' दोनों ही आदेश वैकल्पिक रूप से स्वीकार करते हैं।

संदर्भ -

1. अस्य च न्यासस्य शित्करणमेव ज्ञापकमिति बोध्यम्। महाभाष्यप्रदीप-उद्योत 7.1.27. VI. 31
2. भ्यसो भ्यम्। अष्टाध्यायी 7.1.30
3. चत्वारोऽत्र पक्षाः सम्भवन्ति। महाभाष्यप्रदीप 7.1.30, VI. 33
4. भ्यमादेशः, शेषे लोपोऽन्त्यलोपः। वही
5. भ्यमादेशः, शेषे लोपष्टिलोपः। वही
6. अभ्यमादेशः शेषे लोपोऽन्त्यलोपः। वही
7. अभ्यमादेशः शेषे लोपष्टिलोपः। वही
8. यदि तावद् भ्यम्शब्दः शेषे लोपश्चान्त्यस्य एत्वं प्राप्नोति। महाभाष्य 7.1.0, III. 252

9. तदेवं द्वितीयपक्षोऽत्यन्तदुष्टः। महाभाष्य 7.1.0. VI. 34
10. अङ्गवृत्तेर्पुनर्वृत्तावविधिः। परिभाषेंदुशेखर 93
11. नैष दोषः अङ्गवृत्तेर्जुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्येति न भविष्यति। महाभाष्य 7.1.30, III. 252
12. (क) इयं चानित्या 'द्वयोः' इतिनिर्देशात्। परिभाषेंदुशेखर 93. पृष्ठ 601
(ख) अनित्यत्वबललभ्यार्थमादायैव 'भ्यसोभ्यम्' सूत्रे भाष्ये निष्ठितस्येति पठितम्। वही
13. महाभाष्य 7.1.30, III. 252
14. कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्त इत्यतोऽन्तग्रहणमनुदात्तं तस्य च यत्रोदात्तलोप इत्यत्रानुवत्र्तते, ततश्चाऽन्तोदात्तं पदं प्राप्नोति, मध्योदात्तं चेष्यते। महाभाष्यप्रदीप-7.1.30, VI. 34
15. नैष दोषः। आदौ सिद्धमिति। महाभाष्य 7.1.30, III. 252
16. अभ्यमादेशे शेषे लोपेऽन्त्यलोपे च द्वयोरकारयोः पररूपमेकादेश उदात्तेनोदात्त इत्युदात्तत्वं भवति। युष्मदस्मदोः प्रातिपदिकस्वरेण प्रत्ययस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वात्। टिलोपपक्षे चाऽकारोच्चारणमर्थवत् अन्त्यलोपेऽप्येत्वनिवृत्त्यर्थममिति अकारोच्चारण-सामश्र्यात् सवर्णदीर्घत्वेन भाव्यमिति न चोदनीयम्। तृतीयस्तु निर्दोष इति तत्परिहारेण पक्षद्वयाश्रयो भाष्ये विचारः। महाभाष्यप्रदीप 7.1.30, VI. 33

वैदिक युग के भारतीय आभूषण

• डॉ. ऋतु सिंह

शोधसार - आभूषणों के विषय में ऐसा अनुमान है कि आभूषणों के आकार-प्रकार में निरन्तर विकास होता रहा है। पहिले यदि चमकते हुए पत्थरों को कंकड़ों के रूप में धागों से बाँध कर पहिनते थे, तो आगे चलकर उनमें छेद करके पहिनने लगे और बाद में इन पत्थरों एवं हड्डियों को सुसज्जित करके, घिसकरके, आकार परिवर्तन करके बनाने लगे। इसी प्रकार पहिले धातु के पत्थर को काटकर उससे सादे आभूषण बनाये जाते थे, फिर उन पर नक्काशी खोदी जाने लगी, आगे चलकर प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़ना प्रारम्भ हुआ, उसके बाद धातु में पत्थर को जड़ना प्रारम्भ हुआ। पहिले के आभूषणों के आकार प्राय: पत्ती और पुष्पों से लिए गये थे। क्रमशः आगे चलकर इनके आकारों में विकास हुआ तथा जनवरों की आकृति की भी प्रतिकृति बनने लगी, इसी प्रकार नगीने भी एक के स्थान पर कई जड़े जाने लगे और पीछे चलकर उभाड़दार नक्काशी में भी गड्ढ़े बनाकर उसमें विविध रंग भरे जाने लगे। इन रंगों के बनाने में भी निरन्तर विकास होता चला गया। एक रत्न के काटने और उसको चमकाने की प्रक्रिया में भी धीरे-धीरे इसी प्रकार मनुष्य विकास करता चला गया। इस अध्ययन में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा सूत्रों में प्राप्त आभूषणपरक शब्दों के संग्रह करने का ध्येय हैं। ये शब्द किस आभूषण के द्योतक हैं तथा शरीर के किस भाग में पहिने जाते थे, इसकी मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया है।

बीजशब्द : स्तूप, हिटाईट देवता, शिप्र, तिरीट, ओपश, प्रावेप, प्रर्वत्त, निष्क, परिहस्त, आनूक, वरुणपाश, निनाह, 'स्तूका', प्राचीन पाषाण, *हुण्डियाँ* ।

वर्तमान युग में पुरातत्ववेत्ताओं की खोज के फलस्वरूप हमें यह निश्चित रूप से पता चल गया हैं, कि प्राचीन पाषाण युग में पशुओं का आखेट करके उन्हें खाने के साथ ही साथ वे उनका हड्डियों से बने आभूषण धारण करते थे। ये आभूषण भूगर्भवेत्ताओं को खोदाई में प्राप्त हुए है। उसी प्रकार इनसे भी प्राचीन पाषाण काल के मनुष्यों के आभूषण भी प्राप्त हुए हैं,[1] इन सब खोजों से ऐसा प्रतीत होता हैं,

* असिस्टेंट प्रोफेसर, महिला पी॰जी॰ कॉलेज अमीनाबाद, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

कि मनुष्य अतीत काल से आभूषणों से शरीर को अपने प्रेमी या प्रेमिका को अपनी ओर आकर्षित करने के हेतु सजाता था। ऋग्वेद के काल के आर्य यदि भारत के बाहर से भी भारत में आये, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह स्थान भारतीय व्यापारियों के प्रभाव की सीमा से बाहर नहीं था। क्योंकि इस काल के बहुत पहिले से भारतीय व्यापारी सुदूर पश्चिम तक जैसे ईरान, मैसोपोटामिया तथा जिनसे जाया करते थे।[2] इस कारण बहुत सम्भव है, वे भारतीय हो, क्योंकि भारतीय तो प्राचीन काल से ही आभूषण प्रेमी रहे हैं।[3] प्राचीन काल में यह विचार धारा भी मिलती हैं, कि विशेष प्रकार के रत्नों के धारण करने से तथा आभूषणों के पहिनने से मनुष्य की भूत-प्रेत से रक्षा होती हैं । वेदों में यह भी दृष्टिगत होता है, कि स्वर्ण धारण करने से आयु में वृद्धि होती हैं। विभिन्न धातुओं तथा रत्नों से चिकित्सकों ने रोगों के नाश करने की शक्ति बताई थी। ऐसा अनुमान होता हैं, कि इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर मनुष्य आभूषण धारण करते थे वैदिक वाङ्मय में हमें प्राप्त आभूषणों के नाम से यह ज्ञातव्य हैं, कि स्त्रियाँ और पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। वेदों, संहिताओं, ब्राहणों, आरण्यकों तथा सूत्रों में प्राप्त क्रमबद्ध आभूषण के नाम से यह ज्ञात होता है, कि उत्रोत्तर विकास के साथ-साथ आभूषण की संख्या तथा नाम दोनों में ही परिवर्तन होता रहा था । शरीर के प्रत्येक अड्गों के आभूषण क नाम हमें वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होने से यह तो निश्चित हैं, कि उत्रोत्तर विकास के साथ कहीं न कहीं कुछ परिवर्तनों के साथ हमें आज भी वह आभूषण प्राप्त होते हैं।

आभूषणों के नाम तथा उनके सम्भावित स्वरुप

पुरुषों के सिर के आभूषण के रूप में हमें ऋग्वेद में दो शब्द **'स्तुका'** तथा **'स्तूप'** प्राप्त होते हैं।[4] स्तुका वैदिक इण्डेक्स में अर्थ हैं - शिखा या केश की चोटी, यही अर्थ मोनियर विलिम्यस ने भी इस शब्द का किया है।[5] स्तूप शब्द का अर्थ- वैदिक इण्डेक्स में शिक्षा की गांठ या मस्तक पर का जूड़ा किया गया है।[6] इस प्रकार इस शब्द को या यह मान लिया जाये कि स्तूप के आकार वाले किसी वस्तु के नाम का द्योतक है, जिसके नीचे कुछ रहता था, तो यह अनुचित न होगा। इस अनुमान पर यह धारणा बनती है, कि सिर पर जब स्तूप का वर्णन मिलता है, तो वह कोण के आकार का आभूषण समझना चाहिए। जिसके नीचे शिखा की ग्रन्थि हो और यह धारणा अनुचित न होगी। ऋग्वेद में मन्त्र यों हैं-

"अबुध्ने रजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः ।
नीचीनाः स्थुसपीर बुध एषामस्मे अर्न्तर्निहिताः केतवः स्युः ।।"[7]

प्रकाशमान राजा वरुण स्वच्छ पवित्र तथा तेजोबल से युक्त होकर सबके ऊपर बन्धनरहित स्तूप को धारण करते हैं। इसमें से प्रकाशित होने वाली किरणें इस भूमि पर आकर पड़ती है। दूसरा मन्त्र यों हैं-

जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतं धूममृण्वन्।
उपस्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः संरश्मिभिर्स्ततनः सूर्यस्य ।।[8]

हे अग्नि ! काष्ठ को प्राप्त करके तेजस्वी बन, इस बृहत् यज्ञ को उज्जवल कर और अपने धूम से शत्रु को कम्पित करने वाली शक्ति प्रदान कर सूर्य के स्तूप नामक आभूषण से निकली हुई रश्मियों के समान अपने तेज का विस्तार कर। इन मन्त्रों से यह अनुमान होता है, कि स्तूप शब्द मस्तक के एक आभूषण का द्योतक था तथा इसे पुरुष धारण करेत थे, यह प्रायः सुवर्ण का होता था और उसी प्रकार का रहा होगा, जैसा मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त हुआ है।[9] इसी प्रकार के टोपी को हम हिटाईट देवताओं के मस्तकों पर भी पाते हैं।[10]

ऋग्वेद में एक दूसरा "शिप्र" मिलता है। अधोलिखित मन्त्र में यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि यह सिर का आभूषण था और धातु का बना हुआ था तथा टोपी के सदृश आकार का था।

अंसेषु व कृष्टयः पत्सु खादयो वक्षः सू रुक्मा मरुतो रथे शुभः ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभत्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्यर्याः ।। [11]

यहाँ शिप्र सिर पर है, बड़ा है तथा हिरण्य का है, इसे मुकुट भी कह सकते हैं। इस प्रकार टोपीनुमा मुकुट[12] सिन्धु घाटी से प्राप्त मृन्मय मूर्तियों के मस्तकों पर दिखायी देता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह शिप्र ही हैं । इसी प्रकार का लम्बा मुकुट हिटाईट को एक सैनिक के मस्तक पर दिखायी देता है, जो शिरस्त्राण की भाँति का है।[13]

स्तूप या स्तुप शब्द ऋग्वेद की भाँति यजुर्वेद में भी मिलता हैं -

आदित्यै व्युन्दनमसि विष्णोस्तुपोऽसि ।[14]

हे कुश समूह ! तुम यज्ञ के मस्तक पर धारण करने वाले स्तूप की भाँति हो। तिरीट शब्द वैदिक इण्डेक्स के विवरण के अनुसार अथर्ववेद में “किरीट” के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[15] अधोलिखित मन्त्र में तिरीटन एक राक्षस का नाम ज्ञात होता है, जो कदाचित तिरीट पहिनता था। यह राक्षस पिता या भाई के स्वरूप को धारण करके स्त्रियों को भ्रष्ट करता था ।

मोनियर विलिम्यस -

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वापितेव च ।
वजस्तान्त्सहसामितः क्लीव सपांस्तिरीरिनः । ।[16]

तेरे स्वप्न के समय भाई या पिता का स्वरूप धर कर तिरीटिन की भाँति नपुंसक को नीच भाव से तेरे समीप आता है या उस तेजस्वी पुरुष को पराजित करे या तुझे विवाहे।

ऐसा अनुमान होता है, कि इस तिरीट शब्द से किरीट बना है। यह एक प्रकार का मुकुट ही प्रतीत होता है, जिनमें तीन कंगूरे लगे रहते हैं, जैसे मुकुट पीछे चलकर कृष्ण के मस्तक पर हम कई वसौली चित्रों से देखते हैं।[17]

स्त्रियों के सिर के आभूषण के रूप में हमें ऋग्वेद में 'कुरीट' तथा 'ओपश' शब्द स्त्रियों के मस्तक के आभूषण के नाम के रूप में प्राप्त होते हैं।[18]

कुरीर शब्द की व्याख्या गेल्डनर ने श्रृंग की हैं।[19] यों यह शब्द अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है। यजुर्वेद में सिनिवाली को 'सुकुरीरा' कहा है। यह शब्द ऋग्वेद में विवाह के समय वधू के श्रृंगार के प्रकरण में प्राप्त होता है। इस कारण इसका श्रृङ्ग अर्थ करना उपर्युक्त नहीं हैं।

स्तोमा आसतप्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।

सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ।। [20]

ऊषा के तुल्य[21] अनुरागवाली नववधू जन अपने पति के साथ जाने को हो, तो उसको उत्तम - उत्तम उपदेश दिये जाये तथा कुरीर एवं ओपश नाम के आभूषणों से सजाया जाये जिससे उसकी मनोकामना पूर्ण हो। मोनियर विलिम्यस ने इस एक प्रकार का मुकुट कहा है।

ऋग्वेद में सिर के आभूषण के लिए दूसरा शब्द ओपश मिलता है। यह आभूषण आज के बन्दी की भाँति कदाचित् मस्तक के चारों ओर लपेट कर पहिना जाता था। यह केश का वेष्टन जान पड़ता है। यजुर्वेद में सिनिवाली के सिर के आभूषणों में कुरीर के साथ ओपश शब्द भी मिलता है।[22] तथा अथर्ववेद में भी ओपश शब्द स्त्रियों के आभूषण के रूप में मिलता है।[23]

कर्णाभूषणों के नामों में सर्वप्रथम कर्णशोमना प्राप्त होता है।[24] यह शब्द आज भी कानपाशा के पर्यायवाची शब्द के रूप में बंगला भाषा में प्राप्त होता है -

उतः नः कर्णशोभना पुराणि धृष्णवा भर ।

त्वं हि श्रृण्विषे वसो ॥[25]

शत्रुओं को पीस देने वाले और त्रास देने वाले इन्द्र ! तुम्हारी ही कीर्ति सुनी जाती है, तुम हमें वहु संख्या में कर्णाभरण प्रदान करो। कदाचित् यह आभूषण पाणिनी के कर्णिका की भाँति रहा होगा।[26] वैदिक इण्डेक्स के विवरण के अनुसार यह पुरुषों का आभूषण था ।[27] ऐसा अनुमान होता है, कि यह कुण्डल के आकार का कोई आभूषण था। जैसा हमें हिटाईट के एक राजा के कान में दिखायी देता है ।[28]

संहिताओं में दो शब्द 'प्रावेप'[29] तथा 'प्रर्वत्त'[30] कान के आभूषणों के नामों में प्राप्त होता है, प्रवर्त्त पुरुषों के कर्णाभूषण रहे होगें । यह इस मंत्र से ज्ञात होता है-

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं ।

वासोहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः । ।[31]

व्रात्य का स्वरूप श्रद्धा नारी के समान हैं, उसका मागध मित्र हैं , विज्ञान उसका वस्त्र है, दिन उसकी पगड़ी हैं, रात्रि उसके केश हैं, सूर्य और चन्द्र उसके कुण्डल है , तारे उसके देह पर की मणियाँ हैं।

उस काल में साधारण रूप से तार को कान में डालकर वाली का मुँह एक दूसरे मुँह के ऊपर चढा दिया जाता होगा। इस कारण इसे प्रवर्त्त कहा है। उस प्रकार का आभूषण चादयाड़ो से भी प्राप्त हुआ है। प्रावेप शब्द मैत्रायणी संहिता में प्राप्त होता है।[32]

सौर्यौ वा उड्ताऽथो अमुमेवास्मा आदित्यमाप्तवोत्रयति, प्रावेपा अध्वर्योऽर्यमा इव ह्यध्वर्युः ॥[33]

यहाँ प्रावेप अध्यर्वयु को देने का निर्देश प्राप्त होता है।[34] यह आभूषण कर्णपूल की भाँति होता होगा ऐसा अनुमान है , क्योंकि प्रावेप का अर्थ होता है – जो ऊपर से ढ़के कार्य होता है।

ग्रीवा के आभूषण के रूप में

ऋग्वेद में "निष्क" नामक आभूषण प्राप्त होता है, जो ग्रीवा में धारण किया जाता था। मोनियर विलियम्स से इसका अर्थ गले का आभूषण किया है तथा इसका अर्थ वत्तीस रती का दीनाए भी किया है।[35] वैदिक इण्डेक्स में इसे गले का आभूषण का नाम माना है।[36]

आ श्रवैत्रेयस्य जन्तवो द्युमदर्धन्तः कृष्टयः ।
निष्कग्रीवो बृहदुक्ख एना मध्वा न वाजयुः।।[37]

मन्त्रों के पाठ कराने वाले अन्नाभिलाषी गले में "निष्क धारण किये हुए यजमान तथा ऋत्विज् स्रोत्रों द्वारा अन्तरिक्षवर्ती अग्नि के देदीप्यमान को बल बाँधते हैं। वक्षस्थल पर पहिनने के लिए एक आभूषण का नाम ऋग्वेद में 'रुक्म' भी प्राप्त होता है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह सुवर्ण का बनता था।

शतपथ के अनुसारः- यह गोल होता था तथा इसमें २१ हुण्डियाँ लगी रहती थी। अर्थर्ववेद में निष्क शब्द अधोलिखित मंत्र में मिलता है-

रिश्यस्येव पराशीसं परिकृत्य परि त्वचः।
कृत्यां कृत्या कृत्ते देवा निष्कामेव प्रति मुञ्चत् ॥[38]

अथर्ववेद में 'रुक्म शब्द भी प्राप्त होता है।

रुक्म प्रस्तरणं ब्रह्मा विश्वा रुपाणि विभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री वृहते सौभागायकम् ।[39]

यह सूर्या अर्थात् सूर्य के समान तेज वाली, सावित्री की भाँति सुन्दरी, रुक्म धारण किये हुए विश्व को अपने रुप से मोहित करती हुई रथ पर सवार हो।

मैत्रायणी संहिता में रुक्म होता को देने का निर्देश मिलता है - **"रुक्मो होतुराग्नेयो वै होता।"** इस प्रकार रुक्म स्त्री तथा पुरुष दोनों धारण करते थे।

"बाहु तथा मणिबन्ध के आभूषण" हेतु भुजशब्द व्यवहार में आता है। इसे आभूषण के बीच में एक टिकड़ा रहता है और वह डोरी से भुजा पर बाँधा जाता हैं। एक और स्थान पर 'भुजी' शब्द प्राप्त होता हैं। यहाँ यह भुजी हिरण्य पेशस् कहा गया हैं अर्थात् यह भुजी हिरण्य के तार से सुशोभित था।

आं नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा।
भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ।। [40]

हे अश्विनों! आप की कान्ति सूर्य के समान हैं, आप अपने वेगवान् रथ पर अवश्य आवें। आप स्वर्ण के तारों से बना भुज धारण करते हैं। आप उत्तम, विद्वान्, दीर्घदर्शी, गम्भीर चित्त वाले हैं। एक प्रकार का भुज हम मोहनजुदाड़ो से प्राप्त एक दाढ़ी बाले मनुष्य के भुजा पर देखते हैं।[41]
ऋग्वेद में कई स्थानों पर खादि शब्द आया हैं। इसका अर्थ वैदिक इण्डेक्स में 'कड़ा' किया हैं।[42] मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ हाथ का कड़ा किया है।[43] शांखायन श्रौतसूत्र में हमें हिरण्यखादि का वर्णन मिलता हैं।[44] इसका अर्थ केवल कड़ा है। जहाँ हाथ का कड़ा कहना था, वहाँ ऋववेद में खादिहस्त कहा गया हैं तथा जहाँ पैर के कड़े का संकेत करना था, वहाँ 'पत्सुखादयोः' कहा गया हैं।[45] यह बाहु पर भी पहिना जाता था।[46] यह इस मंत्र से ज्ञात होता है।[47] इस प्रकार का कड़ा हमें हिटाईट शान्त्य देवता के बाहु पर दिखाई देता हैं। यथा-

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षः सु रुक्मा उपार्शाश्रियाणा[48]

मणिबन्धों पर भी खादि का संकेत मिलता हैं। स्त्री के मणिबन्ध के आभूषण का नाम "परिहस्त" प्राप्त होता है "

यन्तसि यच्छसे हस्तावपः रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्।।[49]

हिन्दी में पहुंची शब्द कदाचित् इसी परिहस्त का रुपान्तर हो। आज यह पहुंची स्वर्ण की बनती है और मणिबन्ध पर जाती हैं। **प्रतिसर** नाम का एक आभूषण अथर्ववेद के साथ ही साथ शतपथ तथा शांखायन में प्राप्त होता हैं। इसे वैदिक इण्डेक्स में जन्त्र कहा है।[50]

सेण्टपीटर्स वर्ग कोष में इसे बन्ध बताया है, जिसका एक मुँह दूसरे पर चढ़ा रहता था।[51] एगलिंग ने भी इसका यही अर्थ किया हैं।[52] प्रतिसर का यही अर्थ करना ठीक होगा अर्थात् ऐसा कड़ा जिसका एक मुँह दूसरे पर चढ़ा हुआ हो।
अंगूठी को आभूषण के रुप में ऋग्वेद काल के आर्य पहिनते थे। यह इस मंत्र से ज्ञात होता हैं-

हिरण्यपाणिभूतये सवितारमुपह्वये। स चेत्ता देवता पदम्।[53]

सविता जो सब जगत् के उत्पादक है, जो पाणि में स्वर्ण धारण करते हैं, उनका मैं सदा स्मरण करता हूँ। वे ही साक्षात् सब पदार्थो को देने वाले हैं।
अंगूठी के हेतु एक विशेष शब्द 'आनूक' प्राप्त होता है-

उतत्ये मा मारुताश्वस्य शोणाः क्रत्वामघासौ विदधस्यरातौ।
सहस्रा मे च्यक्तानो ददान आनूकमर्या वपुषे नाचित्।[54]

मरुताश्व के पुत्र विदथ ने हमारे लिए जिन रक्त वर्ण और श्रेष्ठ अश्वों को प्रदान किया था, वे हमें वहन करें। उन्होंने हमको सहस्र धन दिया हैं तथा अपने शरीर से उतार कर अंगूठी भी दी हैं।

हिरण्य शब्द अंगूठी के अर्थ में अर्थ में अथर्ववेद में भी प्रयुक्त हुआ हैं-

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।

एते पतिम्यसत्वावमुदः प्रतिकामाय वेत्तते।।55

हे कुमारी। यह स्वर्ण की अंगूठी यह गुग्गुल, यह अर्घ्यपाद्य के बर्तन यह सौभाग्य सूचक कुंकुम यह सब पति के सामने उपस्थित करने हेतुं तेरे प्रेम से वशीभूत होकर तुझे देते हैं। वाजसनेयिसंहिता में हिरण्यपाणि शब्द प्राप्त होता है, जैसे ऋग्वेद में-

हिरण्यपाणिभूतये सवितारमुपह्वये।

स चेता देवता पदम्।।56

अपनी रक्षा हेतु सविता का आवहन करता हूँ, जिसकी हाथ हिरण्य का हैं अर्थात् जिसके हाथ में हिरण्य का अंगूठी हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक मंत्र में ऊङ्ली में हिरण्यय बांधने का निर्देश प्राप्त होता है- **अथाऽस्याद्दं हिरण्यं बध्नीते।**

इससे ज्ञात होता हैं कि हिरण्य नामक अंगूठी स्त्री और पुरुष दोनों पहिनते थे।

कटि के आभूषण के रुप में हमें वरुणपाश तथा हिरण्यवर्तनी पहिनने का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। न्योचनी का अर्थ मोनियर विलियम्स ने करधनी किया हैं। यह शब्द विवाह के मंत्रो में प्राप्त होता हैं। आधुनिक संस्कृत में इसी प्रकार का पर्यायवाची शब्द नीबीबन्ध प्राप्त होता हैं। इन कारणों से ऐसा अनुमान होता हैं कि यह शब्द करधनी का द्योतक था।

रैभ्यासदिनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।

सूर्याया भद्रभिट्टासो गांथयैति परिष्कृतम्।।57

विद्वानों की शिक्षा, विवाह के अनन्तर देने योग्य हो। मनुष्यों की स्तुति वधू के लिए नारी के सुपथ पर रखने की करधनी हो। वरुणपाश, निनाह, मेखला तथा रासन शब्द संहिताओं में प्राप्त हैं।

वरुणपाश उस करधनी को कहते हैं, जो चोटी की भाँति गूँथ कर बनायी जाती हैं तथा यजमान पत्नी का धारण करायी जाती हैं।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वावध्नात् सविता सुशेवाः।58

राश्ना शब्द यजुर्वेद में प्राप्त होता हैं59- **आदित्यै राश्नासि।** (हे राश्ना, तुम भूमि की मेखला रुप हो।)

ब्राह्मणों में राश्ना के साथ तिरश्ची विशेषण प्रयुक्त हुआ हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि करधनी तीन लड़ी की होती थी।

पैर के आभूषण के रुप में खादि शब्द का पुनः प्रयोग हुआ हैं। पत्सु खादये पैर के मोटे कड़े का संकेत किया गया हैं।

विश्ववेदसो रयिभिः समाकेसः संभिश्लासस्त विषर्भिर्विरप्शिनः।
अस्तार इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्तशुभा वृषखादयो नः।।

एक और शब्द **हिरण्यपावा** ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

अञ्जते व्स्जते समञ्जते कर्तुं रिहन्ति मधुना भ्यञ्जते।
सिन्धोरुद्दाज पतयन्तमुक्षणं हिरण्पावाः पशुमासु गृण्णतै।।

जैसे पशु को लोग जल में स्नान कराने ले जाते है उसी प्रकार स्वर्ण के आभूषण पैर में धारण किये हुए ऋत्विक् सोम का जल में ले जाते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद काल से सूत्रकाल तक भारतीय आभूषण पहिनते थे, जिनके नाम तथा स्वरुप का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। इन आभूषण के नाम क्रमशः परिवर्तित होते हुए पाणिनि काल में के अश्वघोष के ग्रन्थों मेंना तथा भरत के नाट्यशास्त्र में होते हुए हमें आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ वर्तमान समाज एवं परिवेश में प्राप्त होते है।

यों आभूषणों के नामों तथा संख्या एवं धारण करने के अङ्गो में कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, जिससे ऐसा अनुमान होता है, कि जैसे- जैसे नये आभूषण व्यवहार में आने लगे, उनके नाम भी उनके साथ साहित्य में आये । भाषा में यह प्रक्रिया नित्य ही चलती रहती है, जो हमें इस प्रकार के अध्ययन में सहायक होती हैं। वैदिक वाङ्मय में प्राप्त आभूषणों के नाम कमशः परिवर्तित होते हुए पाणिनी काल में, अश्वघोष के ग्रन्थों में तथा भरत के नाट्यशास्त्र में होते हुए हमें आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ वर्तमान समाज एवं परिवेश में प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ –

[1] ग्रेशम्स इनसाइक्लोपीडिया – ख ८, अवर्नामेण्ड्स-पृ० २४१.

[2] अरनेस्ट माके - फरदर एक्स कवेशंस एण्ड मोहनजोदड़ो-पृ०-६३९

[3] मैककिण्डिल एनशण्ट इण्डिया अऐज डिस्काईव्ड बाई मेगास्थनीज एण्ड आर्रियन (कलकत्ता - १९२६ स्नावों फ्रागंमेण्ट- २८ पृष्ठ-६८-६९

[4] ए० ए० मेकाडानेल एण्ड कीथ - उपर्युक्त खण्ड २ पृष्ठ ४८३।

[5] मोनियर विलिम्यस - संस्कृत इङ्गलिश डिक्सनरी-प्रथम संस्करण पृष्ठ – ४३

[6] जैसे हमारे उत्तर भारत में सिख लोग बाँधते हैं।

[7] ऋक् - १,२४,७

[8] ऋक् -७,२,१

[9] मार्शल - मोहनजोदड़ो एण्ड दी इण्डस सिविलजेशन - ३ भाग पृष्ठ ५१९ तथा माधो स्वरूप वत्स एक्सक्रेशन्स एट हड़प्पा भाग २ पृ० ६४ (१९४०)

[10] ओ. आर. गर्नी - दी हिटाइट्स - एपेलिकन बुक-प्लेट-२८

[11] ऋक् ५,५४,११

[12] माधो स्वरूप वत्स एक्सकवेसन्स एट हड़प्पा-७३-१-९ इत्यादि

[13] ओ. आर. गर्नो - दी हिटाइट्स - एपेलिकन बुक-प्लेट ४ए.

14 वाजसनेयि संहिता-२,२
15 ए.ए. मेकाडानेल एण्ड कीथ - उपरोक्त खण्ड-१-पृष्ठ-३१.
16 अथर्व- ८,६,७
17 शुक्ल यजुर्वेद (श्रीमद् - वाजसनेयि- माध्यन्दिनी) संपादक वासुदेवःलक्ष्मणशास्त्री पणशीकर द्वितीय संस्करण पृष्ठ -२००.
18 मैत्रायणी संहिता – २, ६, ५ , तैत्रिरीय संहिता - ४.१,५,३
19 कार्ल खण्डालवाला – इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेण्डिग्र डी.वी तारा पुखाल एण्ड कम्पनी -प्लेट ३९-४०
20 ऋग्वेद-१०,८,५८
21 ऋग्वेद-१०,८,५८
22 वाजसनेयि संहिता - ११,५६; तैतिरीय संहिता - ४,१,५,३, मैत्रायणी संहिता- २,७,५ .
23 अथर्ववेद -६,१३८,१,२ । ९,६८ .
24 ए. ए. मेकाडनेल एण्ड कीथ - खण्ड १- पृष्ठ -१०४.
25 ऋक्- ८,७८,३
26 अग्रवाल वासुदेवशरण - पाणिनीकालीन भारतवर्ष पृष्ठ – १३८
27 ए. ए. मेकाडनेल एण्ड कीथ - खण्ड १- पृष्ठ -१४०
28 गर्नी दी हिटाइह्व पृष्ठ -१२९ के समक्ष प्लेट- १६
29 ए. ए. मेकाडनेल एण्ड कीथ-उपरोक्त खण्ड २ पृष्ठ – ४१
30ए. ए. मेकाडनेल एण्ड कीथ-उपरोक्त खण्ड २ पृष्ठ – ४०
31 अथर्व वेद-१५/८/५
32 ई. माके - चान्हूदाड़ो एक्सक्रेशन्स प्लेट- ७३, फिगण्ट - १० तथा २१
33 मैत्रायाणि संहिता – ४,४,८
34 ओ.आर.गर्नी – टी हिटाईह्व – प्लेट १६, पृष्ठ-१२९ के समक्ष
35 मोनिसर विलिम्यस - खण्ड १ पृष्ठ ५०६
36 ए० ए० मेकाडानेल एण्ड कीथ खण्ड - १ - पृष्ठ ४५४
37 ऋग्वेद-५,१९,३
38 अथर्ववेद-५,१४,३
39 अथर्ववेद-३४,१४,२,३०
40 ऋक्, ८/८/२१
41 मारटीमोर हीलर- दी इण्डस सिविलीजेशन- प्लेट १६ दक्षिण भुजा पर।
42 ए. ए. मेकाडानेल एण्ड कीथ- खण्ड १- पृष्ठ २१६
43 मोनियर विलियम्स- पृष्ठ- २७५
44 शांखायन श्रौतसूत्र- ३,५,१२;। ८,२३,६
45 ऋक्- ५,५४,११
46 ए. ए. मेकाडानेल एण्ड कीथ- खण्ड १- पृष्ठ २१६
47 शांखायन आरण्यक – १३,३०
48 ऋक्-७,५६,१३
49 अथर्व -६,८१, १
50 ए. ए. मेकाडानेल एण्ड कीथ- खण्ड २- पृष्ठ ३२
51 राथ- सेण्ट पीटर्सवर्ग डिक्सनरी, एस.वी
52 एगलिंग- शतपथ ब्राह्मण सेकेण्ड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, पृष्ठ-४१-५३
53 ऋक्-१,२२,५
54 ऋक्-५,३३,९
55 अथर्व-२,३६,७
56 वाजसनेयि संहिता-२२/१०
57 ऋक्- १०,८५,६
58 अथर्ववेद- १४/१/१९
59 वाजसनेयि- १,३०,११,५६,३८, काठक संहिता-१,२,१६५

धम्मपद का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

• डॉ. बृजेश कुमार सोनकर

शोधसार - धम्मपद बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें भगवान बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना अत्यंत रोचक और प्रभावी है, क्योंकि इसमें जीवन के मानसिक और भावनात्मक पहलुओं को गहरे तरीके से समझाया गया है। धम्मपद का प्रत्येक श्लोक मनुष्य के विचारों, भावनाओं और कर्मों पर केंद्रित है। धम्मपद हमें मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण की महत्ता सिखाता है। इसका मानना है कि मानव मस्तिष्क में उठने वाली नकारात्मक भावनाएँ, जैसे क्रोध, चिंता और भय, हमारे जीवन को अशांत कर सकती हैं।

ध्यान, आत्म-नियंत्रण और सकारात्मक मानसिकता से हम इन विकारों को नियंत्रित कर सकते हैं और मानसिक शांति प्राप्त कर सकते हैं। मनोविज्ञान में, धम्मपद के उपदेशों को आत्म-जागरूकता, आत्म-नियंत्रण, और मानसिक संतुलन से जोड़ा जा सकता है। यह ग्रंथ व्यक्ति को आंतरिक शांति और स्थिरता की ओर मार्गदर्शन करता है। साथ ही, यह हमें अपने विचारों, भावनाओं और कर्मों की जिम्मेदारी लेने की प्रेरणा देता है, जिससे जीवन में खुशी और संतुलन की प्राप्ति होती है। धम्मपद का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें मानसिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता देने और आत्म-निर्भरता की दिशा में अग्रसर होने का संदेश देता है।

बीजशब्द : धम्मपद, धम्मपद का मनोवैज्ञानिक, आत्म-नियंत्रण, मानसिक शांति, बौद्ध धर्म, मन।

मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण धम्मपद के मुख्य विषयों में से हैं। यह ग्रंथ मन की शुद्धि, संतुलन और आत्म-नियंत्रण के महत्व को बार-बार दोहराता है। नीचे धम्मपद की कुछ गाथाएं (छंद) दी गई हैं, जो मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण के विषय पर प्रकाश डालती हैं:

* सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मन की प्रधानता और शांति

"मनो पुब्बंगमा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कंव वहतो पदं।"[1]

मन ही सभी धर्मों (मानसिक अवस्थाओं) का पूर्वगामी है, मन ही प्रधान है, सब कुछ मन से ही बना है। यदि कोई व्यक्ति दूषित मन से बोलता या कार्य करता है, तो दुख उसका पीछा करता है, जैसे पहिए को खींचने वाले बैल के पैरों के पीछे पहिया चलता है। मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण के लिए मन को शुद्ध और संतुलित रखना आवश्यक है। दूषित विचार दुख का कारण बनते हैं।

आत्म-नियंत्रण की महिमा

"सहेतु सब्बदुक्खानं, निग्गंथो निरुपद्दवो।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं।"[2]

सभी दुखों को सहन करने वाला, बिना किसी शत्रुता के, बिना किसी कष्ट के, मन को नियंत्रित करने वाला व्यक्ति सच्चा साधु है। नियंत्रित मन सुख लाता है। आत्म-नियंत्रण ही सच्ची शांति और सुख का मार्ग है। जो व्यक्ति अपने मन को नियंत्रित करता है, वही वास्तविक साधु है। संतोष और **मानसिक शांति**

"सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं।"[3]

बुढ़ापे तक नैतिकता में रहना सुखद है, दृढ़ विश्वास में स्थिर रहना सुखद है, ज्ञान की प्राप्ति सुखद है, और बुरे कर्मों से दूर रहना सुखद है। मानसिक शांति और सुख के लिए नैतिकता, विश्वास, ज्ञान और बुरे कर्मों से दूर रहना आवश्यक है।

मन की शुद्धि और आत्म-नियंत्रण

"दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तं दमथ साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं।"[4]

मन को नियंत्रित करना कठिन है, यह हल्का है और जहां चाहे वहां भटकता है। इसे नियंत्रित करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि नियंत्रित मन सुख लाता है। मन को नियंत्रित करना चुनौतीपूर्ण है, लेकिन यही मानसिक शांति और सुख का स्रोत है।

मन की शांति और आत्म-जागरूकता

"को इमं पथविं विजेस्स, यमलोकं सदेवकं।
को धम्मपदं सुनेय्य, सुत्तं पण्डितो निबोधेय्य।"[5]

इस पृथ्वी को कौन जीतेगा? यमलोक और देवलोक को कौन जीतेगा? धम्मपद के छंद को कौन समझेगा और बुद्धिमानी से उसका अर्थ निकालेगा? मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण के लिए धम्मपद के सिद्धांतों को समझना और उन पर चलना आवश्यक है।

मन की शुद्धि और सुख

"सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं।"[6]

सभी बुरे कर्मों को न करना, अच्छे कर्मों को करना, और मन को शुद्ध करना यही बुद्ध की शिक्षा है। मानसिक शांति और आत्म-नियंत्रण के लिए बुरे कर्मों से दूर रहना, अच्छे कर्म करना और मन को शुद्ध रखना आवश्यक है।

कर्म का फल

"न हि वत्थं सम्मल्लानं, अकम्मन्तं मलं वसे।
एवं अज्ञानतं पुत्तं, अकम्मन्तं विरज्जति।"[7]

जैसे नए कपड़े पर धूल नहीं लगती, वैसे ही जो व्यक्ति बुरे कर्म नहीं करता, उसे पाप नहीं लगता। बुरे कर्मों से दूर रहने वाला व्यक्ति पाप से मुक्त रहता है।

कर्म का संचय

"अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता।"[8]

सावधानी अमरता का मार्ग है, और लापरवाही मृत्यु का। जो सावधान हैं, वे नहीं मरते, जबकि लापरवाह लोग मृतक के समान हैं। सावधानीपूर्वक और सही कर्म करने वाले व्यक्ति को अच्छे परिणाम मिलते हैं, जबकि लापरवाही दुख का कारण बनती है।

कर्म और उसका परिणाम

"न हि वेरेण वेरानी, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।"[9]

नफरत से नफरत कभी खत्म नहीं होती। नफरत को केवल प्रेम से ही खत्म किया जा सकता है। यह शाश्वत नियम है। नकारात्मक कर्म (जैसे नफरत) का परिणाम भी नकारात्मक होता है। प्रेम और करुणा से ही सकारात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं।

कर्म और उसका प्रभाव

"पापं चे पुरिसो कयिरा, न तं कयिरा पुनप्पुनं।
न तं चित्तं निविस्सेय्य, दुक्खो पापस्स उच्चयो।"[10]

यदि कोई व्यक्ति बुरा कर्म करता है, तो उसे बार-बार नहीं करना चाहिए। उसे उस कर्म में आनंद नहीं लेना चाहिए, क्योंकि बुरे कर्मों का संचय दुख लाता है। बुरे कर्मों को दोहराने से बचना चाहिए, क्योंकि उनका संचय दुख का कारण बनता है।

क्रोध एक नकारात्मक भावना है जो व्यक्ति के मन और जीवन को अशांत करती है। धम्मपद में क्रोध और उसके परिणामों को विस्तार से समझाया गया है। यह ग्रंथ हमें सिखाता है कि क्रोध को नियंत्रित करना और उससे मुक्त होना ही सच्ची शांति और सुख का मार्ग है। नीचे धम्मपद की कुछ गाथाएं (छंद) दी गई हैं, जो क्रोध और उसके परिणामों को समझाती हैं:

क्रोध का विनाशकारी प्रभाव

"कोधं जहे वियापज्जे, मानं मक्खं निवातये।
स योजनं न बंधेय्य, न तं लोके समस्सति।"[11]

क्रोध को त्याग दो, अहंकार को दूर करो, और सभी बंधनों से मुक्त हो जाओ। जो व्यक्ति इन बंधनों से मुक्त होता है, वह दुख से मुक्त होता है। क्रोध और अहंकार व्यक्ति को बांधते हैं और दुख का कारण बनते हैं। इन्हें त्यागकर ही मुक्ति और शांति प्राप्त की जा सकती है।

क्रोध का नियंत्रण

"कोधं जहे वियापज्जे, मानं मक्खं निवातये।
स योजनं न बंधेय्य, न तं लोके समस्सति।"[12]

क्रोध को त्याग दो, अहंकार को दूर करो, और सभी बंधनों से मुक्त हो जाओ। जो व्यक्ति इन बंधनों से मुक्त होता है, वह दुख से मुक्त होता है। क्रोध और अहंकार व्यक्ति को बांधते हैं और दुख का कारण बनते हैं। इन्हें त्यागकर ही मुक्ति और शांति प्राप्त की जा सकती है।

क्रोध का परिणाम

"कोधं जहे वियापज्जे, मानं मक्खं निवातये।
स योजनं न बंधेय्य, न तं लोके समस्सति।"[13]

क्रोध को त्याग दो, अहंकार को दूर करो, और सभी बंधनों से मुक्त हो जाओ। जो व्यक्ति इन बंधनों से मुक्त होता है, वह दुख से मुक्त होता है। क्रोध और अहंकार व्यक्ति को बांधते हैं और दुख का कारण बनते हैं। इन्हें त्यागकर ही मुक्ति और शांति प्राप्त की जा सकती है। स्वयं के प्रति करुणा एक महत्वपूर्ण गुण है जो हमें आत्म-स्वीकृति, आत्म-प्रेम और आंतरिक शांति की ओर ले जाता है। धम्मपद में स्वयं के प्रति करुणा और दया के महत्व को समझाया गया है। यह ग्रंथ हमें सिखाता है कि जो व्यक्ति स्वयं के प्रति दयालु और करुणामय है, वही दूसरों के प्रति भी करुणा रख सकता है। नीचे धम्मपद की कुछ गाथाएं (छंद) दी गई हैं, जो स्वयं के प्रति करुणा को समझाती हैं:

स्वयं के प्रति दया

"अत्तना चेदं जितं सेय्यो, अत्तना सुजितं दुज्जयं।
अत्तदण्डसमथितो, अत्तना सुवस्सुतो सिया।"[14]

यदि कोई व्यक्ति स्वयं पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो यह सबसे बड़ी जीत है। स्वयं को जीतना कठिन है, लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को नियंत्रित करता है, वही सच्चा विजेता है। स्वयं के प्रति करुणा और नियंत्रण ही सच्ची जीत है। यह हमें आंतरिक शांति और सुख की ओर ले जाता है।

स्वयं की देखभाल

अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सयं निग्गंहेय्य, अत्तनं गतिमानं वथं।[15]

स्वयं ही स्वयं का स्वामी है, स्वयं ही स्वयं का मार्गदर्शक है। इसलिए, स्वयं को नियंत्रित करो, जैसे एक महावत हाथी को नियंत्रित करता है। स्वयं की देखभाल और नियंत्रण ही हमें सही मार्ग पर ले जाता है। स्वयं के प्रति करुणा रखना आवश्यक है।

स्वयं की रक्षा

"अत्तना चेदं कतं पुण्यं, अत्तना सुजितं दुज्जयं।
अत्तदण्डसमथितो, अत्तना सुवस्सुतो सिया।"[16]

स्वयं के द्वारा किया गया पुण्य स्वयं को ही लाभ पहुंचाता है। स्वयं को जीतना कठिन है, लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को नियंत्रित करता है, वही सच्चा विजेता है। स्वयं की रक्षा और देखभाल करने से हम अपने जीवन को सुखी और शांतिपूर्ण बना सकते हैं।

ध्यान और मानसिक साधना बौद्ध धर्म के मूलभूत अभ्यास हैं जो मन की शुद्धि, एकाग्रता और आंतरिक शांति प्राप्त करने में मदद करते हैं। धम्मपद में ध्यान और मानसिक साधना के महत्व को विस्तार से समझाया गया है। यह ग्रंथ हमें सिखाता है कि ध्यान के माध्यम से ही मन को नियंत्रित किया जा सकता है और वास्तविक शांति प्राप्त की जा सकती है। नीचे धम्मपद की कुछ गाथाएं (छंद) दी गई हैं, जो ध्यान और मानसिक साधना को समझाती हैं:

ध्यान का महत्व

"यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कुतोचि।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ।"[17]

जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसे कोई नहीं हरा सकता। जिसका मन नियंत्रित है, उसे कहीं से भी कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता। ऐसे व्यक्ति को बुद्ध की अनंत दृष्टि प्राप्त होती है, और वह किसी भी मार्ग से नहीं बंधता। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से मन को नियंत्रित करना ही सच्ची शांति और मुक्ति का मार्ग है।

ध्यान की शक्ति

"दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो। चित्तं दमथ साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं।"[18]

मन को नियंत्रित करना कठिन है, यह हल्का है और जहां चाहे वहां भटकता है। इसे नियंत्रित करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि नियंत्रित मन सुख लाता है। ध्यान के माध्यम से मन को नियंत्रित करना ही सच्ची शांति और सुख का स्रोत है।

ध्यान और मानसिक शांति

"सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं।"[19]

सभी बुरे कर्मों को न करना, अच्छे कर्मों को करना, और मन को शुद्ध करना यही बुद्ध की शिक्षा है। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से मन को शुद्ध करना ही बुद्ध की शिक्षा का मूल है।

ध्यान और आत्म-नियंत्रण

"अत्तना चेदं कतं पुण्यं, अत्तना सुजितं दुज्जयं। अत्तदण्डसमथितो, अत्तना सुवस्सुतो सिया।"[20]

स्वयं के द्वारा किया गया पुण्य स्वयं को ही लाभ पहुंचाता है। स्वयं को जीतना कठिन है, लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को नियंत्रित करता है, वही सच्चा विजेता है। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से स्वयं को नियंत्रित करना ही सच्ची जीत है।

ध्यान और मानसिक शुद्धि

"यथागारं दुच्छन्नं, वुट्ठि समतिविज्झति। एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति।"[21]

जैसे खराब छत वाले घर में बारिश का पानी रिसता है, वैसे ही अशुद्ध मन में राग (लालच) प्रवेश करता है। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से मन को शुद्ध करना ही सच्ची शांति और सुख का मार्ग है।

ध्यान और मानसिक साधना

"यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कुतोचि।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ।"[22]

जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसे कोई नहीं हरा सकता। जिसका मन नियंत्रित है, उसे कहीं से भी कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता। ऐसे व्यक्ति को बुद्ध की अनंत दृष्टि प्राप्त होती है, और वह किसी भी मार्ग से नहीं बंधता। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से मन को नियंत्रित करना ही सच्ची शांति और मुक्ति का मार्ग है।

ध्यान और मानसिक शांति

"सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं।"[23]

सभी बुरे कर्मों को न करना, अच्छे कर्मों को करना, और मन को शुद्ध करना यही बुद्ध की शिक्षा है। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से मन को शुद्ध करना ही बुद्ध की शिक्षा का मूल है।

निष्कर्ष - धम्मपद का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन के मानसिक और भावनात्मक पहलुओं को गहरे तरीके से समझाता है। यह ग्रंथ मानव मन के आंतरिक संघर्षों, जैसे क्रोध, चिंता, और दुख, को नियंत्रित करने के लिए आत्म-नियंत्रण, आत्म-जागरूकता और ध्यान का महत्व बताता है। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से, धम्मपद हमें यह सिखाता है कि हमारे विचार, भावनाएँ और आचरण हमारे मानसिक स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

धम्मपद में दी गई शिक्षा यह स्पष्ट करती है कि मानसिक शांति और संतुलन केवल बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर की मानसिक स्थिति पर आधारित होते हैं। ध्यान और मानसिक साधना के माध्यम से हम अपनी नकारात्मक भावनाओं को नियंत्रित कर सकते हैं और आंतरिक शांति प्राप्त कर सकते हैं। धम्मपद का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें मानसिक स्वच्छता, आत्म-नियंत्रण और मानसिक संतुलन की ओर मार्गदर्शन करता है। यह न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य और आत्म-विकास के संदर्भ में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह व्यक्ति को अपनी आंतरिक शक्ति और शांति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है।

सन्दर्भ –

[1] गाथा (धम्मपद, अध्याय 1: यमकवग्गो, छंद 1)
[2] गाथा (धम्मपद, अध्याय 25: भिक्खुवग्गो, छंद 360)
[3] गाथा (धम्मपद, अध्याय 15: सुखवग्गो, छंद 197)
[4] गाथा (धम्मपद, अध्याय 3: चित्तवग्गो, छंद 35)
[5] गाथा (धम्मपद, अध्याय 4: पुप्फवग्गो, छंद 44)
[6] गाथा (धम्मपद, अध्याय 14: बुद्धवग्गो, छंद 183)
[7] गाथा (धम्मपद, अध्याय 9: पापवग्गो, छंद 127)
[8] गाथा (धम्मपद, अध्याय 9: पापवग्गो, छंद 117)
[9] गाथा (धम्मपद, अध्याय 9: पापवग्गो, छंद 119)
[10] गाथा (धम्मपद, अध्याय 9: पापवग्गो, छंद 119)
[11] गाथा (धम्मपद, अध्याय 17: कोधवग्गो, छंद 221)
[12] गाथा (धम्मपद, अध्याय 17: कोधवग्गो, छंद 222)
[13] गाथा (धम्मपद, अध्याय 17: कोधवग्गो, छंद 223)
[14] गाथा (धम्मपद, अध्याय 12: अत्तवग्गो, छंद 157)
[15] गाथा (धम्मपद, अध्याय 12: अत्तवग्गो, छंद 158)
[16] गाथा (धम्मपद, अध्याय 12: अत्तवग्गो, छंद 160)
[17] गाथा (धम्मपद, अध्याय 7: अरहन्तवग्गो, छंद 94)
[18] गाथा (धम्मपद, अध्याय 3: चित्तवग्गो, छंद 35)
[19] गाथा (धम्मपद, अध्याय 14: बुद्धवग्गो, छंद 183)
[20] गाथा (धम्मपद, अध्याय 12: अत्तवग्गो, छंद 160)
[21] गाथा (धम्मपद, अध्याय 15: सुखवग्गो, छंद 219)
[22] गाथा (धम्मपद, अध्याय 7: अरहन्तवग्गो, छंद 95)
[23] गाथा (धम्मपद, अध्याय 14: बुद्धवग्गो, छंद 183)

वीरशैव सिद्धान्त एवं शैव सिद्धान्त में शिव-शक्ति विमर्श

• डॉ. गौरव सिंह

शोधसार- इन दोनो सिद्धान्तों में शिव-शक्ति योग की महाभूमिका में शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श अभिन्न है। परमशिव में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व दानों का एक साथ स्फुरण होता है। इन दोनों में अभिन्न और अविनाभाव सम्बन्ध है। वीर शैव भी शक्ति और परशिव को अभेद्य मानते है,अतः शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श परस्पर भिन्न और स्वतन्त्रपदार्थ न होकर एक ही है- **'शिवशक्तिरितिह्येकं तत्त्वामाहुरमनीषिणः'** ।[1] अतएव सृष्टि कार्य में शक्ति तत्व एवं शिवतत्त्व की मुख्य भूमिका मानी गयी है।शिव की सर्वशक्तिमत्ता से ही यह अशेष विश्व जगत् रूप कार्य मे अनुप्राणित है। **'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्'**[2]

बीजशब्द – वीरशैवमत, शैवसिद्धान्त शिवतत्व,शक्तितत्व, द्वैताद्वैत,अवस्था।

भारतीय दर्शन की परम्परा सम्प्रदाय सिद्धान्त के मत से विकसित हुई है। इस दृष्टि से शैवमत एक अद्भुत वाङ्मय से समृद्ध है। इसे आगम के नाम से जाना जाता है। अनेक शैव उपसम्प्रदायों में अलग-अलग रीति से पूजा-उपासना विकसित हुई। काश्मीर शैव मत इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इसमें शिवत्तत्त्व की गणना करते समय शक्ति तत्त्व को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

शैव दर्शन के अन्य विभिन्न संप्रदाय हैं- **कापालिक**, जिनके इष्टदेव भैरव हैं, **कालामुख** अतिवादी, **वीरशैव** या लिंगायत शिवलिंग को चाँदी में रखकर ग्रीवा में पहनने वाले, कश्मीरी शैव या त्रिक् दर्शन जिसमें कापालिकों, कालामुखों के निन्दनीय आचारों का अभाव पाया गया। नाथ सम्प्रदाय अथवा योगिनी कौल मार्ग हठयोग,नाथपंथ इत्यादि सम्प्रदाय हैं। भारतीय दर्शन परम्परा में शैवदर्शन की अद्वयपरम्परा परमशिव के साथ ही शक्ति का भी सर्वत्र प्रतिपादन करती है।

आचार्य शंकर ने शैवमत का आधार इन शब्दों से व्यक्त किया है- **'शिव:शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त:प्रभवितुम्** ।[3] **वीरशैव सिद्धान्त** को शक्ति-विशिष्टाद्वैत भी कहते हैं। यह कर्म प्रधान है और निष्काम

* सहायक आचार्य, अभिनवगुप्त संस्थान,लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

कर्म का उपदेश करता है। इसका उद्देश्य है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव का सामरस्य या उनकी एकाकारता-स्थूल चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत भाव। इस दर्शन में शक्ति दो प्रकार की है-सूक्ष्मचिद्चिद्विशिष्ट और स्थूलचिदचिदविशिष्ट। प्रथम परशिव की और द्वितीय जीव भी बोधक है। शक्ति से भिन्न परमात्मा और परमात्मा से भिन्न शक्ति की सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण जगत् महेश्वर की शक्ति का रूप है। शक्ति और परशिव में अभेद है। **सिद्धान्तशिखामणि** में कहा है-

तदीया परसा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी।
तदिच्छया भवेत् साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी।[4]

शिव के साथ **शक्ति** का **अविनाभाव** सम्बन्ध है। इस मत में जगत् सत्य है। जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से भिन्न नहीं, उसी प्रकार शिव से उत्पन्न जगत् शिव से भिन्न नहीं है। जैसे कछुआ कभी पैरों को बाहर निकालता है और कभी समेट लेता है, वैसे ही परशिव नित्यसम्बन्ध से अपने में रहने वाले जगत् का कभी विकास करते हैं और कभी संकोच।

यथा पुष्पपलाशादिवृक्षरूपान्न भिद्यते, तथा शिवात् पराकाशाज्जगतो नास्ति भिन्नता।
शिवतत्त्वात्समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते, फेनोर्मिबुदबुदाकारो यथा सिन्धोर्न भिद्यते।।[5]

वीरशैव जीव को शिव का अंश मानते हैं। उनके बीच पारमार्थिक् भेदाभेद सम्बन्ध है। जैसे अग्नि और उससे उत्पन्न स्फुलिंग कणों में न भेद है और न अभेद ही ऐसे ही शिव से आविर्भूत जीवों और शिव में भी न भेद है, न अभेद । यदि दोनों में अभेद मानें तो जीवों में भी सर्वज्ञत्वादि गुण मानने होंगे। यदि भेद मानें तो शिव से भिन्न घटादि अचेतन वस्तुओं की तरह जीवों में भी सर्ववस्तुज्ञान का अभाव मानना होगा। इसीलिये इस मत को भेदाभेद या द्वैताद्वैत कहते हैं।

शैव सिद्धान्त **भेद-प्रधान** है। इसमें शिव,शक्ति और बिन्दु को रत्नत्रय माना गया है। ये सब तत्त्वों के अधिष्ठाता और उत्पादन है। बिन्दु का ही नाम **महामाया** है। क्षुब्ध होने पर इस बिन्दु से शुद्ध अध्वा अर्थात् शुद्ध देह, इन्द्रिय भोग और भुवन की उत्पत्ति होती है और शब्द का भी उदय होता है। शब्द के तीन प्रकार हैं-सूक्ष्म नाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण ।

शिव की **दो शक्तियां** हैं-**समवायिनी** और **परिग्रहरूपा**। प्रथम परमतत्त्व शिव में समवेतभाव से रहती है। इन दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध है। यह चिद्रूप, निर्विकार और परिणामिनी है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामवती है। यही बिन्दु है। शुद्ध बिन्दु को महामाया और अशुद्ध को माया कहते हैं। महामाया सात्त्विक जगत् का और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान है। जब परमेश्वर शक्ति द्वारा बिन्दु का आघात करते हैं तो संक्षोभ उत्पन्न होता है, जो सृष्टि का कारण बनता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ तीन हैं-पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (मल)। पति के गुण हैं परम ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य

और सर्वज्ञत्व। पशु परमेश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति पा सकते हैं। मुक्तजीव अपेक्षा-कृत स्वतन्त्र किन्तु पति के अधीन रहते हैं। शिव नित्यमुक्त हैं किन्तु पशुओं का पाश काटने तथा ध्यान योग के लिये शरीर धारण करते हैं। वह पंचमन्त्रशरीर है। ईशानमन्त्र उनका मस्तक, तत्पुरुष मुख, घोर हृदय, वामदेव गुह्य भाग और सद्योजात उनके पैर हैं। वह कृत्यपंचक-सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के कर्ता है। उनकी दो अवस्थायें हैं-भोग और लय। जब शक्ति निर्व्यापार होकर रूपमात्र में स्थित होती है तो प्रलयावस्था (शिव की शक्तिमान् अवस्था) और जब बिन्दु को कार्य के लिये प्रेरित करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया को समृद्ध बनाती है तो वह शिव की भोगावस्था होती है। सीमित शक्ति-युक्त जीव का नाम पशु है। वह प्रकाशरूप और अनेक है। वह कर्ता है। उसके तीन रूप हैं-विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। मल भी तीन है- आणव, कार्म और मायीय। जिनके कर्म क्षीण हो जाते हैं और शरीर बन्ध का उदय नहीं होता वे विज्ञानाकल होते हैं। इनमें केवल आणवमल शेष रहता है। प्रलयदशा में शरीरत्याग के कारण जिनमें मायीय मल तो नहीं रहता किन्तु शेष दो रहते हैं वे प्रलयाकल और जिनमें तीनों मल रहते हैं वे पशु सकल कहलाते है। पाश अर्थात् बन्धन शिवरूप जीव को पशु-त्वगति प्रदान करते हैं। पाश चार प्रकार के हैं-मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। मल जीव की ज्ञान एवं क्रिया शक्ति को तिरोहित कर उसे परिच्छिन्न बनाता है। यह देहादि की उत्पत्ति का कारण है। शिवशक्ति से इसकी निवृत्ति होती है। जीवों द्वारा किये हुये विविध कार्य कलापों को कर्म कहते हैं। प्रलयकाल में जीव माया में लीन हो जाते हैं और सृष्टिकाल में उसी से उत्पन्न होते हैं। रोध शिव की वह शक्ति है जिससे वह जीवों का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है।

क्लेशों का शमन अर्थात् मुक्ति का साधन ज्ञान और कर्म नहीं अपितु क्रिया ही है। मल का परिपाक धीरे धीरे होता है और पक जाने पर ही उसकी अपसृति संभव होती है। मल सत्तात्मक द्रव्य है जिसे हटाने की सामर्थ्य जीव में नहीं है। शिव की अनुग्रहशक्ति ही उसे हटा सकती है। अनुग्रह का नाम शक्तिपात है। तन्त्र की भाषा में इसे दीक्षा कहते हैं। भगवान् शिव ही गुरु हैं जो दीक्षा द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं। दीक्षा का बड़ा महत्त्व है और आगमों में इसका विशद विवेचन है। कहा गया है-

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना, दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।
आचार्यसंस्थितो देवो दीक्षाशक्त्यैव मुञ्चति, स्वशक्त्या उद्धृतान् पुंसो मन्त्रसाधनसाध्यया।।[6]

त्रिकदर्शन और शाक्तदर्शन दोनों अद्वैतवादी हैं। इनके अनुसार परमतत्त्व शिव है, जो अनन्तचेतनावान् और अबाधित स्वातन्त्र्य से युक्त हैं । अज्ञान, माया या जगत् आत्मा का स्वयं परिगृहीत रूप है । परमेश्वर नट के समान विविध रूप ग्रहण करता है किन्तु वह स्वयं को समेटने और प्रकट करने दोनों में समर्थ है । अज्ञान केवल उसका विस्तार है।

शिवसूत्र में कहा है- **चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः**।[7]

स्पन्दकारिका में कहा है-

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोद्भवौ। तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।।[8]

शिव इच्छा या लीला से ही सृष्टि, वैविध्य का आभासन और संहार करते हैं। यह उनका लीलाविलासमात्र है। यही है स्वातन्त्र्यवाद जो विवर्तवाद और परिणामवाद से सर्वथा भिन्न है। **बोधपंचदशिका** में इस लीला के लिये कहा है-

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विविधान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः।

अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी **शिव** की **पाँच शक्तियाँ** प्रसिद्ध हैं-ये हैं-**चित्त**, **आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया**। तत्त्व 36 हैं। शैव और शाक्त दोनों दर्शन इन्हें मानते हैं। ये हैं शिव, शक्ति, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और पंचभूत । सृष्टि की इच्छा होते ही **परमेश्वर** के **दो** रूप हो जाते हैं- **शिव** और **शक्ति** । शिव प्रकाश रूप और शक्ति विमर्शरूपा हैं। विमर्श का अर्थ है अहं की सहजपूर्ण स्फूर्ति जो सृष्टि और संहार दो रूपों में प्रकाशित होती है। इसकी चित्, स्वातन्त्र्य और स्पन्द आदि कई संज्ञायें हैं। जिस प्रकार मुख होने पर भी दर्पण के बिना उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार विमर्श के बिना विश्व का प्रकाश सम्पन्न नहीं होता। शिव चिद्रूप हैं किन्तु अचेतन हैं। उनमें चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। **सोमानन्द** ने कहा है-

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिव्यतिरेकिणी
शिवःशक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।[9]

इसीलिये पुण्यानन्द ने आद्याशक्ति को शिवरूपविमर्श निर्मलादर्श कहा है (काम कलाविलास) शिव और शक्ति का अभेद चन्द्र और चन्द्रिका के समान है। परमतत्त्व को चित् या परासंवित् भी कहते हैं। वह निरपेक्ष हैं अर्थात् प्रमेय के ज्ञान पर अनाश्रित रहता है ।शैवागमों में इसे परम-विमर्शात्मक कहा है। शैवागम प्रकाश के साथ विमर्श (मैं स्वयं पूर्ण, स्वतन्त्र, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हूँ-यह प्रतीति) को भी परमेश्वर का स्वभाव मानता है। इन दोनों के सामरस्य में ही परमशिव का स्वरूप उल्लसित होता है। **विमर्श का ही नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है, वही परावाक् है।** अभिनवगुप्त ने कहा है कि -

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्य मैतन्मुख्यं तदैश्वर्यंपरमेष्ठिनः॥[10]

शिव-शक्ति का अन्तर निमेष सदाशिव और बाह्य उन्मेष ईश्वर कहा जाता है। सदाशिव ईषच्चलनात्मक स्फुरणरूप है और ईश्वर सदाशिव का बाह्य रूप है।

निष्कर्षतः शिव के बिना शक्ति की सत्ता नहीं और शक्ति के बिना शिव स्फटिक आदि के सदृश जड़ ही हो जायगा; क्योंकि केवल प्रकाश के होने पर स्फटिक आदि को अपनी सत्ता की प्रतीति (विमर्श)

नहीं होती। शिव शक्ति अर्थात् शक्तिमान् होने पर ही सृष्टि-सम्बन्धी पदार्थों को अपनी इच्छा से करना चाहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् की भिन्नता अन्य दर्शनों में भले ही वर्णित हो, परन्तु शैव दर्शन में कभी भी वर्णित नहीं होती। उक्त विमर्श से सब कुछ कर सकने के कारण परमशिव स्वतंत्र है। अत:शिव साक्षात्कार हेतु आत्मज्ञान ही कारण हैं।

सन्दर्भ –

1 प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-जयदेव सिह
2 शिवसूत्र-3/30
3 सौन्दर्यलहरी-1
4 सिद्धान्त शिखामणि-3/6
5 सिद्धा०शिखामणि-5-12
6 मोक्षकारिका-66
7 शिवसूत्र 1
8 स्पंदकारिका-1
9 शिवदृष्टि 3/2/3
10 ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 1/204
11 शि० दृ०, 3/2-3
12 शैव मत का उद्भव और विकास -यदुवंशी
13 वैष्णव,शैव तथा अन्य धार्मिक मत-आर जी भंडारकर

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म मीमांसा

• डॉ.शोभा राम दुबे

शोधसार - "कर्म-फल त्याग" श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा का प्रधान केन्द्र है। इस शिक्षा को वह संकल्प प्रधान व्यक्ति के लिए, भावना प्रधान व्यक्ति के लिए एवं ज्ञान प्रधान व्यक्ति के लिए अलग-अलग प्रकार से प्रदान करती है। तीन अलग-अलग मनोवृतियों से कार्य करने पर भी परिणाम उन सबका एक ही होता है- अनासक्त भाव से स्वधर्म का आचरण करना। इस प्रकार गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का समन्वय स्थापित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से किये गये कर्म बन्धन कारक नहीं होते हैं। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था में पहुँचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुचता है या ईश्वर में निवास करता है। और परम शांति को प्राप्त करता है। यह कर्म केवल अपने लिए ही नहीं होते अपितु लोकहित की दृष्टि से होते हैं।

बीजशब्द- यज्ञ, कर्म, कर्मबन्धनः, जितेन्द्रियः, कुर्वन्नपि न लिप्यते, निष्काम, आसक्ति।

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय साहित्य की फुलवारी का सबसे सुन्दर तथा सुगन्धित फूल है, जिसकी खुशबू सम्पूर्ण संसार में फैली हुई है। मूल रूप से श्रीमद्भगवद्गीता नीति-शास्त्र का ग्रन्थ है। श्रीमद्भगवद्गीता को वैदिक संस्कृति का मूल, फूल एवं फल कहा गया है। यह ग्रन्थ वैदिक संस्कृति का मूल आधार है। इसमें उन मूल-भूत सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, जो वैदिक संस्कृति का मूल आधार है। जिन परिस्थितियों में श्रीमद्भगवद्गीता कही गई है, वह जीवन की सर्वाधिक विषम परिस्थितियां थीं। एक गृह कलह ने महाभारत का रूप ले लिया था, जिसमें भारत का प्रत्येक राज्य इस युद्ध में एक पक्ष बन गया था। फलस्वरूप सर्वनाश के अलावा और कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में अर्जन को मोह और विषाद होना स्वाभाविक था। ऐसी विषम परिस्थिति में अर्जुन को क्या करना चाहिए, उसे अपने कर्तव्य का पालन क्यों करते रहना चाहिए? यही बताने के

* सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

लिए श्रीकृष्ण को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश देना पड़ा और श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश सुनने के बाद अर्जुन ने क्या किया? व्यास जी ने सम्पूर्ण महाभारत की रचना की जिसका वर्णन उन्होंनें काव्यात्मक शैली में किया। महाभारत के पूर्ण होने पर उनके मन में विचार आया कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में उन्होंने अपनी ओर से तो कुछ नहीं लिखा। इसी कमी को पूरा करने लिए उन्होंनें श्रीमद्भगवद्गीता की रचना की और युद्ध के प्रारम्भ होने के समय अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से सुनवायी। श्रीमद्भगवद्गीता सुनाने के लिए जिस परिस्थिति का चयन व्यास जी ने किया उससे अधिक उपयुक्त परिस्थिति सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में नहीं मिल सकती थी। इस परिस्थिति का चयन करने के लिए व्यास जी की जितनी भी प्रशंसा की जाये कम है।

श्रीमद्भगवद्गीता कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को समान महत्व प्रदान करती है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम छः अध्याय कर्म मार्ग का प्रतिपादन करते हैं, मध्य के छ: अध्याय ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करते हैं और अन्तिम छ: अध्याय भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हैं।

कर्म का अर्थ- कृ (करणे) धातु से व्युत्पन्न कर्म शब्द का अर्थ है- कार्य, जिसका संस्कार मनुष्य के चित्त पर पड़ता है। ऐसे संस्कारों के संगठन से मनुष्य का चरित्र बनता है तथा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कर्म का अर्थ ऐसे ही कार्य हैं, जिनका संस्कार चित्त पर पड़ता है, जिसका शुभाशुभ फल मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में भोगना पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीता के समय तक यज्ञ की वैदिक धारणा में भी परिवर्तन हो गया था। श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ का तात्पर्य ऐसे कर्म से है जो दूसरों के कल्याणार्थ किया जाये और जिसको करने से प्रतिफल की प्राप्ति न हो और न ही उसकी इच्छा की जाए –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर[1] ॥

यज्ञ अर्थात् - एकमात्र यज्ञ या विष्णु के लिए किया गया; कर्मणः - कर्म की अपेक्षा; अन्यत्र – अन्यथा ; लोकः - संसार; अयम्- यह; कर्म-बन्धनः - कर्म के कारण बन्धनः तत्-उस; अर्थम् - के लिए; कर्म-कर्म; कौन्तेय- हे कुन्तीपुत्र ; मुक्त-सङ्गः - सङ्ग (फलाकांक्षा) से मुक्त; समाचर - भलीभाँति आचरण करो।

श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत् में बन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र ! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम बन्धन से सदा मुक्त रहोगे।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म शब्द का प्रगोग ऐसे कर्तव्यों के अर्थ में हुआ है जो श्रीमद्भगवद्गीता की रचना के समय तक समाज के विभिन्न वर्गों के लिए श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर नियत कर्म बन गये थे, जिन्हें धर्म कहा जाने लगा था[2]। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित

कर्मों को करना उसका कर्तव्य है। ऐसा करके वह सामाजिक व्यवस्था में अपना नैतिक सहयोग प्रदान कर सकता है।

कर्म की अनिवार्यता - कर्म प्राणी का स्वाभाव है। प्रत्येक जीव अपने जीवन काल में निरन्तर कर्म करता रहता है। जीवन के साथ ही कर्म जुड़ा है। जब तक कर्म है तब तक जीवन है । इसलिए गीता में कहा गगा है कि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि[3] **॥**

कर्मणि-कर्म करने में, एव-निश्चय ही; अधिकारः- अधिकार; ते- तुम्हारा; मा- कभी नहीं; फलेषु- (कर्म) फलों में; कदाचन- कदापि; मा कभी नहीं; कर्म फल- कर्म का फल; हेतुः - कारण; भूः- होओ; मा- कभी नहीं; ते- तुम्हारी; सङ्ग-आसक्ति; अस्तु- हो; अकर्मणि- कर्म न करने में।

तुम्हें अपना कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त होओ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः[4] **॥**

न- नहीं; हि-निश्चय ही ; कश्चित्- कोई; क्षणम्- क्षणमात्र; अपि-भी; जातु- किसी काल में; तिष्ठति-रहता है; अकर्म-कृत्- बिना कुछ किये; कार्यते-करने के लिए बाध्य होता है; हि-निश्चय ही; अवशः - विवश होकर; कर्म-कर्म; सर्वः- समस्त; प्रकृति-जैः - प्रकृति के गुणों से उत्पन्न; गुणैः- गुणों के द्वारा।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसलिए गीता में यह आदेशित किया गया है कि-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः[5] **॥**

नियतम् - नियत; कुरु - करो; कर्म - कर्तव्य; त्वम् - तुम; कर्म-कर्म करना; ज्यायः- श्रेष्ठ; हि-निश्चय ही; अकर्मणः - काम न करने की अपेक्षा; शरीर- शरीर का; यात्रा- पालन, निर्वाह; अपि - भी; च - भी; ते- तुम्हारा; न- कभी नहीं; प्रसिद्ध्येत् सिद्ध होता; अकर्मणः - बिना काम के।

अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। कर्म तो हमेशा होते रहते हैं परन्तु किस प्रकार के कर्म किये जाएँ इसका निर्धारण करना आवश्यक है। कर्म की गति अति जटिल है। इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। कर्म क्या है और अकर्म क्या है इसे निश्चित करने में महान बुद्धिमान व्यक्ति भी मोहित हो जाते हैं-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः[6]॥

किम् -क्या है; कर्म-कर्म; किम् - क्या है; अकर्म- अकर्म, निष्क्रियता; इति-इस प्रकार; कवयः - बुद्धिमानः अपि भी; अत्र- इस विषय में; मोहिताः - मोहग्रस्त रहते हैं; तत्-वह; ते- तुमको; कर्म- कर्म; प्रवक्ष्यामि - कहूँगा; यत्- जिसे; ज्ञात्वा-जानकर; मोक्ष्यसे - तुम्हारा उद्धार होगा; अशुभात्- अकल्याण से, अशुभ से।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसे निश्चित करने में बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। अतएव मैं तुमको बताऊँगा कि कर्म क्या है, जिसे जानकर तुम सारे अशुभ से मुक्त हो सकोगे।

कर्मणः-कर्म का; हि-निश्चय ही; अपि-भी; बोद्धव्यम्- समझना चाहिए; च-भी; विकर्मणः - वर्जित कर्म का; अकर्मणः- अकर्म का; च-भी; बोद्धव्यम् - समझना चाहिए; गहना - अत्यन्त कठिन, दुर्गम; कर्मणः-कर्म की; गतिः- प्रवेश, गति।

कर्म की बारीकियों को समझना अत्यन्त कठिन है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह यह ठीक से जाने कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है।

कर्मों का वर्गीकरण –

कर्म की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है कि कौन सा कर्म उचित है ? इसलिए कर्मों का वर्गीकरण आवश्यक है। विभिन्न आधारों पर कर्मों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है।

1. साधन के आधार पर - मानसिक, वाचिक, कायिक।
2. धार्मिक आधार पर -सात्त्विक, राजस, तामस।
3. वेदान्तिक आधार पर- प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण
4. वैज्ञानिक आधार पर - कर्म, अकर्म, विकर्म।
5. हेतु के आधार पर –नित्य,नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध।

गीता में उपर्युक्त प्रकार के कर्मों का विवरण विभिन्न सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। प्रधान रूप से कर्म हेतु पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिए, क्योंकि इनसे फल बन्धन नहीं होता है-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते[7]॥

योग-युक्तः - भक्ति में लगे हुए; विश्रुद्ध-आत्मा - शुद्ध आत्मा; विजित-आत्मा- आत्म संयमी; जित-इन्द्रियः - इन्द्रियों को जीतने वाला; सर्व-भूत- समस्त जीवों के प्रति; आत्म- भूत-आत्मा-दयालु; कुर्वन् अपि-कर्म में लगे रहकर भी; न-कभी नहीं: लिप्यते - बँधता है।

जो भक्तिभाव से कर्म करता है, जो विशुद्ध आत्मा है और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है, वह सबों को प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कभी नहीं बँधता।

काम्य अर्थात सकाम और निषिद्ध कर्म का तो पूर्णत: त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इससे फलबंधन होता है -

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्ग नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः[8] ॥

त्यक्त्वा-त्याग कर; कर्म-फल-आसङ्गम्-कर्मफल की आसक्ति; नित्य-सद तृप्तः - तृप्त; निराश्रयः - आश्रयरहित; कर्मणि - कर्म में; अभिप्रवृत्तः - पूर्ण तत्पर रहकर; अपि - भी; न-नहीं; एव-निश्चय ही; किञ्चित्- कुछ भी; करोति-करता है; सः- वह।

अपने कर्मफलों की सारी आसक्ति को त्याग कर सदैव संतुष्ट तथा स्वतंत्र रहकर वह सभी प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहकर भी कोई सकाम कर्म नहीं करता।

सकाम तथा निष्काम कर्म–

सभी कर्मों को सकाम तथा निष्काम - दो भागों में बाँटा जा सकता है। सकाम कर्म वह है, जो स्व सुख, लौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। सकाम कर्म किसी संयोग या किसी पदार्थ के संग्रह की इच्छा से किया जाता है। सकाम कर्म का केंद्र शारीरिक सुख है-

दूरेण हावरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ शरणभन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः[9] ॥

दूरेण-दूर से ही त्याग दो; हि-निश्चय ही; अवरम् – गर्हित, निन्दनीय; कर्म-कर्म;

बुद्धियोगात् - कृष्णभावनामृत के बल परः धनञ्जय –हे सम्पत्ति को जीतने वाले; बुद्धौ ऐसी चेतना में; शरणम् - पूर्ण समर्पण, आश्रय, अन्विच्छ - प्रयत्न करो, कृपणाः- कंजूस व्यक्ति; फल-हेतवः - सकाम कर्म की अभिलाषा वाले।

हे धनंजय ! भक्ति के द्वारा समस्त गर्हित कर्मों से दूर रहो और उसी भाव से भगवान् की शरण ग्रहण करो। जो व्यक्ति अपने सकाम कर्म फलों को भोगना चाहते हैं, वे कृपण हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते [10] ॥

याम् इमाम् - ये सब; पुष्पितां -दिखावटी; वाचम्-शब्द; प्रवदन्ति-कहते हैं; अविपश्चितः - अल्पज्ञ व्यक्ति; वेद-वाद-रताः- वेदों के अनुयायी; पार्थ- हे पार्थ; न-कभी नहीं; अन्यत् - अन्य कुछ;

अस्ति- है; इति-इस प्रकार वादिनः- बोलनेवाले; काम-आत्मानः - इन्द्रियतृप्ति के इच्छुक; स्वर्ग-पराः- स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक; जन्म-कर्म-फल-प्रदाम् - उत्तम जन्म तथा अन्य सकाम कर्मफल प्रदान करने वाला; क्रिया-विशेष -भड़कीले उत्सव; बहुलाम् - विविध; भोग- इन्द्रियत्ति; ऐश्वर्य-तथा ऐश्वर्य; गतिम् - प्रगतिः प्रति- की ओर अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रियतृप्ति तथा ऐश्वर्यमय जीवन की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

भोग - भौतिक भोग; ऐश्वर्य-तथा ऐश्वर्य के प्रति; प्रसक्तानाम् - आसक्तों के लिए; तया-ऐसी वस्तुओं से; अपहृत-चेतसाम् - मोहग्रसित चित्त वाले; व्यवसाय आत्मिका- हेतु निश्चय वाली; बुद्धिः - भगवान् की भक्ति; समाधौ - नियन्त्रित मन में; न-कभी नहीं; विधीयते - घटित होती है।

जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त होने से ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते हैं, उनके मनों में भगवान् के प्रति भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।

निष्काम कर्म वह कर्म है जिसे हम किसी कामना का पूर्ति तथा सुख के लिए नहीं करते हैं, अपितु दूसरे के हित के लिए करते हैं।

निष्काम कर्मयोग का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के 39वें श्लोक से आरम्भ हो जाता है। सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के प्रति ममता और आसक्ति का विरोध किया गया है। इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है, कि तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फल में नहीं इसलिए तुम कर्मफल की वासना वाला मत बनों और कर्मों को छोड देने का भी विचार मत करो[11]।

गीता की यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी काम किये बिना नहीं रह सकता। कर्म करना व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य दोनों है। उसे कर्म करना ही चाहिए लेकिन आदेश दिया गया है कि- **"मा कर्मफलहेतुर्भू[12]"** अर्थात फलाकांक्षी मत बनो, कर्म फल की वासना से युक्त मत रहो। इसका कारण यह है कि - **'फले सक्तो निबध्यते[13]'**अर्थात फल की आकांक्षा से कर्म बन्धन दृढ़ होता है इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में फल की इच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गई है।

अब प्रश्न उठता है कि एक ओर श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म करने का आदेश दिया गया है, कर्म को अधिकार और कर्त्तव्य माना गया है और दूसरी और फल की इच्छा से रहित होकर कर्म करने को कहा गया है तो फल की कामना के बिना कर्मों में प्रवृत्ति कैसे होगी ?

श्रीमद्भगवद्गीता ने स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी व्यक्ति कामना की पूर्ति के लिए कर्म करते हैं और ज्ञानी पुरुष (योग) आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं[14]।

कर्म करने से कर्मबन्धन का होना या न होना कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। कर्म के प्रति यदि कर्ता भाव है तो वह कर्म इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्रित तीन प्रकार का फल देता है। परन्तु जिस कर्म में "मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा भाव रहता है वह बन्धनकारक नही होता, उसे चेष्टा मात्र कहा गया है[15]। आसक्ति रहित होकर लोक संग्रह को ध्यान में रखकर किये गये कर्म से ही व्यक्ति संसिद्धि प्राप्त करता है[16]।

गीता में सर्व भूत-हित को सर्वोच्च आदर्श माना गया है[17]। जो व्यक्ति समस्त भूतों (जीवों) के हित में रत है वह ईश्वर को प्राप्त होता है[18]।

सर्वभूत हित के लिए विद्वान पुरुष को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए[19]। आसक्ति रहित एवं हेतु रहित होकर समस्त भूतों के प्रति अंहिसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य, सदभावना, परोपकार आदि धर्मो का पालन दैवी सम्पदा के लक्षण माने गये है[20]। दैवी सम्पदा देवतुल्य पुरुष के गुण या ईश्वरीय गुणों को कहते हैं, जिनके अभ्यास से मनुष्य परमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सामाजिक हित के लिए स्वधर्म का पालन व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्य के पालन के रूप में करना चाहिए श्रीमद्भगवद्गीता में स्वीकृत चारों वर्णों - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर किया गया है[21]। प्रत्येक वर्ण के सदस्य का अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म[22] का फलेच्छा से रहित होकर पालन करना आवश्यक है अन्यथा वह कर्तव्य पथ से च्युत समझा जायेगा। गतिशील सृष्टिचक्र में यदि एक व्यक्ति भी कर्त्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ता है[23]।

इस प्रकार गुण और कर्म के आधार पर विभाजित वर्ण व्यस्था को स्वीकार कर गीता में निष्काम भाव से स्वधर्म के पालन को आवश्यक माना गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता की यह भी मान्यता है कि स्वकर्म के आचरण में फल की आशा का परित्याग कर कार्यरत पुरुष स्वर्ग-नर्क न जाकर पवित्र होकर विशद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है[24]।

भक्तियोग ईश्वर से युक्त होने का वह मार्ग है, जो भक्ति के जनपथ से ईश्वर तक पहुँचता है। शास्त्रों में भक्ति के नौ प्रकार की चर्चा की गयी है। भक्ति का मार्ग समाज में उन लोगों को अनुकूल आता है, जो भावना प्रधान हैं। इन सब प्रकार की भक्ति में एक सामान्य तत्व है, भक्त का अंहकार शून्य होकर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव। जब तक यह नहीं विकसित होता तब तक भक्ति के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है तो उसकी चिंता ईश्वर को करनी पड़ती है। श्रीमद्भगवद्गीता में जब भीष्म ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की तो उसकी चिन्ता भगवान श्रीकृष्ण को हुई, अर्जुन तो आराम से सो रहा था। श्रीमद्भगवद्गीता में ही श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्पूर्ण उपदेश देने के उपरान्त कहतें हैं कि यदि तुम्हें इनमें से कोई भी मार्ग रूचिकर नहीं

लगता है तो तुम इन सभी मार्गों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ मैं तुम्हारे कल्याण की चिंता करूंगा ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः[25] **॥**

सर्वधर्मान्- समस्त प्रकार के धर्म; परित्यज्य – त्यागकर, माम्- मेरी; एकम् - एकमात्र; शरणम् - शरण में; व्रज- जाओ; अहम् - मैं; त्वाम्- तुमको; सर्व - समस्त; पापेभ्यः -पापों से; मोक्षयिष्यामि - उद्धार करूंगा; मा - मत; शुचः - चिन्ता करो।

समस्त प्रकार के धर्मों का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।

इस प्रकार जो व्यक्ति स्वयं को ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है, उसके योगक्षेम का भार ईश्वर को स्वयं वहन करना पड़ता है। जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है, तो फिर उसकी सभी प्रकार से ईश्वर चिन्ता करता है। ज्ञान के तीन स्तर है-

1. राजस ज्ञान- इस शरीर को ही आत्मा समझना या किसी मूर्ति को ही ईश्वर समझना।
2. तामस ज्ञान - विभिन्न शरीरों में रहने वाली आत्माओं को एक दूसरे से पृथक् समझना।
3. सात्विक ज्ञान- ऐसा ज्ञान जो विभिन्न शरीरों में तथा संसार के विभिन्न पदार्थों में एक ही परम तत्त्व का दर्शन कराता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार के ज्ञानों को क्रमशः सामान्य ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान और दार्शनिक ज्ञान कह सकते हैं। साधक का संसार के विभिन्न जीवों में तथा संसार के समस्त पदार्थों में परम पिता परमेश्वर के दर्शन करना ज्ञान योग की साधना का लक्षण है। श्रीमद्भगवद्गीता इन तीनों साधना पद्धतियों में समन्वय स्थापित करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि "कर्म-फल त्याग" श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा का प्रधान केन्द्र है। इस शिक्षा को वह संकल्प प्रधान व्यक्ति के लिए, भावना प्रधान व्यक्ति के लिए एवं ज्ञान प्रधान व्यक्ति के लिए अलग-अलग प्रकार से प्रदान करती है। तीन अलग-अलग मनोवृतियों से कार्य करने पर भी परिणाम उन सबका एक ही होता है- अनासक्त भाव से स्वधर्म का आचरण करना। इस प्रकार गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का समन्वय स्थापित किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से किये गये कर्म बन्धन कारक नहीं होते हैं। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था में पहुँचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुचता है या ईश्वर में निवास करता है। और परम शांति को प्राप्त करता है। यह कर्म केवल अपने लिए ही नहीं होते अपितु लोकहित की दृष्टि से होते हैं।

सन्दर्भ –

1 श्रीमद्भगवद्गीता 3/9

[2] श्रीमद्भगवद्गीता 18/ 42-46

[3] श्रीमद्भगवद्गीता 2/47

[4] श्रीमद्भगवद्गीता 3/5

[5] श्रीमद्भगवद्गीता 3/8

[6] श्रीमद्भगवद्गीता 4/16-17

[7] श्रीमद्भगवद्गीता 5/7

[8] श्रीमद्भगवद्गीता 4/20

[9] श्रीमद्भगवद्गीता 2/49

[10] श्रीमद्भगवद्गीता 2/42-44

[11] श्रीमद्भगवद्गीता 2/47

[12] श्रीमद्भगवद्गीता 2/47

[13] श्रीमद्भगवद्गीता 5/12

[14] श्रीमद्भगवद्गीता 5/11

[15] श्रीमद्भगवद्गीता 3/33

[16] श्रीमद्भगवद्गीता 3/20

[17] श्रीमद्भगवद्गीता 11/55, 12/13, 16/2

[18] श्रीमद्भगवद्गीता 12/4

[19] श्रीमद्भगवद्गीता 3/25

[20] श्रीमद्भगवद्गीता 16/2-3

[21] श्रीमद्भगवद्गीता 4/13

[22] श्रीमद्भगवद्गीता 18/42-44

[23] वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड- 73-76

[24] श्रीमद्भगवद्गीता 10/10-11

[25] श्रीमद्भगवद्गीता 18/66

मृच्छकटिकम् की भाषा 'प्राकृत' के अन्तर्गत बोली जाने वाली भाषाओं के अनुकूल पात्रों की सूझ-बूझ

• डॉ. शैलेन्द्र कुमार साहू

शोधसार – प्राय: संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ अन्य पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका अनुकरण प्रमुख रूप से इसलिए भी किया जाता है कि यह प्राचीन भारत की मूल भाषा है। भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग में जो भाषाएँ उभर कर आयीं उनका सामान्य नाम प्राकृत है तथा उन भाषाओं में जो ग्रन्थ रचे गए उन समुच्चय रूप से प्राकृतसाहित्य कहा जाता है। इसका प्रयोग अधिकतम प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्त्रियों, सेवकों और साधारणजनों की बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयोग किया जाता था। प्राचीनतम भाषाओं में विकास की दृष्टि से देखें तो सबसे प्राचीनतम वैदिक संस्कृत और प्राकृत भाषा है। जिसके अन्तर्गत मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री और अपभ्रंश जैसी भाषाएँ आती है।

बीजशब्द – मृच्छकटिक, धूर्तसंकुलभाषण, कौतूहलवृत्ति, यथार्थवादी, प्रसरण, बहुभाषाभाषी, जनसमुदाय, एतत्सम्बन्धी, परिस्थितियाँ, पाश्चात्त्य, रूचिकर, कृत्रिमता, राज्यविप्लवचर्चा, अन्विति, Transcript, शौरसेनी, बन्धुल, शाबरी, अपभ्रंश, प्राच्या।

संस्कृत के प्रचुर साहित्य में नाटकों का भी अपना एक विशेष महत्त्व है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में वैसे तो एक से एक सुन्दर रूपक हैं पर मृच्छकटिक निराली कृति है। यह अपनी शैली का अकेला प्रकरण है। इसमें एक साथ प्रणय कथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुलभाण तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है। यह एक ऐसी अकेली रचना है जो अपने समय की मध्यमवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करती है। कुछ विद्वानों के विचार से मृच्छकटिक ही संस्कृत का

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर, साहित्य विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सर्वप्रथम प्रकरण है और इसकी रचना कालिदास से पूर्व की है पर यह मत प्रामाणिक न होने से सर्वसम्मत नहीं है। मृच्छकटिक के नाटकीय संविधान, शैली, भाषा और विशेषत: उसकी प्राकृत के आधार पर यह निश्चय हो चुका है कि वह कालिदास के बाद की रचना है। नाटक के प्रमुख वस्तु व्यापार है जिससे नाटक की गति को बल मिलता है। प्रकरण की दूसरी विशेषता कौतूहलवृत्ति। यह संस्कृत का एकाकी यथार्थवादी नाटक है।

संसार के प्रसरण के आधार पर भाषा के प्रयोग भी अनेक हैं। जगत् एक विशालकाय परिमेय है। उसमें भी अनेक देश तथा देशों में प्रदेश के अन्तर्गत विभक्त है, जिनमें बड़े और छोटे नगर एवं ग्राम सम्मिलित हैं। भाषा के विचार से भारत के एक प्रदेश को ही लेते हैं। पूरे प्रदेश की एक विशेष भाषा होते हुए भी विभिन्न नगरों एवं ग्रामों की भाषाओं में अन्तर पाया जाता है। रूपकों में विभिन्न पात्र होते हैं। अत: उनकी भाषाओं में भी भेद होता है। प्राचीन काल में वैदिक भाषा के पश्चात् लौकिक भाषा का विस्तार हो चुका था तभी संस्कृत के अनेक प्रत्येक नाटक में ऐसे पात्र मिलेंगे जो शुद्ध संस्कृत बोलते हैं, लेकिन उनकी संख्या अल्प मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि नाटक, प्रकरण आदि में शिक्षित, अशिक्षित दोनों प्रकार के पात्रों का प्रवेश दिखाई पड़ता है। जिनमें शिक्षित पात्र संस्कृत भाषा बोलते दिखते हैं और अशिक्षित पात्र प्राकृत बोलते हैं। संस्कृत और प्राकृत का अन्तर वैसे ही समझा जा सकता है जैसे कि नागरिक और ग्राम्य भाषा का अन्तर।

बहुधा रूपकों में नायक आदि शिक्षित पात्रों की संख्या कम होती है। किन्तु वहीं अशिक्षित पात्र यानि प्राकृत बोलने वालों की संख्या अधिक दिख जाती है। प्राकृत के अन्तर्गत भी ऐसे पात्र अनेक भाषाएं बोलते दिखाई देते हैं। यदि एक ही भाषा बोलने वालों का समुदाय कहीं हो, तो सम्भवत: उनकी भाषा को सुनने में उतना आनन्द नहीं प्राप्त होगा जितना कि बहुभाषाभाषी जनसमुदाय की बातचीत में प्राप्त होगा। यही कारण है कि नाटकों में संस्कृत और प्राकृत के भेद से विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है।

जितनी भाषाओं का प्रयोग मृच्छकटिककार शूद्रक ने किया है, सम्भवत: उतनी भाषाओं का प्रयोग अन्यत्र ही किसी नाटक में उपलब्ध होता है।

शूद्रक ने मृच्छकटिक को कालिदास की रचनागत भाषा से और अधिक सरल तथा बोधगम्य बना दिया है। मृच्छकटिक भाषा की दृष्टि से अनुपम है। इसके सम्बन्ध में पाश्चात्त्य विद्वानों ने अपने विचार भिन्न-भिन्न दिये हैं।

Dr. Arthur William Ryder अपनी पुस्तक 'The little Clay Cart' की भूमिका (Introduction) में लिखते हैं- "Kalidas, Shudraka, Bhavbhuti- assuredly these are the greatest names in the history of Indian Drama. So, different are

these men and so great, that is it not possible to assert for anyone of them English Drama."[1]

मृच्छकटिककार ने एतत्सम्बन्धी जिस शैली को अपनाया है वह भास और कालिदास के मध्य की शैली है। मृच्छकटिककार ने भाषा की सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया है। संस्कृत की विशिष्ट योग्यता तो उसके शार्दूल-विक्रीडित और स्त्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों से कहीं-कहीं व्यक्त हो ही जाती है। यदि शूद्रक चाहते तो वे संस्कृत साहित्य की शैली से अपने प्रकरण को अलंकृत कर सकते थे पर वे ऐसा नहीं किये क्योंकि सामान्यजन के हृदय को भी गम्य और रूचिकर बने ऐसी सहजता उन्होंने दिखाई है। इसलिए इसमें समास का दीर्घ प्रयोग न करके स्वभावत: और अधिक सरलता दिखती है। प्रसाद और माधुर्य गुण उसमें बिखरा पड़ा है। पात्रों के अनुकूल ही भाषा की कृत्रिमता और अलंकृत शैली दिखाई देती है। भाषा के प्रयोग में बड़ी कुशलता से प्रयोग लिया गया है, साथ में परिस्थितियों का भी बड़ा ध्यान रखा गया है।

Dr. A. Berriedale Kieth अपनी पुस्तक 'The Sanskrit Drama' में मृच्छकटिक के पात्र चारुदत्त एवं बसन्तसेना की प्रेमकथा और आर्यक की राज्यविप्लव चर्चा अन्विति की पोषक बताई है –

"Though composite in origin and in no sense a transcript from life, the merits of the Mrichhakatika are great and most amply justify what else would have been an inexcusable plagiarism."[2]

वसन्तसेना ने प्राकृत के अन्तर्गत शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु वह संस्कृत भी जानती है, यही शूद्रक के पात्रों की विशेषता है।

मृच्छकटिककार के प्रकरण में संस्कृत बोलने वाले पात्र अल्प हैं। रूपक की दृष्टि से साहित्यिक संस्कृत के स्थान पर बोलचाल की व्यवहार में आने वाली भाषा का प्रयोग समुचित एवं सुन्दर ही नहीं वरन् सरल है। सामान्य संस्कृत के ज्ञाताओं के लिये भी यह बोधगम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के सम्बन्ध में प्रकरणकार का विशेष ध्यान रहा है। सूत्रधार से लेकर नायक चारुदत्त, आर्यक, अधिकरणिक, शर्विलक, दर्दुरक, दोनों के विट, बन्धुल आदि के द्वारा लेखक ने संस्कृत भाषा बुलवाई है।

संस्कृत में किये गये कथोपकथन संक्षिप्त ही हैं। व्याकरणात्मक कोई दोष भी नहीं है। सूक्तियों के प्रयोग से भाषा सजीव और परिष्कृत हो गयी है-

"वीणा हि नामसमुद्रोत्थितं रत्नम्।"[3]

"अल्पक्लेशं मरणं दारिद्रयमनन्तकं दु:खम्।"[4]

"छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।"[5]

आदि सूक्तियाँ भाषा को पुष्टता प्रदान करती है। क्वचित् तो सम्पूर्ण श्लोक ही सूक्ति के रूप में है। कवि का शब्द भण्डार बड़ा अगाध है। कहीं समास कुछ असंगत से लगते हैं और कहीं अव्यय शब्दों- 'हि', 'तु', 'खलु' इत्यादि का प्रयोग शैथिल्य व्यक्त करता है। सूत्रधार के द्वारा पद्य के माध्यम से संस्कृत और गद्य के द्वारा प्राकृतान्तर्गत भाषा का प्रयोग कराया है। चारुदत्त ने भी अधिकतर संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है।

अमेरिकी लेखक **Henry W. Wells** ने अपनी पुस्तक 'The Classical Drama of India' में शूद्रक की प्रशंसा में कहा है- "In the border outlook, the "Little Clay Cart" belongs to the same category their highest category as 'Shakuntala', 'Vikramorvarci', 'Rama' later history, the vision of Vasavadatta and all the most serious and Poetic of Indian dramas the relatively naturalistic setting and ample humour in Sudrak's work not with standing the simplest and truest statement his that a rough road leads to human Relicity."[6]

रूपकों में प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग देखने को अधिक मिलता है। प्राकृत के अन्तर्गत मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरशेनी, अर्द्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या सात भाषाएँ आती हैं। महाराष्ट्री आदि केवल वाक्यों में ही प्रयुक्त है। अपभ्रंश में शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविडी, उड्रा और ढक्की वनेचरों की भाषा ये सात भाषाएँ सम्मिलित की गई है। प्राकृत के अन्तर्गत शौरसेनी भाषा बोलने वाले ग्यारह पात्र हैं। जिनमें सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, धूता, कर्णपूरक, शोधनक और श्रेष्ठी हैं। शौरसेनी में तीनों 'श', 'ष', 'स' के स्थान पर 'स' का ही प्रयोग होता है।

प्राकृत के अन्तर्गत अवन्तिका बोलने वाले केवल दो पात्र ही हैं, जिनमें वीरक तथा चन्दनक हैं। इसमें भी 'श' ष के स्थान पर 'स' होता है। यह भाषा रेफवती और लाकोक्ति बहुला है। इसमें 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग नहीं दिखता।

प्राकृत के अपभ्रंश 'प्राच्या' भाषा बोलने वाला विदूषक एकमात्र पात्र है। इसमें 'ष', 'श', 'स' के स्थान पर 'स' ही होता है। प्रथम अंक में विदूषक के कथन में प्रयोग किया है –

"समुवण्णा सहिलण्णा णवणाडअदंसणुद्धिदा सुतघालिव्वा।"[7]

इत्यादि में कहीं 'क' का प्रयोग नहीं दिखा है।

प्राकृत के अपभ्रंश मागधी भाषा को बोलने वाले छह पात्र है। जिनमें संवाहक (भिक्षु), शकार, वसन्सेना, चारुदत्त इन तीनों के चेट तथा चारुदत्त का पुत्र रोहसेन मागधी के बोलने वाले हैं। इस भाषा

में 'श', 'ष', 'स' के स्थान पर तालव्य शकार का प्रयोग होता है। जैसे द्वितीय अंक में संवाहक की उक्ति –

"अंगलाअमुक्काए विअ शत्तीए घडुक्की विअ घादिदो म्हि शत्तीए।"[8]

में शक्त्या के स्थान पर शत्तीए का प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करने वाला पात्र शकार है। 'र' के स्थान पर 'ल' का भी प्रयोग होता है। प्रथम अंक में यथा शकार की उक्ति -

"अशी भुतिक्खे वलिदे अ मत्थके
कप्पेम शीशं उद मालएम वा।"[9]

चाण्डाली भाषा प्राकृत का ही अपभ्रंश है। दशम अंक में दोनों चाण्डाल इस भाषा का प्रयोग करते हैं। दशम अंक में चाण्डालों की उक्ति –

"यावलक्ष अवि शच्च भणशि।"[10]

यही चाण्डालों की उक्ति में शोभनम् के स्थान पर शोभणम् का प्रयोग किया है। 'ढक्की' वनेचरों की भाषा है। इसका प्रयोग द्यूतकर तथा माथुर दोनों पात्र इस भाषा का प्रयोग करते हैं। ढक्की विभाषा संस्कृतप्राय है। द्वितीय अंक में माथुर की उक्ति –

"अत्थि दशसुवण्णं घालेदि।"[11]

नाट्यशास्त्र में ढक्की नाम की भाषा की चर्चा नहीं है। वनेचरों की उकार प्राय भाषा तो पढ़ने में आती है।

प्राय: ये भाषाऍं आपस में मिले-जुले होने से अपभ्रंश भाषाऍं, शकारी और चाण्डाली प्राकृत के अन्तर्गत मागधी की ही विभाषाऍं प्रतीत होती हैं, अन्तर केवल यही है कि इनमें 'र' को 'ल' हो जाता है।

मृच्छकटिक प्रकरण में मौनपात्र भी हैं जिनके नाम भूमिका में तो आते हैं किन्तु उन्होंने प्रसंगोपरान्त किसी प्रकार के कोई कथोपकथन नहीं कहे हैं। इसलिए उनकी भाषा के विषय में ज्ञात होना मुश्किल है कि वे किस भाषा का प्रयोग करते होंगे। जिनमें अवन्ती के राजा पालक, रेभिल उज्जयिनी का एक व्यापारी है, जो कि चारुदत्त का मित्र है और एक विशिष्ट गायक है। जूर्णबृद्ध चारुदत्त का मित्र है। सिद्ध आर्यक की राज्य-प्राप्ति का भविष्यवक्ता है। इसके अतिरिक्त राजपुरूष और नागरिक है। ये सभी मौन पात्र हैं, इनकी चर्चा इस प्रकरण में की है पर इनके द्वारा मंच पर प्रवेश का दृश्य नहीं दिखाया गया है।

मृच्छकटिकम् की काव्यशैली सरल एवं स्वभाविक है। इसकी शब्दावली विविध तथा विशद है। इसमें संस्कृत के पुराने तथा प्रचलित शब्दों का प्रयोग तो नहीं है परन्तु इसके प्राकृत में अप्रचलित प्रयोग बहुत हैं, जैसे- मल्लक, वरटा, सैरिभ, भटल्लक, रूपिन् आदि। वसन्तसेना का प्रासाद वर्णन तो

अवश्य ओजगुणपूर्ण होने से लम्बे समासों वाला है वैसे सरल है। प्रवाहपूर्ण, सुन्दर एवं संगीतमय वाक्यों तथा पद्यों में साधारण तथा लोकप्रिय सूक्तियाँ यथार्थ में सुन्दर हैं।

'एम विन्टरनित्ज' ने अपनी पुस्तक 'A History of Indian Literature' Vol. III, Part I में शूद्रक के मृच्छकटिक के बारे में अपने विचार इस प्रकार कहे हैं-

"The Drama of the 'Clay-Cart' attributed to king Shudraka, is a genial, elaborate and late adaptation (perhaps a continuation) of Bhasa's Daridra Charudata." In any case, the four acts of the Daridra Charudatta and the first four acts of the Mrichhakatika are related together in a way, that is a close as that existing between two different recessions of one and the same work."[12]

प्रतीत ही होता है पाश्चात्य लेखकों के उद्धरणों से की यह प्रकरण विशिष्ट मनीषियों के लिए तो रूचिकर है ही किन्तु इसकी अभिव्यक्ति जनसाधारण के लिये भी उतनी ही बोधगम्य तथा सहज है। पाणिनीय भाषा का माध्यम भी इसमें अंगीकार है -फिर भी इसकी रचना यथेष्ट स्वतंत्र है। नाटकीय भाषा के औचित्य की दृष्टि से देववाणी संस्कृत भाषा के साथ इसमें विविध जनसाधारण प्राकृत स्वरूप मंच पर दिखाये गये हैं।

सन्दर्भ –

1. Dr. Arthur William Ryder, 'The Little Clay Cart'
2. Dr. A. Berridale Kieth, 'The Sanskrit Drama', P. 134.
3. मृच्छकटिकम्, गद्य भाग – ३
4. मृच्छकटिकम्, 1/11
5. वही, 9/26
6. 'Henry W. Wells', 'The Classical Drama of India', P. 154
7. मृच्छकटिकम्, अंक - 1 'विदूषक की उक्ति'
8. वही, अंक - 2 'संवाहक की उक्ति'
9. वही, अंक - 1 'शकार की उक्ति'
10. वही, अंक - 10 'चाण्डालों की उक्ति'
11. वही, अंक - 2 'माथुर की उक्ति'
12. एम० विन्टरनिट्ज, 'A History of Indian Literature', Vol. III, Part I, P. 22

अभिज्ञानशाकुन्तल में सांस्कृतिक मूल्य

• डॉ. सूर्यप्रकाश शुक्ल

शोधसार- महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के पुरोधा कवि हैं। विश्व साहित्य में उनका प्रमुख स्थान है। उन्होंने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में भारतीय संस्कृति के लोकमंगल, अध्यात्म चेतना, यज्ञविधान, ईशोपासना, अतिथिसत्कार, अतिथिसपर्या की अनवधानता, परमार्थपरायणता, प्रकृति प्रेम, विनयशीलता आदि मूल्यों का यथास्थान यथाप्रसंग सन्निवेश किया है जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोधपत्र में किया जा रहा है।

बीजशब्द- कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तल, सांस्कृतिक मूल्य, धर्म एवं आध्यात्मिकता, परमार्थपरायणता, विनयशीलता, सांस्कृतिक चेतना, यज्ञविधान, अतिथिसत्कार, प्रकृति प्रेम।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। यह जीवन के उदात्त मूल्यों एवं आदर्शों से सर्वथा अनुप्राणित है। इसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय को समान रूप से सर्वोपरि स्थान दिया गया है। धर्म भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व है। धर्म ही अर्थ एवं काम का नियमन करता है अर्थात् धर्म सम्मत अर्थ एवं काम की संकल्पना हमारे ऋषियों ने की है। मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति में धर्म, अर्थ एवं काम ये तीनों सहायक हैं। भारतीय संस्कृति में लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष पर बल दिया गया है-

''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः''। चाहे आध्यात्मिक जीवन मूल्य हो या नैतिक जीवन मूल्य हो अथवा सांस्कृतिक जीवन मूल्य हों, सभी का सन्निवेश भारतीय साहित्य में कवियों के द्वारा यथोचित ढंग से किया गया है। सत्य, अहिंसा, परोपकार, अतिथि सपर्या, ईशोपासना, अध्यात्मप्रवणता, कर्मवाद, पुनर्जन्म, भाग्य, वसुधैव कुटुम्बकम्, पुरुषार्थ चतुष्टय, आश्रम व्यवस्था, मातृपितृगुरुभक्ति, त्याग, तपस्या एवं तपोवन, यज्ञीय कर्म प्रभृति सांस्कृतिक मूल्यों के कारण भारतीय साहित्य का अपना अनुपम वैशिष्ट्य है जिससे कोई भी कवि अछूता नहीं रहा है। भारतीय संस्कृति

* असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत), राजकीय महाविद्यालय पलिया कला, लखीमपुर खीरी (उ.प्र.)

एवं साहित्य मानव को पशुत्व से पृथक् कर सच्चे अर्थों में मानव बनाता है। उसमें चरित्र को प्रधान स्थान दिया गया है। हमारे यहाँ ऋषियों ने ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' की संकल्पना की है। सम्पूर्ण पृथ्वी मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।

भारतीय संस्कृति आचार प्रधान है। इसमें चरित्र पर बल दिया गया है। इसी कारण मनु ने यह स्पष्ट उद्घोष किया है कि भारतवर्ष सदाचार का समुपासक रहा है। उसने अपने आचारपूत आचरण से विश्व को शिक्षा दी है। इसी सदाचारपरायणता ने उसे विश्वगुरु की पदवी पर प्रतिष्ठित किया है-

''एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।।''
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।''

विश्व वाङ्मय में महाकवि कालिदास का प्रमुख स्थान है। इन्होंने रघुवंश एवं कुमार संभव दो महाकाव्य, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, एवं विक्रमोर्वशीय तीन नाटक तथा मेघदूत एवं ऋतुसंहार दो गीतिकाव्य प्रणीत किये हैं। महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी सभी रचनाओं में विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का यथास्थान पल्लवन हुआ है। इन्होंने आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के साथ जिन सांस्कृतिक मूल्यों को अपने काव्यों में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठापित किया है वे आज भी मानव समाज के लिए सर्वथा अनुकरणीय हैं। प्रकृत सन्दर्भ में नाटकरत्न अभिज्ञानशाकुन्तल में सांस्कृतिक मूल्यों का विवेचन अभीष्ट है।

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। अतः जीवन के समस्त कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति हेतु मङ्गलाचरण का विधान किया गया है। इस दृष्टि से नाटक के प्रारम्भ में अष्टमूर्ति भगवान शिव का स्मरण किया गया है-

''या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।''[1]

भारतवर्ष और यहाँ की संस्कृति विश्व मंगल की भावना से ओतप्रोत है। अतः प्रकृत नाटक के भरतवाक्य में सर्वमङ्गलमाङ्गल्य का भाव व्यक्त किया गया है-

''प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।''[2]

राजा प्रजा के हित के लिए प्रयत्नशील हों। ज्ञानगरिष्ठ कवियों की वाणी का पूर्ण समादर हो। सर्वशक्तिमान स्वयंभू शिव मेरे भी पुनर्जन्म को नष्ट कर दें।

भारतीय जीवन में यज्ञ की प्रधानता है। भारत के गृहस्थों में यज्ञ एवं कर्मकाण्ड का विधान सम्पादित होता है। ऋषियों का तो यह नित्य कर्म होता है। यही यज्ञविधान ही अग्निविद्या के रूप में जाना जाता है। कठोपनिषद् में अतिथि के रूप में नचिकेता ने यम से दूसरा वर अग्निविद्या ज्ञान को ही माँगा था और यम ने उन्हें उसका सम्यक् प्रबोधन भी किया था। इससे यज्ञविधान की परिपुष्टि होती है। वेद का यह प्रमुख पतिपाद्य भी है। वस्तुतः याज्ञिक दृष्टि से तीन प्रकार की अग्नियाँ मानी गयी हैं- गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणात्य। तीनों अग्नियों की पृथक् –पृथक् दिशाओं मे प्रतिष्ठा होती है।इनमें वेदी के पश्चिम भाग में गार्हपत्य, पूर्व में आहवनीय और दक्षिण भाग में दाक्षिणात्य अग्नि स्थापित होती है।

महर्षि कण्व वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रतिष्ठित ऋषि हैं। अतः शकुन्तला के पतिगृहगमन विषयिणी विदाई के अवसर पर जो आशीर्वाद देते हैं उससे यज्ञीय संस्कृति का स्पष्ट संकेत मिलता है। पहले तो वे शकुन्तला को अग्नि की प्रदक्षिणा करने का निर्देश देते हैं और फिर आशीर्वादस्वरूप वैदिक त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध श्लोक पढ़ते हैं-

''अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।''[3]

अर्थात् वेदी के चारों ओर प्रतिष्ठापित समिधाओं से प्रज्वलित तथा उनके किनारों में बिछे हुए कुशों से युक्त यज्ञीय अग्नियाँ हव्य की सुगन्धि से पाप का शमन करती हुई तुम्हें (शकुन्तला को) पावन करें।

कालिदास के नाटकों में आध्यात्मिकता एवं धर्म की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। शाकुन्तल के प्रथम अंक में ही दुर्भाग्य की शांति के लिए तीर्थ यात्राएं करने का वर्णन प्राप्त होता है। ऋषि कण्व स्वयं अपनी पुत्री शकुन्तला के दुर्दैव की शान्ति का उपाय करने के लिए सोमतीर्थ जाते हैं-

''इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियोज्य दैवमस्याः
प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।''[4]

महाकवि कालिदास प्रकृति के अनन्य समुपासक हैं। उनका प्रकृति के प्रति दृढ़ अनुराग अभिज्ञानशाकुन्तल में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। उन्होंने अपनी कृतियों में प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए पारिवारिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। शकुन्तला वृक्षों को अपना सगा भाई तथा लताओं को सगी बहन मानती है। वह उसी प्रकार उनके साथ व्यवहार भी करती है। वह कहती है-

''न केवलं ताननियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।''[5]

कालिदास के अनुसार वृक्षों की सेवा करना मानव का परम कर्त्तव्य है। वृक्ष- वनस्पतियों के संरक्षण एवं संवर्धन का दायित्व मनुष्य पर ही निर्भर है। इसीलिए शकुन्तला आश्रम के वृक्षों को जल दिये विना स्वयं पहले जल नहीं पीती थी। अलंकारप्रिय होने पर भी अत्यधिक स्नेह के कारण वृक्षों के नये कोपलों को नहीं तोड़ती थी। प्रथम पुष्पोद्भव के समय उत्सवों का आयोजन किया करती थी-

''पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।''[6]

वृक्षों में चैतन्य तत्त्व व्याप्त है जिसके कारण वे आत्म तत्त्व को समझने वाले सहृदय जनों के साथ मानववत् व्यवहार करते हैं। यद्यपि वृक्ष-वनस्पतियों को सामान्यतया जड़ माना गया है किन्तु तत्त्वदर्शी ऋषियों ने उन्हें चेतन स्वीकार किया है। व्यास जी महाभारत में वृक्षों की चेतनता को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि वृक्ष भी मानवीय इन्द्रियों के समान विषयों को ग्रहण करते हैं और सुख दुःखादि का अनुभव करते हुए अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं।इसी चैतन्य तत्त्व को अनुभव करते हुए कालिदास ने शकुन्तला की विदाई के अवसर पर वृक्षों से भी गृहस्थोचित लोक व्यवहार निर्वहन का बड़ा ही हृदयहारी चित्रण किया है।

पतिगृहगमन के अवसर पर गृहस्थों द्वारा किये जाने वाले व्यवहार के अनुकूल रेशमी वस्त्र, पादरञ्जन योग्य आलक्तक द्रव्य आदि प्रदान करते हैं-

''क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।''[7]

कण्व आश्रमस्थ वनस्पतियाँ और पशुपक्षी भी सुख दुःखादि जनित संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं। इसी कारण शकुन्तला की विदाई पर मृग चरना बंद कर देते हैं जो ग्रास मुख में है उसे भी गिरा देते हैं। मयूर नाचना बन्द कर देते हैं। इतना ही नहीं वृक्षों से गिरने वाले पत्ते रोदन जनित अश्रुपात के द्वारा अपना दुःख व्यक्त करते हैं। वस्तुतः यह सब व्यवहार गृहस्थ मानव समाज में होते हैं। यहाँ मनुष्य ही इस तरह का व्यवहार प्रदर्शित करते हैं किन्तु वन में कण्व के तपः जनित समत्वसिद्ध आचरण का परिणाम यह है कि वन के पशु –पक्षी अथवा स्थावर जङ्गम सौहार्दपूर्ण मानवीय चेतना से ओतप्रोत आचार व्यवहार का पालन करते हैं-

''उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।।''[8]

महाकवि कालिदास प्रकृति के माध्यम से जीवन के यथार्थ का उद्बोधन करते हैं। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रकृति अपने शाश्वत नियमों से सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, उत्थान एवं पतन का सन्देश देती है। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में वे कण्व शिष्य के माध्यम से कहते हैं-

''यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।''[9]

अर्थात् उत्थान और पतन का शाश्वत क्रम प्रकृतिसिद्ध है। जिस प्रकार एकतः प्रातः सूर्य का उदय रूप उत्थान होता है और सायं दूसरी ओर निशापति चन्द्रमा का अस्तंगत रूप पतन होता है, निश्चित ही उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार का नियमन और संचालन होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में पदे-पदे कवि ने भारतीय जीवन सम्मत सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार किया है। महर्षि कण्व पुत्री शकुन्तला को उपदेश देते हैं कि तुम पतिगृह पहुँचकर गुरुजनों की सेवा करना, सपत्नियों (सौतों) के साथ प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना, तिरस्कृत अथवा अपमानित होने पर भी क्रोध के कारण पति के प्रतिकूल कार्य न करना, अपने सेवकों के प्रति अत्यन्त उदार रहना और अपने ऐश्वर्य का अभिमान न करना। इस प्रकार का आचरण करने वाली स्त्रियां गृहलक्ष्मी के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित होती हैं और इसके विपरीत आचरण करने वाली कुल के लिए अभिशाप होती हैं-

''शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।''[10]

इस स्थल पर जहाँ एक ओर कवि ने नव वधू को गृहस्थोचित सीख दी है वहीं एक आजीवन परिपालनीय मानवता की भी शिक्षा दी है क्योंकि राजकुल में पहुँचकर किसी भी वधू को ऐश्वर्यजनित अभिमान प्रभावित कर सकता है जो मानवता के सर्वथा विपरीत है। यहाँ कण्व एक कन्या के पिता ही नहीं हैं अपितु वे समग्र मानव धर्म के चिन्तक, उपदेशक ऋषि भी हैं। अतः अपनी नवविवाहिता कन्या के साथ ही राजा दुष्यन्त को भी उपदेश देना समीचीन समझते हैं-

''अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मनः
त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः।।''[11]

अर्थात् संयम ही जिसका धन है ऐसे आश्रमवासी हम लोग और आप उच्च कुलोत्पन्न हैं तथा आपका यह सम्बन्ध ऐच्छिक प्रेम व्यापार के आधार पर सम्पन्न हुआ है। अतः यह (शकुन्तला) सभी

पत्नियों में समान समादर के साथ व्यवहृत होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त तो भाग्यायत्त है जिसे उसके बन्धु –बान्धवों को अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। महाकवि कालिदास के कथन में बड़ी दूर तक फैला सन्देश होता है। यदि आज के सन्दर्भ में देखा जाय तो भारतीय समाज में कन्या पक्ष की ओर से बहुमूल्य उपहार दिये जाते हैं, ऐसी परम्परा है। किन्तु कण्व का यह कथन कि तपस्या रूप धन ही उनके पास है, से यह स्पष्ट होता है कि वे किसी प्रकार का मूल्यवान उपहार अथवा धन नहीं दे सकते। यदि धनाभाव में वरपक्ष की ओर से कन्या को प्रताड़ित किया जाय तो वह भी उचित नहीं होगा क्योंकि वह तपस्वी की कन्या है। वे दण्ड अवश्य दे सकते हैं।

वस्तुतः कन्या का विवाह प्रत्येक गृहस्थ का परम दायित्व होता है। उसका विवाह करके पिता को परम प्रसन्नता होती है। यह प्रसन्नता वैसी ही है जैसे कोई व्यक्ति किसी की धरोहर को समय आने पर उसे लौटाकर परम सुख का अनुभव करता है, उसका अन्तःकरण प्रसन्न एवं निश्चिन्त हो जाता है। ऐसी ही परम सुखद निश्चिन्तता का महर्षि कण्व शकुन्तला को पतिगृह भेजकर अनुभव करते हैं-

''अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं, प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।''[12]

भारतीय संस्कृति में चार आश्रम बताये गये हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास। शकुन्तला विदा वेला के समय जब महर्षि कण्व से पूँछती है कि तात! मैं पुनः कब इस तपोवन में आऊंगी? तो कण्व उत्तर देते हैं कि चिरकाल तक इस सम्पूर्ण पृथ्वी की महारानी बनकर अपने संतान को राज्यभार सौंपकर अपने पति के साथ पुनः इस आश्रम में आओगी-

''भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।।''[13]

अनेक महनीय विशेषताओं के साथ परमार्थपरायणता भारतीय सांस्कृतिक चेतना का प्रमुख अंग है। इस तथ्य का ऋषियों ने वृक्ष,नदी आदि के उपादानों में प्रत्यक्ष अनुभव कर उनसे शिक्षा लेने की प्रेरणा दी है।यथा- वृक्ष स्वयं अपने फल नहीं खाते हैं, नदियां स्वयं अपना जल नहीं पीती हैं उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी आजीवन परोपकार में निरत रहते हैं। विनयशीलता भारतीय जीवन का मुख्य अंग है। उपकारशीलस्वभाव वाले सज्जन पुरुष देकर भी अत्यन्त विनम्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं जिससे उनकी निरभिमानिता तथा दानशीलता का गुण प्रकाशित होता है। महाकवि कालिदास ने इस तथ्य की पुष्टि में फलभारनमित वृक्षों तथा जलपूर्ण मेघों को उदाहृत किया है। स्वभावतः फलों के आने से वृक्ष और जल से युक्त बादल झुक जाते हैं तथा पृथ्वी की ओर नमित हो जाते हैं-

''भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोकारिणाम्।।''[14]

भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवता माना गया है। जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। तैत्तिरीयोपनिषद् माता,पिता, आचार्य के साथ ही अतिथि में भी देवबुद्धि रखने का उपदेश देता है- 'अतिथि देवो भव'। शकुन्तला से अन्यमनस्कता के कारण अतिथिरूप में समागत दुर्वासा की अवहेलना हो जाती है जिससे वे अपना अनादर समझकर उसे शाप दे देते हैं-

आः अतिथि परिभाविनि!

''विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा, तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्, कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।''[15]

अर्थात् जिसकी स्मृति में तन्मय होकर तुम मुझ जैसे समागत अतिथि को नहीं पहचान रही हो, वह (पति) बार-बार स्मरण कराने पर भी प्रमत्त की तरह स्मरण नहीं करेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि कालिदास का प्रमुख नाट्य ग्रन्थ है। इसमें शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रणयगाथा के माध्यम से भारतीय उदात्त जीवन मूल्यों एवं परम्पराओं का समुचित सन्निवेश मिलता है। वर्णाश्रम व्यवस्था संस्कृति का प्रधान अंग रहा है। ऐसी स्थिति मे कवि ने जीवन के विविध पक्षों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों की जीवन शैली तथा मानव और प्रकृति एवं पशु पक्षियों के साथ पालनीय व्यवहारों का भी वर्णन किया है। गृहस्थ धर्मोचित रीति से शकुन्तला की विदाई , कण्व की शिक्षा, मृगों का व्यवहार, संवेदनशीलता, परमार्थपरायणता, यज्ञ पूजन आदि का बड़ा ही उदात्त एवं व्यावहारिक चित्रण किया गया है। भारतीय मूल्यों के सम्यक् समावेश तथा भाषा की सहज आलंकारिक व्यंजनोपेत वर्णना के कारण महाकवि कालिदास विश्व वाङ्मय में सर्वोत्कृष्ट स्थान के भागी हैं।

सन्दर्भ-

1. अभिज्ञानशाकुन्तल-1/1
2. वही- 7/35
3. वही-4/8
4. वही- 1/13 के बाद का गद्य
5. वही- 1/17 के बाद का गद्य
6. वही- 4/9
7. वही- 4/4
8. वही- 4/12
9. वही- 4/2
10. वही- 4/18
11. वही- 4/17
12. वही- 4/22
13. वही- 4/20
14. वही- 5/12
15. वही- 4/1

“वैदिक ज्ञान परम्परायें: आन्तरिक एवं बाह्य उन्नति की आधारभूमि”

• डॉ. सुगन्धा जैन

“वटविटपसमीपे भूमिभागे निषण्णंसकलमुनि जनानां ज्ञानदातारमारात्।
त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं। जननमरणदुःखच्छेदक्षं नमामि” ॥

- ***श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्***

शोधसार - भारत के गौरवपूर्ण अतीत का संस्पर्श एक वृहद् भाव दृष्टि की ज्योत्सना से आप्लावित है। इस दृष्टि के निर्माण में सहायक आधारशिला विशाल वाङ्मय, गुरुजनों की श्रेष्ठ सात्विक प्रेरणाओं, माता-पिता की प्रार्थनाओं, उनके आशीर्वाद और ईश्वर अनुकंपासे अनुप्राणित है। वैदिक ज्ञान प्रणाली इन सभी का एक मंजुल सामंजस्य है; जो सदैव अजस्र ज्ञान धाराओं से आप्लावित, परमपवित्र तपःस्थली भारत भूमि पर अनवरत सुशोभित योगी-यतियों, धर्माचार्यों, महापुरुषों की आत्मचेतनाओं का आगार रही है। उसकी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उर्वरता में व्याप्त संस्कृति, सभ्यता, आचरण, आदर्श,शुचिता, नैतिकता, विनम्रता आदि गुण सदैव ही महाविभूतियों की उत्पत्ति का आधार रहे हैं। अपनी सांस्कृतिक, साहित्यिक, ज्ञानमयी विशिष्टताओं से आलोकित वैदिक ज्ञान प्रणालियों ने ऐतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक हर ओर से न केवल भारतीय जनमानस को वरन् संपूर्ण वैश्विक सभ्यता को आन्तरिक और बाह्य प्रत्येक छोर से उन्नति हेतु सज्जकिया है। यह शैक्षिक परिपाटी सनातन धर्म के वैशिष्ट्य से परिपूर्ण होकर इस विश्व को निरंतर परिपूर्णता का आभास कराती रही है। शिक्षाओं के इस वैदिक स्वरूप ने विश्व के कण-कण को हर क्षण अपनी ज्योत्स्राओं से मांझ- मांझ कर ज्ञान की उज्ज्वल-रजत आभासे आप्लावित किया है। यह आभा एक दिन में बालक को मानव नहीं बनाती; वरन् एक माता के गर्भ में प्रवेश करने के पूर्व से ही पुंसवन आदि संस्कारों की श्रृंखला से मंडित होते हुए, हर क्षण आंतरिक और बाह्य रूप से वैदिक मंत्रो की ऊष्माओं से पल-पल जप-तप को प्राप्त होते हुए, माता, गुरु, ईश और कर्म से सायुज्य प्राप्त

* असि. प्रो., फैकल्टी ऑफ एजुकेशन, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

कर उन्नति को प्रदान करने वाली होती है। ये उन्नति भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग उसके जीवन मूल्यों, नैतिक आदर्शों, कर्मकांडों, षोडशसंस्कारों, शिक्षा पद्धतियों, वेद पुराण आगम में व्याप्त ज्ञान की ऊर्जाओं में निहित है। ये उन्नति लौकिक नहीं पारलौकिक भी है, ये उन्नति भौतिक नहीं आध्यात्मिक भी है, यह उन्नति बाह्य ही नहीं आन्तरिक भी है, यह उन्नति एकांगी नहींबहुमुखी भी है; जिसमें मानव जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की सन्निधि है।

बीजशब्द - वैदिक-ज्ञान, शिक्षायें, परंपरायें, कौशल, वैश्विकप्रभाव।

वेदसनातन संस्कृति के ज्ञान के आदि स्रोत के रूप में संस्थापित हैं। "सर्वज्ञानमयो हि सः”[1]अर्थात् वेद सभी विद्याओं धर्म, ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, आचार, शिक्षा, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि से युक्त ज्ञान सूत्रों के रूप में विद्यमान हैं जो निरंतर अपनी ज्ञान ऊष्मा के रूप में प्रवाहित होते हुए संपूर्ण जगत को आलोकित कर रहे हैंअतः यह तो निश्चित है कि, ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रारंभिक चाहे भारत कहें या संपूर्ण आर्यजगत् कुछ भी प्राचीन नहीं। आर्य-भाषाओं के स्थापित होने के कारण ऋग्वेद प्राचीनतम् स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित है[2]। अतः संपूर्ण वैदिक ज्ञान के स्रोत का मूल सूत्र ऋग्वेद को कह सकते हैं। यह ज्ञानस्रोत एक परंपरा के रूप में प्राचीन काल से निरंतर प्रवाहित होता चला आ रहा है; जो अपनी शिक्षाओं से मानव संस्कृति के एक-एक कण को आकार-प्रकार, रूप-रंग, सौंदर्य-शक्ति आंतरिक व वाह्य उन्नति प्रदान कर रहा है।

प्रो० ‘राधा कुमुद मुकर्जी’ ‘रूडोल स्टेनर’ के अनुसार “वेदों में जो कुछ भी हम पढ़ते हैं, जो हिन्दू मनीषा की उपलब्धि है, वह हमें प्राचीन शिक्षकों के उदात्त सिद्धान्तों का अस्पष्ट परिचय देती हैं, और ये यद्यपि अपने मौलिक रूप में नहीं हैं, अपने में निहित उस दिव्य दृष्टि से, जिससे वह चेतना की अतल गहराइयों में छिपे सत्य को परख सकते हैं, देख सकता है अतीत के रहस्यों के, ज्ञान के उस अनुच्चरित सत्य का स्वरूप है ये लेख (वेद)”[3]।

प्रो० मुखर्जी आगे भी ऋग्वेद को ऐतिहासिक सभ्यता का परिचायक,प्राचीनतम् संदर्भों का संकलन, ज्ञान और उन्नति का प्रतीक मानते हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य समस्त वैदिक संहिताएँ निरंतर धार्मिक चिंतन, शिक्षण और शैक्षणिक विकासात्मक प्रक्रिया को प्रभावित करती रही हैं।

प्राचीनतम् भारत में शिक्षा और ज्ञान के रूप को ‘ब्रह्मचर्य’ पद में उसकी समस्त मान्यताओं के साथ सुरक्षित देखा जा सकता है जहाँ आचार्य, द्विज, उपासना जैसे प्रकरण आचार्य और शिष्य को स्वरूप प्रदान करने वाले हैं। ब्रह्मचारी की स्थिति 'मृगछाल एवं कुश से उसका जुड़ना, केशों को संतुलित रखना, समिधा एकत्रित करना, 'गृहाग्नि' को सुरक्षित रखना, भिक्षासम्प्रदान', अग्नि की प्रातः सन्ध्यावन्दना, 'संयम’, समर्पित जीवन तथा गुरु को स्वीकार करने योग्य दान देते हुए संतुष्ट रखना, आदि रूप वाले 'ब्रह्मचर्यपथ’से सुशोभित हैं। दूसरी ओर ‘आचार्य’ शिष्य को पूर्वाभिमुख करके 'प्रणीतः अभ्यवर्तस्य' कह कर प्रार्थना कराने तथा श्राद्ध, मेधा, प्रजा, धन, आयु, अमृतत्व को 'तपस'

द्वारा बुद्धितत्व में प्रतिष्ठित करने की प्रार्थना करने वाले उदार रूप को अंगीकृत करने वाला है।वैदिक शिक्षाओं में निहित ये नियम ही वो अप्रतिम परम्परायें हैं जो सम्पूर्ण मानव संस्कृति को एक आन्तरिक उन्नयन देने वाले हैं। इनसे निर्मितये परम्परायें विविध रूपों में भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। ये ज्ञान परंपरायें मानव संस्कृति को सभ्य और उन्नत बनाते हुए उसका आत्मिक विकास करने वाली उस गतिशील प्रक्रिया के रूप में प्रतिष्ठित हैं जो जीवन पर्यन्त अनुकरण, श्रवण, अध्ययन, मनन एवं सम्बन्ध स्थापना के द्वारा चलती रहती हैं[4]; इसीलिए प्राचीन भारतीय विचारकों का कथन है कि, "यावज्जीवमधीते विप्रः" अर्थात् सच्चा गुरु आजीवन विद्यार्थी रहता है। संकुचित अर्थों में वैदिक शिक्षाओं से तात्पर्य उस शिक्षण से है जिसे युवक व्यवसाय से पूर्व अपने विद्यार्थी जीवन में अपने गुरु अथवा शिक्षा संस्थान में रहकर अपनी सर्वांगीण प्रगति हेतु अपेक्षित संस्कार-सभ्यता-आचरण-गुण-धर्म-कर्तव्य व उत्तरदायित्वों की समझ के रूप में प्राप्त करता है। मनुष्य के विकास की इस महत्वपूर्ण स्थिति को ही हम विद्यार्थी जीवन के रूप में जानते हैं।इस संगठित भाव को समाहित करने के कारण ही वैदिक ज्ञान परंपरायें न केवल बाहरी उन्नति हेतु वरन् आंतरिक उन्नति के हित भी श्रेयस्कर हैं।

परंपरायें बिना किसी व्यवधान के एक श्रृंखला रूप में अग्रसारित होती रहती हैं।अर्थात् परंपरा में किसी संदर्भ या उपसंदर्भ का लेखा-जोखा नहीं वरन् भावनाओं का ऐसा व्यवस्थित और व्यावहारिक ज्ञान होता है जो बिनाकिसी परिवर्तन के एक दूसरे को हस्तांतरित होता चला जाता है।परंपरा एक अप्रतिम मान्यता के रूप में भी अपनी अग्रिम पीढ़ियों को हस्तांतरित होती चली जाती हैं। जो जीवन को नवीन आलोक देने वाली,नये मूल्यों से संपृक्त करने वाली,नये ज्ञान का प्रतीक होती हैं।ये मान्यताएँ ही धीरे-धीरे परंपराओं के रूप में परिवर्तित हो जन शक्ति द्वारा आत्मसातीकरण को प्राप्त हो जाती हैं। वैदिक ज्ञान परंपराओं की बात करें तो ये भारत की मिट्टी में बसी हुई हैं जो उसके वैदिक, पौराणिक, दार्शनिक, साहित्य ज्ञान के रूप में निरंतर मानव मनीषा का विषय होकर अग्रसारित होती चली जा रही हैं।

वैदिक ज्ञान परम्परायें इसलिए अद्भुत हैं क्योंकि उस परंपरा में निहित शिक्षा की अवधारणा कुछ अलग हटकर है। वैदिक शिक्षा को ज्ञान और शक्ति का स्रोत कहा गया है जो बालक को किसी एक क्षेत्र में नहीं बल्कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सही मार्ग का प्रदर्शन करना बताती है। वेदों का एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है। सृष्टि के आरंभ में इनका जो रूप था वही आज भी है। आज भी वही उच्चारण वही क्रम है। ऐसा इसलिए है कि, इनके संरक्षण के लिए आठ उपाय बताए गए हैं जिन्हें विकृति कहते हैं- जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दंड, रथ और घन[5]। गुरु परंपरा से इन आठ उपायों का फल प्राप्त होता था। इसीलिए गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में शिक्षा संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति का कारक थी। वैदिक काल में शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी एक मौखिक वाहिनी के रूप में प्रवाहित थी तथासम्पूर्ण वैदिक ज्ञान की सुरक्षा करने के लिए कटिबद्ध थी

जो श्रुति के रूप में जाना जाता था। निश्चित ही वैदिक काल में शिक्षा मौखिक रूप में दी जाती थी शिक्षा के द्वारा बालक को न केवल बौद्धिकवरन् शारीरिक, आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक, चारित्रिक,दार्शनिक समस्त शक्तियोंसे स्नात कर इहलोक और परलोकदोनों में पुण्य संचित करने का उपदेश दिया जाता था। शिक्षा मानव के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक उपनयन का आधार थी। शिक्षित व्यक्ति अन्य की तुलना में श्रेष्ठ कहा जाता था[6]। विद्या के अभाव में मनुष्य का जीवन बोझिल हो जाता था उसका व्यक्तित्व भी संकुचित हो जाता था। क्योंकि अज्ञानता को अंधकार का प्रतीक कहा गया है[7]। विद्या जीवन के समस्त तत्वों का सम्यक् बोध कराने की दृष्टि से सदैव से उपयोगी मानी गई है। यह सुख दुख में मनुष्य का मार्गदर्शन करने वाली है। उपनिषदों की शिक्षाएं विद्या और अविद्या दोनों में अंतर स्थापित करते हुए विद्या का आश्रय ग्रहण करने तथा अविद्या से दूर रहने का उपदेश प्रदान करती हुई प्रतीत होती हैं[8]। जो मनुष्य सच्ची लगन के साथ कर्म करता है, विद्या ग्रहण करता हैवही अधिक शक्तिशाली कहा गया है[9]।यही कारण है कि, वैदिक युगीन शिक्षाएं प्रकाश और शक्ति का स्रोत मानी गई हैं; जो मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित कर उसे सही दिशा निर्देश प्रदान करती हैं। इसलिए वैदिक शिक्षाओं से अनुस्यूत ये परंपराएं मानव की सर्वांगीण उन्नति का कारक हैं।

वैदिक परम्पराओं में निहित ज्ञान सौन्दर्य

वैदिक परंपराएं हर छोर से सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की वाहिका हैं। वेदों में ज्ञान या विद्या को मनुष्य के तृतीय[10] और सर्वश्रेष्ठ नेत्र[11] के रूप में स्वीकारा गया है। यह नेत्र विद्या द्वारा मनुष्य के लिए मृत्यु से अमृत को प्राप्त कराने वाला है[12]; जिसके पास यह ज्ञान ज्योति नहीं वह अन्धरूप है। अतः जो अमृत्व को प्रदान कराने वाली है, जो ज्योति देने वाली है, जो समस्त संशयों का उद्भेदन करने वाली है[13], जो कठिनाइयों को दूर हटाती है वही विद्या है; अर्थात जो मोक्ष की ओर लेकर जाए वही विद्या है[14]।विद्या ही है जो बालक अथवा मनुष्य की माता के समान कष्टों से रक्षा करती है,पितृवत् हितकारी कार्य में नियोजित करती है, पत्नी सम् दुख दूर कर आनंद प्रदान करती है और एक रमणी के समान यश वैभव का विस्तार करती है। ये कल्पलता रूप विद्या विभिन्न गुणों से भरपूर हो क्या-क्या नहीं साधती अर्थात सब कुछ प्रदान करती है[15]। इस प्रकार की शिक्षाएं बालकों को उस आंतरिक आध्यात्मिक भाव से सम्पन्न करती थीं जो बालक को हमेशा श्रेय की ओर चलने की, श्रेष्ठ होने की, सात्तविक बनने की, गुणकारी होने की प्रेरणाओं से ऊर्जस्वित करने वाली थीं। यह ऊष्मा वैदिक परम्पराओं की रश्मियों से मण्डित गुरुओं से प्राप्त होता थी। जिसे शिष्य गुरुमुख से निसृत वैदिक मंत्रो की ध्वनियों को श्रवण कर सीखता था।

वैदिक शिक्षाएं गुरु शिष्य परंपरा का अनूठा उदाहरण थींजहाँ सामूहिक शिक्षा की अपेक्षा व्यक्तिगत शिक्षा पर जोड़ दिया जाता था[16]।बालक अपने घर में जो प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करता था

उसमें जो भी त्रुटियां रह जाती थी वह गुरुकुल जाकर धीरे धीरे विलुप्त हो जाती थीं[17]। गुरुकुल की शिक्षाएं नियमबद्ध हो अनुशासन युक्त जीवन शैली प्रदान करबालकों को संस्कार प्रदान करती थीं[18], कार्यकुशलता और दक्षता देने वाली होती थीं[19]। प्रायः गुरु के समीप रहकर शिष्य गुरु के दैनिक जीवन तथा कर्मों में सहायता प्रदान करता था और उसी के द्वारा जीवन विषयक ज्ञान को आत्मसात करता था। ये शिक्षाएं बालक को नैतिक तथा आध्यात्मिक ज्योति के साथ-साथ सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों की पूर्ति हेतु भी सफल बनाती थीं[20]।गूढ़ चिंतन करें तो वैदिक शिक्षायें वह प्रकाश हैं जो प्रत्येक क्षेत्र, विषय और पदार्थ को ज्ञान से जोड़कर विश्व के कण कण को आलोकित कर रही हैं। इसके हित ही वैदिक शिक्षायें ब्रह्मज्ञान का पर्याय थीं। बालक गुरु के समीप अरण्य में रहकर ब्रह्मचर्य एवं तप को धारण करता था। अरण्य में रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय माना गया है[21]। उपनिषदों में भी ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने वाले ऋषियों की आवास भूमि को अरण्य कहा गया है। उनके आश्रम वनों में स्थित होते थे। अतः विशेष ध्यान दिया जाता था कि गुरुकुल का निर्माण प्रकृति के रम्य, पवित्र वातावरण से युक्त किसी उपवन या एकांत स्थान पर हो[22]। वाल्मीकि, कण्व एवं संदीपनी गुरु के आश्रम वनों में स्थित थे। भारद्वाज एवं वाल्मीकि ऋषि के आश्रम उच्च कोटि के गुरुकुल के रूप में अपनी सांस्कृतिक धरोहर के लिए आज भी विख्यात है[23]। खुले आसमान के नीचे घने वृक्षों की छाया में प्राकृतिक वातावरण के मध्य गुरु अपने शिष्यों को आध्यात्मिक अनुभूतियों के दर्शन कराते हुए निर्देशित करते हैं कि, - "वेदभूनच्याचार्योऽतेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मम् चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमदितव्यम् धर्मान् न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्"[24]।अर्थात् 'हे वत्स! तुम सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, आचार्य के लिए प्रिय धन लाकर दो। सत्य, धर्म और शारीरिक आरोग्यता और ऐश्वर्य प्रदान करने वाले कार्यों में प्रमाद मत करो। मेरा जो अच्छा आचरण है उसी का अनुकरण करना, अन्य का नहीं'। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार भी हैविद्या मानव में मानवता, विनम्रता का विकास करने वाली है, इसी के द्वारा व्यक्ति शिक्षित होता है।

वैदिक ज्ञान परंपराओं में निहित सौंदर्य अद्भुत है। कौटिल्य ने भी वैदिक शिक्षा के विशेष चरणों[25] की चर्चा की है। जो- **शुश्रूषा**-गुरू के कण्ठ से निकले शब्दों का श्रवण करने की आतुरता, **श्रवणम्**-गुरू के शब्दों को ध्यान से सुनना, **ग्रहणम्**-गुरू के कहे गये वचन का मर्म समझना, **धारणम्**-गुरू के दिये गये ज्ञान को धारण (याद) करना, **ऊहापोह**-गुरू के दिये गये ज्ञान पर मन्थन करना, **विज्ञान**-गुरू के द्वारा दिये गये उपदेश से अर्थविषय का ज्ञान, **तत्वाभिनिवेश**-गुरू द्वारा पढ़ाये गये पाठ और उसमें निहित सत्य और ज्ञान का मनन एवं अर्थ का भावन आदि से युक्त है। इन चरणों की मीमांसा से स्पष्ट है कि भारतीय वैदिक शिक्षा परंपरा केवल शब्दों का कंठस्थ कराने तक नहीं थी

बल्कि बालक को सुदीर्घ काल तक बिना पुस्तकों की सहायता के मौखिक ढंग से ज्ञान देकर उस आलोक की ओर लेकर जाने वाली थी जो आलोक बालक को सर्वांगीण व्यक्तित्व प्रदान करता है, गुण-धर्म-कर्म और कर्तव्य की समझ प्रदान करता है तथा जो पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर ले जाने वाली थी।

वैदिक शिक्षाएं प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की भावना से अनुप्राणित हैं-

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति[26]" ।।

ये शिक्षाएं मोक्ष का साधन स्वरूप हैं मनुस्मृति में कहा गया है कि, इंद्रियों के निरोध से रागद्वेश क्षय से प्राणियों में अहिंसा भाव से उत्पन्न बुद्धि मोक्ष के लिए समर्थ होती है-

"इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेष क्षयेण च।
अहिसंया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते"[27]" ।।

संक्षेप में कहें तो वेदों में व्याप्त शिक्षाएं संपूर्ण विश्व को एक घोंसलें के रूप में देखती हैं– "सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"[28]। जहाँ संपूर्ण विश्व को एक नीड़ के रूप में देखने की भावना निहितहो वहांज्ञान की पराकाष्ठा क्या होगी? इसका अनुमान अकल्पनीय है। वैदिक शिक्षाओं का भाव अति उदार रहा है। उसके एक-एक अक्षर में जो प्रेम मानव मात्र के प्रति विद्यमान है वो नैतिकता और मानवीय मूल्यों से अनुस्यूत है। वह प्रत्येक बालक को मानव बनाने की क्षमता रखता है। ये प्रेम सात्विक शक्ति और उर्जा का वाहक है। वर्तमान युग की भौतिक प्रगति के मध्य व्याप्त शुष्कता को पुनः आदर्श रूप प्रदान करने के लिए ये शिक्षायें आज भी प्रासंगिक हैं।

निष्कर्ष:-

निष्कर्षतः वैदिक ज्ञान परंपराओं का विश्व पर अमिट प्रभाव है। वैश्विक धरातल पर चाहे राजनीति हो या सामाजिकता, संस्कृति हो अथवा सभ्यता, ज्ञान हो अथवा कौशल, योग हो अथवा व्यवहार, भाषा हो या विज्ञान, खोज हो अथवा अनुसंधान, तर्क होया विश्लेषण सभी क्षेत्रों में चारों ओर वैदिक ज्ञान परंपरायें अपना प्रभाव छोड़ रही हैं। इन्हीं ज्ञान परंपराओं से पाश्चात्य संस्कृति कौटिल्यकी राजनीति की शिक्षा लेती है तो महर्षि पतंजलि की योग शिक्षाओंसे अपने आप को स्वास्थ्य की ओर लेकर जातीहै। चरक की संहिता अनुसंधान क्षेत्र को सफल बनाती है तो सामवेद की गान विद्यायें उसको मधुर संगीत से जोड़ती हैं। निष्कर्ष रूप में जीवन के प्रारंभ से मृत्यु के अंत तक जो कुछ भी है वह वैदिक शिक्षाओं से जुड़ा हुआहै।

"ॐ "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"" ॥

सन्दर्भ

[1]आचार्य मनु, मनुस्मृति , 2/7.
[2]Mookerji, R. K. (1974), Ancient Indian Education, Motilal Banarasi Das, Delhi, page -17.
[3]Mookerji, R. K. (1974), Ancient Indian Education, Motilal Banarasi Das, Delhi, page -17.
[4]अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, (1979-80),प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, मनोहर प्रकाशन, वाराणसी, , पृष्ठ- 2.
[5]"जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो धनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः" ।। जटापटल कारिका -2, कल्याण, शिक्षांक, (विशेषांक 62), पृष्ठ 166. पर उद्धृत ।
[6]'अज्ञण्वन्तः कर्णनो सरवायो भवन्तः जवेषु असमायमूकः', ऋग्वेद, 10.7.17.
[7]अन्धतमऽवाज्ञानम् ।, विष्णु पुराण, 6.5.62.
[8]"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञाता ।
विद्यामीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न स्वा कामा बहवोलोलपन्त" ।।-कठोपनिषद्, 2.4.
[9]"उभौ कुरुतौ यश्चैतदेवं वदेयश्च न वेद ।नाना तु विद्या चाविद्या च।
यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीयंवत्तरं। भवति" ।।
- छान्दोग्योपनिषद्, 1.1.10.
[10]"ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थविलोकदक्षम् । तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरामं प्रवृत्तिमत्सर्व जगत्त्रेपि" ।।
- सुभाषित रत्न सन्दोह, पृ० 194.
[11]"नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्तिसत्यसमं तपः" ।- महाभारत, 12.339.6.
[12]"विद्ययामृतमश्नुते" ।, यजुर्वेद, 40.14 ।
[13]"अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्" ।- सुभाषित रत्न भण्डार ।
"सर्वस्य लोचनम् शास्त्रम् यस्य नास्त्यन्ध एव सः" ।।- हितोपदेश, कथामुखम् पृ० 30-21.
[14]"सा विद्या या विमुक्तये । विद्यान्यासिद्धतैपुण्यम्" । विष्णु पुराण, 1.10.41.
[15]"मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते, कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च, दिक्षु कीर्ति किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या" ।।
- सुभाषित रत्न संग्रह, पृ० 31-4.
[16]Mookerji, R. K. (1974), Ancient Indian Education, Motilal Banarasi Das, Delhi, page -31.
[17]अल्तेकर, अ० स०, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धत्ति, पृ० 25.
[18]जातक, भ० आ० कौसल्यायन, खण्ड 3,252 (तिल मुट्ठि जातक), पृ० 6-11.
[19]आपि च ज्ञानसंपन्नः सर्वान्वेदान्पितुर्गृहे ।श्लाघमान इवाधीयाद ग्राम्य इत्येव तं विदुः ।।, म० भा०, 13.36.15.
[20]प्रकाश, ओम, (1982),प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, मैकमिलन इंडिया लि०, दिल्ली, , पृ० 198.
[21]यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव।' छान्दो०, 8.5.3.
[22]गोपथ ब्राह्मण, 1.2.1.8.
[23]रामायण, 6.123.51, 2.55.9-11.
[24]तैत्तिरीयोपनिषद् –एकादश अनुवाक् – 1.11.
[25]Mookerji, R.K., The Age of Imperial Unity. (Ed. by R.C. Majumdar), pp. 583-84 पर आलेख से उद्धृत ।
[26]यजुर्वेद- 40.6.
[27]मनुस्मृति – 6.10.
[28]यजुर्वेद- 32.8.

शैवदर्शन में तत्त्वत्रयी का स्वरूप एवं अन्त:सम्बन्ध

• सन्ध्या

शोधसार - शैव दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। यह दर्शन परमेश्वर शिव को पशुपति के रूप में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानता है। इस दर्शन में पति, पशु और पाश केवल वैयक्तिक या धार्मिक अवधारणाएँ नहीं हैं, अपितु ये तीनों तत्त्व अस्तित्त्व के मूलभूत स्तम्भ हैं। इस त्रयी के माध्यम से शैवदर्शन जीवन, ब्रह्माण्ड और मुक्ति के रहस्यों को व्याख्यायित करता है। इस शोधपत्र में हम इन तीनों तत्त्वों के बीच अन्त:सम्बन्ध, उनके दार्शनिक समन्वय तथा मुक्ति की प्रक्रिया में उनके स्थान की गहन समीक्षा करेंगे। त्रिविध पदार्थों में पशु परतन्त्र और पाश अचेतन है, अत: इन दोनों से विलक्षण, नियन्ता पति पदार्थ ही सार्वभौमिक तथा विश्वोत्तीर्ण है। यद्यपि पति, पशु, पाश पदार्थों की चर्चा शैवदर्शन की प्राय: सभी शाखाओं में प्राप्त होती है परन्तु सिद्धान्तशैव एवं काश्मीर शैव दर्शन में इनका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

बीजशब्द – शिव, शक्ति, शैवदर्शन, पति, पशु, पशुपति, जीव, सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, पाश, मल, तत्त्वत्रयी, अन्त:सम्बन्ध, समन्वय, उपाय, कर्म, बन्ध, मोक्ष।

सृष्टि तीन तत्त्वों (ईश्वर, जीव, जगत्) के परस्पर सम्बन्ध का परिणाम है। जीव द्वारा आत्मा (परमात्मा) के प्रति अनन्य भक्ति एवं आत्मा से इतर वस्तुओं से वैराग्य की अवस्था ही आत्मसाक्षात्कार है। प्राचीनकाल से ही ईश्वर, जीव एवं जगत् को सृष्टि का आधार कहा गया है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति"[1]।

भारतीय दर्शन में परमात्मा, जीवात्मा और जगत् के सम्बन्ध को लेकर अनेक दार्शनिक प्रणालियाँ विकसित हुईं हैं। इनमें तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से शैव दर्शन एक प्राचीन एवं व्यापक दर्शन है, यह न केवल ब्रह्माण्ड के रहस्यों की विवेचना करता है, अपितु अध्यात्म के मार्ग को भी प्रशस्त करता है।

* संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली

शैव दर्शन के अनुसार समस्त प्रपञ्च की व्याख्या तीन मूल तत्त्वों पर आधारित है जिन्हें **"तत्त्वत्रयी"** कहा जाता है, ये हैं- **पशु (जीवात्मा), पाश (जगत्)** और **पशुपति (परमात्मा)**[2] **।** तत्त्वप्रकाश में शिव की पारिभाषिकी सञ्ज्ञा पति है, पशु को अणु आत्मा (किञ्चित्कर्तृत्त्व) और अर्थपञ्चक[3] को पाश कहा जाता है।

"शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात् त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशः"[4] **॥**

इन तीनों तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय ही समस्त दार्शनिक परम्पराओं का आधार है।

तत्त्वत्रयी का स्वरूप

(क) पति (शिव)

"स्वरूपानुप्रविष्टाचिन्निर्वृत्तिरूपशक्तिद्वय: प्रकाशानन्दमय: पूर्ण: परमेश्वर: शिव:" ।[5]**,**

शिव अचेतन माया, प्रकृति आदि का प्रवर्तक है, अतः इसे पति कहा जाता है[6]। वायवीयवचन के अनुसार पशु और पाश से विलक्षण, अत्यन्त रमणीय गुणों का स्वामी यह पति इस विश्व का निर्माता है। समस्त कार्यों का कर्त्ता भी यही है।[7] शिव केवल साक्षी नहीं, सक्रिय मुक्ति-दाता है। जीव को पाश से मुक्त करने हेतु वह गुरु**,** शास्त्र**,** और अनुभव के रूप में प्रकट होता है। मृगेन्द्रागम[8] में शिव के पञ्चकृत्यों की चर्चा की गई है- १. जगत् की सृष्टि, २. स्थिति, ३. ध्वंस, ४. तिरोभाव, ५. विमुक्ति। तत्त्वप्रकाश[9] में १. सृष्टि, २. स्थिति, ३. संहार, ४. तिरोभाव और ५.अनुग्रह नामक पञ्चविध कृत्य उल्लिखित हैं।

समस्त भोग्य वस्तुओं सहित विविध योनियों में जन्म नामक व्यापार करना **सृष्टि** नामक प्रथम कृत्य है। प्राणियों को पुरुषार्थ सम्पादनार्थ तदनुकूल कार्यों में नियुक्त करके पालन करना **स्थिति** कहलाता है। स्थिति काल पूर्ण होने पर भोग्या प्रकृति को बिन्दु में तथा पशु प्रमाताओं को स्वयं में समाहित करना **ध्वंस** नामक कृत्य है। चतुर्थ कृत्य **तिरोभाव** में शिव पशुओं को भोगाभिलाषी बनाए रखते हैं। तिरोभाव को संरक्षण कृत्य भी कहा गया है।[10] पञ्चम कृत्य मोक्ष, विमुक्ति, अनुध्यान अथवा **अनुग्रह** कहलाता है। शिव पशु प्रमाताओं को परापर नामक मुक्ति प्रदान करते हैं। अपरमोक्ष के ६ प्रकार तथा एक परमोक्ष मिलकर सप्तविधि मोक्ष का स्वरूप प्राप्त होता है।[11] शक्ति के प्रवृत्ति भेद से शिव के शक्त, उद्युक्त, तथा प्रवृत्तता नामक तीन औपचारिक भेद हैं। **शक्त** अर्थात् कार्य करने की सामर्थ्य, इसे निष्कलावस्था कहते हैं। यह शिव की शान्तावस्था है। **उद्युक्तता** सकल अर्थात् कलाओं सहित निष्कलावस्था है। यह सदाशिव दशा कहलाती है। **प्रवृत्तता** स्थूलावस्था अर्थात् सकल दशा है। इसे ईश्वर कहा जाता है।[12]

ये त्रिविध अवस्थाएँ जीवोन्मुख शिव की विभिन्न स्थितियाँ हैं। अनुग्रह प्राप्त शिवोन्मुख जीव तीन अवस्थाओं (केवल, सकल, अमल) से गुजरता है। अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीव

को भगवान शिव के मूर्तिरूप सकलस्वरूप का सहारा लेना पड़ता है। कौण्डिन्य भाष्य में पति शब्द की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है **"आप्ति पाति च तान् पशूनित्यत:पतिर्भवति" ।**[13] महेश्वर पति ज्ञानशक्ति (पाश) तथा पशुशक्ति का आश्रय है। शिव को पञ्चमन्त्रतनु कहा गया है। पति का मस्तक ईशानमन्त्र है, मुख तत्पुरुषमन्त्र, हृदय घोरमन्त्र है, गुह्याङ्ग वामदेवमन्त्र तथा पादसद्योजातमन्त्र कहलाता है।[14] डॉ. पाण्डेय ने पति (शिव) को सृष्ट्युत्पत्ति का निमित्त कारण, शिव की शक्तियों को उपादान कारण तथा माया को समवायिकारण कहा है।

"निमित्तकारणं त्वीशो ह्युपादानं च शक्तय: । समवायि तथा माया कार्यमेतज्जगत्त्रयम्" ॥[15]

(ख) पशु (जीव)

शैव दर्शन में "पशु" शब्द का प्रयोग उन आत्माओं के लिए किया जाता है जो अज्ञानता के कारण अपने परम स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। ये आत्माएँ माया, कर्म और मल (अशुद्धियों) के बंधनों में बंधी हुई हैं। "पशु" शब्द संस्कृत के "पाश" से लिया गया है, जिसका अर्थ है रस्सी या बंधन। जैसे पशु (जानवर) को रस्सी से बांधा जाता है, वैसे ही आत्मा माया और कर्म की रस्सियों से बद्ध है।

"पश्यनात् पाशनाच्च पशव: । पाशा नाम कार्यकरणाख्या: कला: । ताभि: पाशिता: बद्धा: सन्निरुद्धा: श्ब्दादिविष्यपरवशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते"[16] **।**

अर्थात् पश्य (दर्शन) तथा पाश (बन्धन) के साथ सम्बद्ध होने से पशु कहलाता है। पाश का अर्थ है कार्य (पृथिवी आदि भूतपञ्चक तथा उनके गुण गन्धरस आदि) तथा करण (त्रयोदश इन्द्रियाँ) नामक कलायें। इन पाशों के द्वारा पाशित जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता हुआ शब्दादि विषयों में परवश होकर रहता है। इसलिए शैव दर्शन में 'पशु' एक बद्धजीव है। इसमें स्वातन्त्र्यशक्ति का अभाव होता है।

पशु का सामान्य अर्थ है एक ऐसा प्राणी जो बन्धनयुक्त है। जीव, अणु, पुरुष, नर, माया, प्रमाता, पुंस्तत्त्व आदि इसी के नाम हैं। अणु परिमाण मात्र से जीव को अणु नहीं कहा जाता है अपितु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि शक्तियों के संकोच के कारण इसे अणु कहा गया है। शैवदर्शन में 'पशु' शब्द का विशेष महत्त्व है। आध्यात्मिक और दार्शनिक सन्दर्भ में मानव आत्मा की स्थिति को दर्शाता है। यहाँ "पशु" का अर्थ एक सामान्य जीव या प्राणी मात्र नहीं है, अपितु यह एक ऐसी आत्मा को सन्दर्भित करता है जो माया (भ्रम) और कर्म के बन्धनों में बन्धी हुई है।

जीव अनादि है, परन्तु अविद्या के कारण अपने स्वरूप से विमुख है। वह अनन्त जन्मों से पाश के अधीन है और उसे मोक्ष के लिए ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है। यह चेतन तत्त्व है, जो अभी तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है।

परमार्थसार की योगराजीय व्याख्या में कहा गया है- **"अख्याति अपहस्तित: चैतन्य: सर्व: प्रमाता..."**[17] **।** अर्थात् अख्याति के द्वारा सभी प्रमाताओं की चेतनाओं का ह्रास हो गया है।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने पशु को तीसरा मुख्य पदार्थ कहा है, उनके अनुसार पशु साङ्ख्य पुरुष की भाँति ज्ञान एवं क्रिया शक्ति रहित नहीं है अपितु वह उभयशक्तिमान एवं नित्य है।

“ज्ञानक्रियाशक्तिमान्नित्यः, यस्यापरिमितज्ञानक्रियाशक्ती ईशप्रसादान्मुक्तावभिव्यक्ते भवतः, एवञ्च यः शिवसाम्यमवाप्नोति (पशुः)”[18]।

शैवदर्शन बिन्दु में पाशों के तारतम्य के कारण पशु के तीन भेद गिनाए गये हैं- १. विज्ञानाकल, २. प्रलयाकल, ३. सकल[19]।

१. **सकल-** सकल पशु पक्वमल तथा अपक्वमल भेद से दो प्रकार का होता है। बन्धन की तीन श्रेणियाँ हैं आणवमल, मायामल, कार्ममल। सकलपशु इन तीनों मलों से ग्रसित रहता है। यह कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त त्रिंशत् तत्त्वों से बंधा रहता है यथा- मनुष्य।

२. **प्रलयाकल-** प्रलयकाल होने पर आणवमल तथा कार्म्ममल से बद्ध संकुचित प्रमातृरूप पशु प्रलयाकल कहलाता है। प्रलयाकल पशु भी पक्वमल तथा अपक्वमल भेद से दो प्रकार का होता है। यह सृष्टि के आरम्भकाल में पुर्यष्टक अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान रहते हैं।

३. **विज्ञानाकल-** जिन पशुओं में भोगमात्र से कर्मक्षीण हो जाते हैं तथा कर्मक्षय के कारण शरीरबन्ध का उदय नहीं होता, उन्हें विज्ञानाकल कहते हैं। यह पशु समाप्तकलुष तथा असमाप्तकलुष भेद से दो प्रकार का होता है।[20] विज्ञानाकल पशु नष्टप्राय आणवमल मात्र से बद्ध होते हैं। विज्ञानाकलों को मन्त्र, मन्त्रेश एवं मन्त्रमहेश आदि नामों से जाना जाता है।

“पशु” तत्त्व अत्यन्त संकुचित “अहं” का पर्याय है। प्रपञ्च की विकासावस्था में यह पुरुष कहीं शून्य को, कहीं प्राण को अथवा अन्तःकरण को और कहीं स्थूल शरीर को अहं समझता है[21]। शुद्ध संवित्स्वरूप शिवभाव में अपरिमित ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति के साथ मायीयशक्ति भी विद्यमान रहती है। यही अभेदभाव से भेदात्मक विश्व को प्रकट करने के प्रति उन्मुख रहती है। जीव दशा में भी यह तीनों सामर्थ्य रहते हैं, परन्तु अत्यन्त सङ्कुचित होने के कारण इन्हें जीव की शक्तियाँ न कहकर जीव के गुण कहा जाता है।[22] ज्ञानशक्ति संकुचित होकर सत्वगुण, क्रियाशक्ति रजोगुण तथा मायीय शक्ति तमोगुण कहलाती है। **“स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये त एव पशोः सत्त्वरजस्तमः”**[23] ॥

चित् प्रकाश (बोध) माया को स्वीकारने के कारण तीनों मलों से अभिभूत होकर पुरुषतत्त्व बनता है, इसे पशु कहा जाता है। परमार्थसार के अनुसार यह कला, कला, नियति, राग, अविद्या तथा माया इन छह कञ्चुकों से आच्छादित रहता है।[24] **“अतः मायायाः पाल्यः पाश्यः च इति पशुः आणवमायीयकार्ममलस्वभावानां पाशानां भाजनम्”** ।[25]

"पशु" में ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति रूपी चैतन्य विद्यमान रहता है। यह मोक्ष की दशा में स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव इसे सर्वतोमुख कहते हैं। पशु का विस्तृत विवेचन मृगेन्द्रागम संहिता में प्राप्त होता है।

"चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा। सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्" ॥[26]

कञ्चुकों के कारण ही पति पुरुष कहलाने लगता है और इसकी गणना तत्त्वों में होने लगती है।

तन्त्रागमीय धर्म दर्शन में **शिवोन्मुखजीव** की चर्चा की गई है। इसके तीन भेद प्राप्त होते हैं- १.केवलावस्थ, २.सकलावस्थ, ३.अमलावस्थ।

१. **केवलावस्थ-** इस अवस्था में जीव सदा भोग की चिन्ता में रत रहता है। इसकी शक्ति कुण्ठित रहती है।

२. **सकलावस्थ-** यह जीव तीनों मलों से आवृत्त रहता है। इसे भोक्ता, शरीरी, अज्ञानी, बद्धात्मा आदि नामों से जाना जाता है। इस अवस्था में जीव को ज्ञात होने लगता है कि मैं बद्ध हूँ।

३. **अमलावस्थ-** बन्धन मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील जीवात्मा योग्य गुरु के सान्निध्य में दीक्षा लेकर भगवदाराधन करता है। इससे बन्धनरहित होकर वह अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्तकर, बिना किसी विघ्न के शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। समस्त अभिलाषाओं से रहित यह शान्तावस्था ही जीवन्मुक्त अवस्था कहलाती है।[27]

शतरत्नसङ्ग्रह[28] के अनुसार न तो शरीर का नष्ट होना अपवर्ग है, और न ही पशु व शिव का एकात्मक भाव ही अपवर्ग कहलाता है। आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों के हट जाने से जो आनन्दयुक्त आत्मस्वरूप प्रकट होता है, शैव दर्शन में यही वास्तविक मोक्ष है, यही जीवन मुक्त दशा कहलाती है।

शैवमत में व्यक्ति रूप प्रमाताओं अथवा कर्त्ताओं को शास्त्रीय भाषा में 'पशु' कहा गया है। इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है- सर्वपाशरहित महेश्वर ही सभी प्राणधारी जीवों की आत्मतत्त्व है तो व्यक्तिरूप प्रमाताओं के पाशबद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जिनसे व्यक्तिरूप प्रमाताओं को मुक्त करने का शैवमत का लक्ष्य है ही व्यर्थ हो जाता है। इसका शंका का अत्यन्त सरल व तार्किक समाधान डॉ. पाण्डेय जी अपने ग्रन्थ "स्वतन्त्रकला शास्त्र" में इसप्रकार करते हैं-

अभिव्यक्ति (व्यक्तभाव) की प्रक्रिया का अर्थ है सामान्य के विशेषीकरण की प्रक्रिया। विशेषीकरण का अर्थ है भेद, विविधिता आदि कहा गया है। इसका अर्थ है एकता (जीवमात्र) का अनेकता (शरीरबद्धजीव) के रूपों में विभाजन। इन अनेक विषयभूत वस्तुओं में शरीर, बुद्धि तथा प्राणवायु भी हैं। जीव के सन्दर्भ में विशेषीकरण का अर्थ है उसका शरीर बुद्धि आदि प्रत्येक विषयभूत वस्तु तथा उन वस्तुओं की अनेकताओं के साथ अलग-अलग तादात्म्य और उसके परिणाम स्वरूप विभिन्न शरीरों, बुद्धियों तथा प्राणों से परिसीमित अनेक आत्मचेनाओं की उत्पत्ति हैं। इस अवस्था में जीव को

अपने मूल स्वरूप के विषय में अज्ञान उत्पन्न होता है। शास्त्र की भाषा में इसको स्वरूपाख्याति कहते हैं। व्यक्ति प्रमाता की इस अवस्था के दो महत्त्वपूर्ण कारण है। एक आत्मचेतना के मूलस्वभाव के विषय में अज्ञान और दूसरे शरीर आदि के साथ तादात्म्य । जिस प्रकार तादात्म्य के विषय अनेक हैं, उसी प्रकार से व्यक्ति प्रमाता भी अनेक हैं। आत्मचेतना के विषय में अज्ञानी होने के कारण वे व्यक्ति प्रमाता पाशबद्ध होते हैं। परिणामस्वरूप "पशु" सञ्ज्ञा से अभिहित होते हैं। अतएव इन्हीं पाशों से मुक्त होने के लिए शैवमत का प्रतिपादन किया गया है।[29]

(ग) पाश (बन्धन)

"पाश" शब्द का शाब्दिक अर्थ है बन्धन। यह **'पश्यते बध्यतेऽनेन पश्'** धातु से करण अर्थ में **'घञ्'** प्रत्यय से निष्पन्न होता है। पाश वे तत्व हैं जो जीव को उसके शुद्ध स्वरूप से अलग रखते हैं और संसार में पुनर्जन्म, दुःख एवं भ्रम में डालते हैं। इन बन्धनों की प्रकृति तामसी मानी गई है। शब्दरत्नावली में इसे शस्त्र का एक प्रकार कहा गया है। शैवदर्शन के अनुसार पाश ऐसा बन्धन है, जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व-प्राप्ति होती है। मृगेन्द्रागम में पाश चार प्रकार के बताए गए हैं १. अविद्या[30], २. कर्म, ३. माया, ४. रोधशक्ति ।

"अविद्या अज्ञानमञ्जनमाणवः पाश आदौ येषां ते कर्ममायारोधशक्त्याख्याः पाशाः"[31]।

बलदेव उपाध्याय जी ने अविद्या के स्थान पर **मल** को प्रथम पाश कहा है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार **"पाश एव पशोः पत्युर्भेदकारणम्"**[32] अर्थात् पति व पशु में द्वैतभाव का कारण पाश है। डॉक्टर पाण्डेय जी ने मल, माया, कर्म, निरोधशक्ति के साथ ही बिन्दु नामक पञ्चम पाश की चर्चा की है।

मल- शैवतन्त्र में अज्ञान को मल कहा जाता है। **"मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्"** ॥[33] यहाँ अज्ञान से तात्पर्य ज्ञान का सम्पूर्ण अभाव न होकर सङ्कुचित ज्ञान है।

"अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः। स हि लोष्ठादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः॥

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्। ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भासितम्" ॥[34]

मल की उपमा तण्डुल के तुष और ताम्रस्थित कालिमा से दी जाती है। जिस प्रकार धान के अङ्कुरण का कारण तुष है, उसी प्रकार देहादि की उत्पत्ति का हेतु मल है।[35]

"एको ह्यनेकशक्ति क्रिययोश्छादको मलः पुंसः । तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिकावद् वा ॥"[36]

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में मल को परिभाषित किया गया है- **"मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्"** ॥[37] अर्थात् मल को संसार रूपी अङ्कुर का कारण माना गया है। स्वात्मविस्मरण रूप अज्ञान ही मल कहलाता है। मल शब्द यद्यपि तीनों मलों को द्योतित करता है अथापि पाशान्तर्गत पदार्थों की गणना में मल शब्द आणव मल के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

मलत्रय- १. आणवमल- मन्त्रेश्वर अपनी पूर्णता को भूलकर प्राण, बुद्धि, शरीर आदि में अहन्ता को समझता हुआ आणव मल से ग्रसित रहता है। **"स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः" ॥**[38] यह अज्ञान का मूल कारण है, जिससे जीव में अपूर्णता का भाव उत्पन्न होता है।

२. मायीयमल- जीव प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण को मायीयमल कहा जाता है।[39] इसमें पशु स्वयं को परमेश्वर व अन्य प्राणियों से भिन्न समझता है। **"मायीयमिति सञ्ज्ञामात्रम्। मायाकृतत्वेन मायीयता मलत्रयस्यापि" ।**[40] इससे जीव को भेदबुद्धि और स्थूल जगत का अनुभव होता है।

३. कार्ममल- शिव समस्त क्रियाओं का कर्ता है परन्तु सङ्कुचित पशुरूप को अपनी सर्वकर्तृता का विस्मरण हो जाता है। जीव को पदार्थ विशेष (शरीर, मन, वाणी) के द्वारा यह कृतकर्मों में कर्तृत्त्व का अभिमान होता है। जबकि यह कर्तृत्त्व भी शिव की अन्त:प्रेरणा का परिणाम है।

"तस्य या एवमिति विचित्ररूपेच्छा सैव क्रिया इति सम्बन्धः। तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता" ॥[41]

अतः कर्तृत्त्व के मिथ्याभिमान से वह जीव फल के प्रति भी उत्तरदायी बनकर कर्मों के संस्कार का भी पात्र बन जाता है। पूर्वकृत कर्मों का संस्कार, जो फलस्वरूप पुनर्जन्म आदि में परिणत होता है। यही कर्मवासना उसे विभिन्न योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य करती हुई संसार चक्र में फँसाए रखती है।[42] यह सीमित कर्तृत्त्व का अभिमान तथा कर्म वासना पशु का कार्ममल कहलाते हैं।

कर्म- जीवों के द्वारा फल की इच्छा से किए गए धर्माधर्म रूप कार्यकलाप कर्म कहलाते हैं।

"धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम्। ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते" ॥[43]

माया- उत्पत्ति तथा विनाश की मूल अवस्था माया है। **"माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा" ।**[44]

प्रलय काल में जीव माया में विलीन हो जाते हैं तथा उत्पत्ति काल में माया से ही पशु का जीवन प्रारम्भ होता है। शैवदर्शन में माया अनिर्वचनीया न होकर वस्तुरूपा है। बिन्दु अर्थात् महामाया शुद्धसृष्टि का कारण है तथा यह माया अशुद्धसृष्टि का कारण है। माया एक सर्वव्यापक तत्त्व है। यह निष्कला, जगतोत्पत्ति का कारण है।

"सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः। अनाद्यन्ता शिवेशानो व्ययहीना च कथ्यते॥"[45]

यह संसार की निधि है। माया ने **कला** को उत्पन्न किया जिसके योग से पशु सकलभाव को प्राप्त होकर अपने कर्मरूप जातकर्तृत्त्व को प्राप्त हुआ। कला से **विद्या** और **राग** की उत्पत्ति हुई। विद्या का कार्य पुरुष द्वारा किए गए कार्यों का विवेचन करना है। राग अशुचि रूप अशुद्ध भोगों में भी अणु को अनुरञ्जित करता है। पशु विषयों के ग्रहण, प्राप्ति, संरक्षण तथा उपभोग की आंशिक तृप्ति को ही सर्वस्व मानकर रागरक्त हो जाता है। **नियति** चतुर्थ तथा **काल** माया के पञ्चम कञ्चुक कहलाते हैं।

नियति जीव को विशिष्ट कार्यमण्डलों में लगाए रखती है। काल अन्तिम परन्तु नित्यत्त्व को सङ्कुचित करने वाला कञ्चुक है। मृगेन्द्रागम में माया को ग्रन्थि कहा गया है।

"ग्रन्थिजन्यं कलाकालविद्यारागनृमातरः। गुणधीगर्वचित्ताक्षमात्राभूतान्यनुक्रमात्" ॥[46]

रोधशक्ति- यह अन्य पाशों में अधिष्ठित एक शक्ति है, जिससे जीवों के नैसर्गिक स्वरूप का तिरोधान होता है। तत्त्वप्रकाश में **"अर्थपञ्चकं पाशः"**[47] तथा वहीं अन्य स्थान पर **"पाशाश्चतुर्विधाः स्युः"**[48] कहा गया है।

पञ्चम पाश के रूप में **महामाया** की चर्चा की गई है। इसे शुद्धसृष्ट्युत्पत्ति के मूलस्रोत के कारण बिन्दु भी कहा जाता है। इन बंधनों के कारण ही जीव अपनी शिवस्वरूपता को विस्मृत कर देता है और अज्ञान की अवस्था में प्रवेश करता है। वह स्वयं को सीमित, परतंत्र और दुःखयुक्त मान बैठता है। इन बंधनों को केवल पशुपति की कृपा से ही हटाया जा सकता है।

तीनों तत्त्वों का अन्त:सम्बन्ध

स्वतन्त्र इच्छास्वरूप विश्वात्म शिव अपने से, स्वयं में, अपने आप पूर्ण सृष्टि की रचना करता है। जिसमें जीव प्रमाता का सम्पूर्ण जीवनचक्र बन्धन तथा मुक्ति के मध्य दोलायमान रहता है। बन्धनों का कारण विभिन्न "पाश" तथा मोक्ष का एकमात्र मार्ग "पति" अर्थात् शिव है। ये तीनों अन्त:सम्बन्धित रहते हैं। इनका सम्बन्ध शाश्वत है यतोहि समस्त सृष्टिप्रपञ्च से लेकर जीव रूप में बन्धन व मुक्ति प्रक्रिया आदि परमशिव का स्वातन्त्र्य रूपी कलेवर है।[49] अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीव शिव की ही अन्त:चेतना है, पुनः वह पाशबद्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान इसप्रकार है- जीव परमशिव का भ्रमित आत्मरूप है। शिव सर्वस्व है अर्थात् शिव के लिए न कुछ ज्ञातव्य और न ही किञ्चिदपि कर्तृत्त्व शेष रह जाता है। परन्तु जीव परमशिव का अभिव्यक्त रूप है। यह विशेषीकरण से प्रतिबन्धित है। इसका सङ्कुचित ज्ञान माया (शरीर, बुद्धि, मन) आदि में 'अहन्ता' का भान कराता है। जीव को वास्तविक आत्मस्वरूप का बोध कराने के लिए शिवतत्त्व की आवश्यकता होती है। माया का प्रभुत्त्व भी तभी तक शक्तिप्रधान तथा सार्थक रहता है, जब तक जीव उसमें भ्रमण व रमण करता रहता है। अविद्या आदि पाशों के अस्तित्त्व के लिए सृजनकर्ता (पति) तथा भोगकर्ता (पशु) दोनों की आवश्यकता होती है। **पशु**, **पाश** और **पशुपति**, ये तीनों तत्त्व एक त्रिकोण के रूप में कार्य करते हैं:

- **पशु** बन्धनग्रस्त है,
- **पाश** बन्धन का कारण है,
- **पशुपति** उद्धारक है।

निष्कर्ष (उपसंहार)

शैव दर्शन में तत्त्वत्रयी (पशु, पाश और पशुपति) केवल दार्शनिक तत्व नहीं हैं, अपितु वे आध्यात्मिक साधना के तीन मूल चरण हैं। यह तत्त्वत्रयी जीवन, बन्धन और मुक्ति के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त सुन्दर और व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करती है। परमशिव की इच्छा से ही शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक तथा उनमें रहने वाले अनन्त प्रपञ्चों की सृष्टि होती है। इसका कारण परिणामवाद न होकर परमेश्वर सदाशिव का स्वातन्त्र्य है। अतएव यह कहा जा सकता है कि परमशिव ही एक ओर पाश रूप में उत्पन्न होकर स्वयं संसारी प्रमाता के रूप में माया के बन्धन से संकुचित करते हैं, पुन: पति (ईश्वर)रूप के माध्यम से जीवन्मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह सब महेश्वर की स्वातन्त्र्यलीला मात्र है। शिव का स्वातन्त्र्य ही भ्रान्ति के बन्धन में डालने और उससे मुक्त करने की क्रीडा का मूलकारण है अत: बन्धन भी शिव है मुक्ति भी शिव है। इस प्रकार, यह दर्शन केवल एक विचार पद्धति नहीं, बल्कि मोक्ष का साक्षात् पथ है, जिसमें शिव स्वयं पथप्रदर्शक और साध्य दोनों हैं।

सन्दर्भ-

1 ऋग्वेद १.१६४.२०, मुण्डकोपनिषद्. ३.१.१

2 "पतिपशुपाशभेदात् त्रय: पदार्था:" । सर्वदर्शनसंग्रह: पृ. सं. १३२

3 "मलं कर्मं च माया च मायोत्थमखिलं जगत् । तिरोधानकरी शक्तिरर्थपञ्चकमुच्यते" ॥ तत्त्वप्रकाश:, पञ्चम श्लोक की व्याख्या देखें, पृ. सं. ३२।

4 तत्त्वप्रकाश:, पञ्चम श्लोक:।

5 शिवदृष्टि:, १.२९।

6 तत्र पतिपदार्थ: शिवोऽभिमत:, सर्वदर्शनसङ्ग्रह:, पृ. १३४।

7 व्रजवल्लभ द्विवेदी, तन्त्रागमीय धर्मदर्शन, पृ. सं. ३१०।

8 "जगज्जन्मस्थितिध्वंसतिरोभावविमुक्तय:। कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यैतदेव हि॥" मृगेन्द्रागम, विद्यापाद, २.३।

9 "पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिः स्थितिसंहृती तिरोभावः। तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य" ॥ तत्त्वप्रकाश, श्लोक ७।

10 मृगेन्द्रवृत्ति, विद्यापाद, २.३,४।

11 मतङ्गपारमेश्वर, योगपाद, ५.६३-६७।

12 किरणागम, ३.१४।

13 पाशुपतसूत्र, कौण्डिन्य भाष्य, पृ. सं. ५।

14 बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ.सं. ४९१।

15 मातङ्गपारमेश्वरतन्त्र, ३६।

16 पाशुपतसूत्र, कौण्डिन्य भाष्य, पृ. सं. ५।

17 परमार्थसार, कारिका ३२।

18 डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, शैवदर्शनबिन्दु:, पृ. सं. २५।

19 डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, शैवदर्शनबिन्दु:, पृ. सं. २५।

20 बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ.सं. ४९२।

21 "चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः। देह बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा।
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात् । विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः" ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १.६.४.५)

22 "भेदस्थितेः शक्तिमतः शक्तित्वं नोपदिश्यते। एषां गुणानां करणकार्यत्वपरिणामिनाम्" ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४.१.५)

23 ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४.१.४।

24 "मायापरिग्रहवशात् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति । कालकलानियतिवशाद्रागाविद्यावशेन संबद्धः" ॥ परमार्थसार, कारिका १६।

25 परमार्थसार, कारिका १६, योगराजीय व्याख्या, पृ.सं. ६४।

26 मृगेन्द्रागम, विद्यापाद, २.५।

27 व्रजवल्लभ द्विवेदी, तन्त्रागमीय धर्मदर्शन, पृ. सं. ३२८-२९।
28 शतरत्नसंग्रह, पृ.सं. ८५।
29 कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ. सं. १३८।
30 "अथाविद्यादयः पाशाः कथ्यन्ते लेशतोऽधुना । येषामपाये पतयो भवन्ति जगतोऽणवः" ॥ मृगेन्द्रागम, विद्यापाद, ७.१।
31 मृगेन्द्रागम, पृ.सं. १६३।
32 डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, शैवदर्शनबिन्दुः, पृ. सं. १९।
33 श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, प्रथमोऽधिकारः, कारिका २३।
34 श्रीतन्त्रालोकः, प्रथमाह्निकम्, कारिका २५,२६।
35 बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ.सं. ४९३।
36 तत्त्वप्रकाशिका, का० १८।
37 श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, प्रथमोऽधिकारः, कारिका २३।
38 ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, २.२.४।
39 भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्..., ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, २.२.५।
40 ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, २.२.५।
41 ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, २.४.२१।
42 "नन्वेवं कुम्भकृतो नास्ति कर्तृत्वम्, इति समुत्सीदेद् धर्माधर्मव्यवस्था। यदि प्रत्येषि युक्त्यागमयोस्तदेवमेव तथापि समस्तेतरनिर्माणमध्य एवेदमपि परमेश्वरेणैव निर्मितं यदविचलस्तस्य कुम्भकारपशोर्मिथ्याकर्तृत्वाभिमानः प्रतिभुव इवाधमर्णताभिमानः"। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, २.४.६
43 श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, प्रथमोऽधिकारः, कारिका २४।
44 तत्त्वप्रकाशिका, का० ९।
45 श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, प्रथमोऽधिकारः, कारिका २६।
46 मृगेन्द्रागम, विद्यापाद, १०.१।
47 तत्त्वप्रकाश, पञ्चम श्लोक।
48 "पाशाश्चतुर्विधाः स्युः पुंसो मलकर्मसंज्ञकौ प्रथमौ । मायीयतिरोधायकशिवशक्तिसमुद्भवौ चान्यौ" ॥ तत्त्वप्रकाश, श्लोक १७।
49 "निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्" ॥ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १.१.१।

षोडश संस्कारों की प्रासङ्गिकता

• आकांक्षा निगम

शोधसार - प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन को समुन्नत एवं विकसित बनाने के लिए जिन व्यवस्थाओं को सुनिश्चित किया, उनमें संस्कारों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये संस्कार व्यक्ति को सुसंस्कृत, सुव्यवस्थित तथा अनुशासित बनाने के साथ- साथ व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण भी करते हैं। संस्कारों का उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही नहीं होते हैं अपितु संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को परिष्कृत, शुद्ध एवं परिपूर्ण भी करते हैं। हिन्दू समाज में संस्कारों का धार्मिक विधान रहा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक परिवर्तनों के बाद भी हिन्दू समाज में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

बीजशब्द - भारतीय संस्कृति, षोडश संस्कार, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, निःश्रेयस, अभ्युदय।

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति **सम्** उपसर्गपूर्वक **कृञ्** धातु में **घञ्** प्रत्यय करने से होती है। जिसका अभिप्राय परिष्कृत एवं शुद्धता से है। जैमिनी के अनुसार, संस्कार का अर्थ यज्ञ के पवित्र एवं निर्मल कार्यों से है। तन्त्रवार्तिक के अनुसार, संस्कार वे क्रियाएं तथा रीतियाँ है, जो व्यक्ति को योग्यता प्रदान करती हैं। आचार्य शंकर के अनुसार, संस्कारों द्वारा गुणों का आधान किया जाता है तथा दोषों को दूर किया जाता है।

संस्कारों द्वारा ही मानव जीवन में सद्गुणों का संचार अथवा आधान होता है और दोष एवं दुर्गुणों का नाश होता है। मानव जीवन को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक सार्थक बनाने हेतु और सत्यवृत्तियों के बीजारोपण हेतु संस्कार आवश्यक है। संस्कार से मनुष्य का आध्यात्मिक और नैतिक विकास भी होता है क्योंकि मानव जीवन को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाले आध्यात्मिक उपचार का नाम ही संस्कार है। संस्कारों का मुख्य उद्देश्य श्रेष्ठ संस्कारवान मानव चरित्र का निर्माण करना है। संस्कारों द्वारा ही

* शोधच्छात्रा, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

मनुष्य में शिष्टाचार एवं सभ्य आचरण की प्रवृत्ति विकसित होती है। मनु ने संस्कारों को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम कोटि में वे संस्कार हैं जो व्यक्ति के पापों एवं दोषों को दूर करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करने वाले कर्मों को करने की योग्यता प्रदान करते हैं। द्वितीय कोटि में वे संस्कार हैं, जो स्वाध्याय, होम, यज्ञ अथवा निःश्रेयस और अभ्युदय के साधक कर्म होते हैं। संस्कारों की संख्या के विषय में अनेक मत हैं। जहाँ आश्वलायन ग्यारह संस्कारों को बताते हैं, वहीं पारस्कर, बौधायन और वराह गृह्यसूत्रों में तेरह संस्कारों का उल्लेख किया गया है। वैखानस ने अट्ठारह संस्कार बताये हैं और गौतम धर्मसूत्र में सबसे अधिक चालीस संस्कारों का विवेचन किया गया है। भारतीय संस्कृति के अनुसार, मुख्य रूप से सोलह संस्कारों द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिष्कृत किया जाता है। 'व्यास स्मृति' में प्रमुख सोलह ब्राह्म अथवा स्मार्त संस्कारों का परिगणन इस प्रकार किया गया है-

"गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्त स्नानमुद्वाहो विवाहग्निपरिग्रहः।।
त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः" ।[1]

गर्भाधान संस्कार- विवाहोपरांत जिस कर्म द्वारा पुरुष अपना वीर्य स्त्री में स्थापन करता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। मनुस्मृति तथा याज्ञवलक्य स्मृति में इसे निषेक कहा गया है।

"वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैनिषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च" ।।[2]

अधिकांशतः शास्त्रकारों द्वारा इस संस्कार को ऋतुसंगम, चतुर्थीकर्म अथवा चतुर्थीहोम भी कहा गया है। आपस्तम्ब ने बताया है कि विवाहोपरांत तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य व्यतीत कर चौथी रात्रि के तीसरे भाग में वर-वधू अग्नि का आधान करें, फिर आहुतियाँ देकर सहवास के लिए तत्पर है।[3] गोभिल के अनुसार, चतुर्थ रात्रि से अर्थ है विवाहोपरांत चतुर्थ रात्रि से नहीं अपितु पति के घर आने पर उसके पुनः ऋतुमयी होने के पश्चात् चतुर्थ रात्रि से है और इसी रात्रि में उनका प्रथम संगम काल होता है। ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक के बीच की सभी युग्म रात्रियाँ श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति के लिए उत्तम मानी जाती हैं।[4] गर्भाधान के लिए रात्रिकाल का ही विधान है और दिन का समय वर्जित माना गया है क्योंकि इसमें उत्पन्न सन्तान अभाग्यशाली, शक्तिहीन और अल्पायु होती है।

पुंसवन संस्कार- गर्भ का निश्चय हो जाने पर यह संस्कार किया जाता है। वास्तव में यह संस्कार गर्भ में प्रतिष्ठित शिशु को पुमान् अर्थात् पुत्र रूप देने के प्रयोजन से किया जाता है। यह संस्कार पुत्र उत्पत्ति के निमित्त किया जाता है। पुत्र से तात्पर्य है (पुत्र = पुत् + त्र) पुत् का अर्थ है- नरक से और त्र का अर्थ है- त्राण करने वाला। अर्थात् पुत्र पिता को पतन से बचाता है। अतः पुत्र की आवश्यकता बताई

गई है। पुंसवन संस्कार से तात्पर्य है, पुत्र उत्पन्न करने हेतु किया जाने वाला संस्कार। यह संस्कार गर्भ स्पन्दन के पूर्व गर्भ के दूसरे अथवा तीसरे माह में करना चाहिए। वास्तव में, यह संस्कार गर्भ में प्रतिष्ठित शिशु को पुमान् अर्थात् पुत्र रूप देने के उद्देश्य से किया जाता हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार, गर्भ के तीसरे माह में तिष्य नक्षत्र में यह संस्कार किया जाना चाहिए।

"तृतीये मासि पुंसवनम् ।

पुष्येण श्रवणेन वा ।

सोमांशुं पेषयित्वा कुशकण्टकं वान्यग्रोधस्य वा स्कन्धस्यान्त्यां शुगां युपस्य वाग्निष्ठाम् ।"[5]

शांखायन गृह्यसूत्र में बताया गया है कि यह संस्कार गर्भ के तीसरे माह में पुष्य अथवा श्रवण नक्षत्र में करना चाहिए। इसमें सोमलता का एकादेश या कुश की सूची या न्यग्रोध की शाखा का अंतिम अंकुर अथवा यूप का अग्र भाग पीसकर नासिका में डाला जाता है। वास्तव में, इस क्रिया का औषधीय महत्त्व है। गर्भिणी स्त्री की दाहिनी नासिका में वट वृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के प्रयोजन से छोड़ा जाता हैं। सुश्रुत के अनुसार, वट वृक्ष में ऐसे गुण विद्यमान होते हैं, जिनसे गर्भकालीन समस्त कष्टों, तिल्ली का आधिक्य, दाह आदि के निवारण की क्षमता होती है।[6]

सीमन्तोन्नयन संस्कार- पुंसवन संस्कार के उपरान्त सीमन्तोन्नयन संस्कार सौभाग्य का द्योतक है। इसके नामकरण का मुख्य आधार यह है कि इस संस्कार में पत्नी के केशों को ऊपर उठाकर बीच में रेखा बनाई जाती है, जिसे सीमन्त कहा जाता है। अतः इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन संस्कार के नाम से जाना जाता है।[7] सीमन्त- केश वेष (मांग) का उन्नयन। ये संस्कार गर्भवती के शरीर की शुद्धि द्वारा गर्भस्थ शिशु का बीज गर्भ समुद्भीव दोष को नष्ट करने हेतु तथा वीर प्रसव दीर्घायु पुत्र की प्राप्ति हेतु किया जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार, गर्भ के चौथे मास में जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र से युक्त हो और पक्ष भी आपूर्यमाण हो अर्थात् जिसमें कोई रिक्तातिथि न हो, तब यह संस्कार किया जाना चाहिए।

स्त्री की गर्भावस्था में अमंगलकारी शक्तियों का भय रहता है। अतः यह संस्कार अमंगलकारी अथवा दुष्ट शक्तियों से गर्भिणी स्त्री के गर्भ की रक्षा के उद्देश्य से किया जाता है।

जातकर्म संस्कार- जातकर्म संस्कार बालक के जन्म के समय किया जाता है । यह संस्कार नाल काटने तथा प्रथम स्तनपान के पूर्व किया जाता है। इस संस्कार में शिशु को स्वच्छ कर, उसे स्नान कराकर और स्वच्छ वस्त्र धारण कराकर पिता की गोद में दिया जाता है। पिता बालक को मधु और घृत के साथ दही और जल के मिश्रण को अथवा जौ और धान का चूर्ण बनाकर तीन बार सोने की शलाका अथवा अनामिका अंगुली से चाटता है।[8] इस अवसर पर जो पदार्थ बालक को चटाया जाता है, वे उसके मानसिक विकास में सहायक होते हैं। अतः यह संस्कार बालक के बौद्धिक विकास में सहायक होता है।

"जातं कुमारं त्रिरभ्य वन्यानुप्राण्याद्दचा प्राणाहि यजुषा समनिहि साम्नोदनिहीति"[9]

इसके पश्चात् पिता बालक की दीर्घायु की इच्छा से अपनी गोद में रखकर बालक को तीन बार सूंघता है। सूंघते समय वह ऋक शब्द के उच्चारण से श्वास खींचता है, यजुष शब्द से श्वास को भीतर रखता है तथा साम शब्द से श्वास को बहार छोड़ता है।

नामकरण संस्कार- नामकरण संस्कार बालक के सामाजिक महत्त्व को प्रकट करता है। उसका नाम सहगुणों का द्योतक होने के कारण ये संस्कार अपनी संस्कृति की ओर ले जाता है। जब हम बालक को उसके नाम से बुलाते हैं, तब बालक का अंतःकरण बाह्यरूप में उस नाम के साथ लगा चला जाता है। इन्हीं का परिशोधन बालक को उत्कर्ष पथ का पथिक तथा उन्नयनशील बनाता है। प्राचीन काल से ही इस संस्कार का अत्यन्त महत्त्व रहा है। अधिकांशतः ये संस्कार जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन किया जाता है।[10]

"द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्"[11]

"अयुजाक्षरमाकारान्तम् स्त्रियै तद्धितम्"[12]

अर्थात् बालक का नाम दो अथवा चार वर्ण का होना चाहिए। आदि में घोष वर्ण, मध्य में अन्तस्थ वर्ण व अंत में दीर्घ या विसर्ग हो। बालक का नाम कृत प्रत्यय से बना हुआ रखना चाहिए न कि तद्धित प्रत्यय से। बालिका का नाम विषम वर्ण वाला, आकारान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त वाला होना चाहिए।

"अशौचव्यपगमे नामधेयम्"[13]

साधारणतः ये संस्कार वर्णानुसार अशौच के व्यतीत हो जाने पर अपने कुल की परम्पराओं के अनुसार किया जाता है। कन्या का नामकरण संस्कार बिना मंत्रोच्चारण के करना चाहिए। जीवन की सफलता तथा समाज में गौरवशाली पद प्राप्त करना नामकरण की पृष्ठभूमि में यह दोनों ही क्रियाशील रहते हैं। नामकरण हो जाने के साथ बालक समाज का घटक बन जाता है।

निष्क्रमण संस्कार- जन्म के उपरान्त बालक को प्रथम बार गृह से बाहर निकालने की प्रक्रिया निष्क्रमण संस्कार कहलाती है। इस संस्कार में बालक को ब्रह्माण्डरूपी परिवार के संपर्क में लाया जाता है। यह संस्कार बालक के जन्म से चौथे माह में किया जाता है।

"चतुर्थेमासि निष्क्रमणिका"[14]

खादिर गृह्यसूत्र के अनुसार, यह संस्कार जन्म से तीसरे माह में शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि में किया जाता है।[15] पारस्कर गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र और विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार, बालक को सूर्य दर्शन कराना चाहिए।[16] गोभिल गृह्यसूत्रानुसार, बालक को तीसरे महीने में सूर्य दर्शन तथा चौथे महीने में चन्द्र दर्शन कराया जाता है।[17] सूर्य और चन्द्र हमारे सौरमंडल के दो प्रमुख अंग है। पृथ्वी पर इनका विशेष महत्त्व है। संकुचित सीमा से बालक को बाहर निकालकर विशाल क्षेत्र में प्रवेश कराना अथवा

सम्पर्क में लाना बालक के तन और मन दोनों के लिए लाभदायक है। यह संस्कार बालक को पवित्र वायुमंडल के सम्पर्क में लाता है और वातावरण का सेवन भी कराता है। अतः इस संस्कार द्वारा बालक को घर से बाहर के वातावरण में लाकर उसके स्वछंद विकास पर बल दिया जाता है।

अन्नप्राशन संस्कार- इस संस्कार में बालक को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता है। बालक के जन्म से छठे माह में यह संस्कार किया जाता है। मानव शरीर में मन, प्राण और वाणी तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं। जिसमें मन अन्न से, प्राण जल से और वाणी तेज से निर्मित होती है। अन्नप्राशन संस्कार में अन्न के ये तीनों रूप विद्यमान हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार, जन्म के छठे माह में अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए। बालक को तेजस्वी बनाने हेतु उसे घृत भात खिलाना चाहिए। अन्य मतानुसार, भात के साथ दही, शहद और घृत मिश्रित करके खिलाने का विधान है। सुश्रुत के अनुसार,

"षण्मासं चैतन्यं प्राश्येल्ल्घु हितं च"[18]

"षष्ठेऽन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वेति"[19]

अर्थात् बालक को जन्म से छठे माह में लघु और हितकर आहार खिलाना चाहिए। लौगाक्षि बताते हैं कि पाचन शक्ति के विकसित हो जाने अथवा दाँतों के निकलने पर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए। कन्या का अन्नप्राशन संस्कार बिना किसी मंत्रोच्चारण के करना चाहिए। इस संस्कार से इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं। शरीर, मन, बल और बुद्धि में वृद्धि होती है।

चूडाकरण संस्कार- इस संस्कार को केशांत अथवा मुण्डन संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य व्यक्ति के लिए दीर्घायु, सौन्दर्य तथा कल्याण को प्राप्त करना है। वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टि से यह संस्कार अपनी स्वस्थकर और सौन्दर्यात्मकता स्वतः सिद्ध करता है। अत्यधिक बड़े नाख़ून और केश स्वास्थ्य और सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक हैं। आपस्तम्ब ने इस संस्कार को पुनर्वसु नक्षत्र में करने को बताया है।[20] शांखायन गृह्यसूत्र में इस संस्कार को प्रथम अथवा तीसरे वर्ष में करना बताया है। किन्तु क्षत्रिय और वैश्य का चुडाकरण संस्कार पाँचवें अथवा सातवें वर्ष में होना बताया गया है।[21] सामान्यतः यह संस्कार तीसरे वर्ष में ही किया जाता है। इस संस्कार में बालक के सर्वप्रथम बार केश काटे जाते हैं और एकमात्र शिखा ही रखी जाती है। इस संस्कार का प्रयोजन संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घायु, सौन्दर्य और कल्याण की प्राप्ति है। आचार्य सुश्रुत कहते हैं-

"पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।"[22]

अर्थात् इस संस्कार द्वारा स्वास्थ्य, सौन्दर्य, कल्याण, स्वच्छता, उत्साहवर्धन आदि की कामना की जाती है। आचार्य चरक के अनुसार, केश, श्मश्रु, नखों के काटने से तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य प्राप्त होता है। शिखा इस संस्कार का महत्वपूर्ण भाग है। सभी धार्मिक कार्य शिखाबंधन और यज्ञोपवीत धारण करके ही करने चाहिए। अन्यथा कर्म निष्फल हो जाते

हैं। शिखा से हमारी चेतना जागरूक होती है। शिखा सूर्य की ऊर्जा को ग्रहण करती है। जप तप द्वारा सूर्य से प्राप्त ऊर्जा केश के छिद्रों से निकल न जाये, इसीलिये शिखा बांधी जाती है।

कर्णवेध संस्कार- आभूषण पहनने के लिए कर्ण अथवा नासिका का छेदन करना कर्णवेध संस्कार कहलाता है। सुश्रुत ने रोगादि से रक्षा और अलंकरण के निमित्त बालक का कर्णछेदन बताया है। बौधायन और कौषीतकि गृह्यसूत्र में इस संस्कार को सातवें अथवा आठवें माह में करना बताया है।[23]

"जन्मतो दशमे वाऽह्नि द्वादशे वा ऽथ षोडशे"[24]

बृहस्पति ने यह संस्कार शिशु के जन्म के दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन करना बताया है।

"सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः। शूद्रस्य चायसी सूची माध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका।।"[25]

क्षत्रिय बालक का कान सुवर्ण की सुई से, ब्राह्मण और वैश्य बालक का कान चाँदी की सुई से तथा शूद्र बालक का कान लोहे की सुई से छेदना बताया है। बालक के कर्णछेदन में सर्वप्रथम दायाँ कान तत्पश्चात् बायाँ कान छेदना चाहिए। कन्या के कर्ण छेदन में पहले बायाँ कान फिर दायाँ कान छेदना चाहिए।

विद्यारम्भ संस्कार- जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है तब विद्यारम्भ संस्कार द्वारा शिक्षा का प्रारंभ होता है। बालक को अक्षर सिखाए जाते हैं । विभिन्न धर्मशास्त्रकारों ने इस संस्कार को अक्षरारम्भ, अक्षरस्वीकरण और अक्षरलेखन आदि नामों से सम्बोधित किया है।[26] पं०भीमसेन शर्मा ने षोडश संस्कार विधि में इस संस्कार को पांचवें अथवा सातवें वर्ष में करने का विधान बताया है। इस संस्कार को कार्तिक माह की शुक्ल पक्ष की द्वादशी से लेकर आषाढ़ माह की शुक्ल पक्ष की एकादशी तक शुभ तिथि, दिवस और नक्षत्र में करने का विधान है। इसमें बालक स्नानादि कर सुंदर वेशभूषा से अलंकृत होकर विनायक, सरस्वती, बृहस्पति तथा कुल देवता की वंदना करता है। तत्पश्चात् बालक अपने गुरु की वंदना करता है। गुरु बालक का हाथ पकड़कर चावल पर सोने या चांदी की कलम से वर्णमाला के सभी अक्षर लिखवाता है। इसके अतिरिक्त 'श्री गणेशाय नमः', 'सरस्वत्यै नमः', 'गृहदेवताभ्यो नमः', 'लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः' आदि वाक्य लिखे जाते हैं। आधुनिक काल में विद्यार्थी को पढ़ना- लिखना किसी भी शुभ मुहूर्त में प्रारंभ करा देते हैं।

उपनयन संस्कार- ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की आयु में, क्षत्रिय बालक का ग्यारह वर्ष में और वैश्य बालक का बारह वर्ष की आयु में करना चाहिए।[27]

"सप्तमे वर्षे ब्राह्मणस्योपायनम्। नवमे राजन्यस्य। एकादशे वैश्यस्य।"[28]

काठक गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक के उपनयन संस्कार की आयु क्रमशः सात, नौ और ग्यारह वर्ष बताई गई है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने इस संस्कार की अंतिम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष मानी है। एस०के०दास का कहना है कि यह भेद ब्राह्मणों की बौद्धिक उच्चता पर आधारित था क्योंकि ब्राह्मण बालक क्षत्रिय तथा

वैश्य की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली था। अतः कम आयु में ही उपनयन के योग्य हो जाता था।[29] विभिन्न वर्णों के इस संस्कार को सम्पादित करने के लिए पृथक्- पृथक् ऋतुएँ निर्धारित हैं। ब्राह्मण का उपनयन संस्कार वसंत ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शरद ऋतु में करना चाहिए।

"वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्। स्वशाखाज्ञमनालस्यं विप्रं कर्त्तारमिप्सितम्।।"[30]

व्यास ने इस संस्कार में ऐसे गुरु की प्राप्ति बताई है, जो ब्राह्मण, वेदैकनिष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, श्रोत्रिय, शुचि और अपनी शाखा के अध्ययन में आलस्यहीन हो।

वेदारम्भ संस्कार- इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख व्यास स्मृति में वर्णित है। वेदारम्भ शिक्षा सम्बन्धी प्रमुख संस्कार बन गया है, जो उस समय सम्पादित होता है जब विद्यार्थी यथार्थ में वैदिक स्वाध्याय आरंभ कर देता है । इस संस्कार में आचार्य लौकिक अग्नि की स्थापना करता था और विद्यार्थी उस अग्नि के पश्चिम में बैठता था। ऋग्वेद का अध्ययन आरंभ करने के लिए घृत की दो आहुतियाँ अग्नि और पृथ्वी को दी जाती हैं। यजुर्वेद के अध्ययन के लिए अन्तरिक्ष और वायु को, सामवेद के अध्ययन के लिए द्यौ और सूर्य को तथा अथर्ववेद के अध्ययन के लिए दिशाओं और चन्द्र को आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस तथा प्रजापति के लिए भी होम किये जाते हैं। फिर आचार्य ब्राह्मण पुरोहित को पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वेदाध्ययन आरंभ करवाता है।

केशान्त संस्कार- इस संस्कार को गोदान संस्कार भी कहा जाता है क्योंकि इसमें आचार्य को गौ का दान दिया जाता है। प्रायः यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में किया जाता है। गोभिल और खादिर गृह्यसूत्र में बताया गया है कि यदि ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो, तो आचार्य को दक्षिणा रूप में गाय दी जाती है। यदि ब्रह्मचारी क्षत्रिय हो, तो आचार्य को छः घोड़े और वैश्य ब्रह्मचारी आचार्य को दो भेंड़ दक्षिणा रूप में देना चाहिए।[31] इस संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यदि ऐसा न हो पाये, तब ब्रह्मचारी को कम से कम बारह रात, छः रात अथवा तीन रात तक अवश्य ही ब्रह्मचर्य का पालन चाहिए।[32]

समावर्तन संस्कार- यह संस्कार ब्रह्मचारी समाप्ति का सूचक है। शिक्षा समाप्ति के उपरांत ब्रह्मचारी अपने गृह की ओर प्रस्थान करता है, तब समावर्तन संस्कार किया जाता है।

"तत्र समावर्तन नाम वेदाध्ययनान्तरम्। गुरुकुलात्स्वगृहागमनम्।"[33]

अर्थात् समावर्तन से तात्पर्य है- **'वेदाध्ययन के उपरांत गुरुकुल से अपने गृह वापस लौटना'**। इस संस्कार में ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से मेखला, अजिन, मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्मचारी के समस्त बाह्य चिन्हों को त्यागकर यश, सौभाग्य एवं समृद्धि के लिए सुन्दर वस्त्रों और उष्णीष को, श्रद्धा, मेधा, काम और इन्द्रियों के बल के लिए माला, पुष्प, चन्दन एवं केसरादि सुगन्धित पदार्थों को, आयु और वर्चस बढ़ाने के लिए कानों में सुवर्ण कुण्डल आदि आभूषणों को धारण करता है। चमकने के लिए अंजन को, पाप से बचने के लिए छाते को, रक्षा के लिए जूते को तथा सभी अमंगलकारी शक्तियों से

रक्षा के लिए बांस का दण्ड धारण करता है। इसके बाद वह आचार्य को इच्छित दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से रथ पर सवार होकर अपने घर के लिए प्रस्थान करता है।

विवाह संस्कार- प्राचीन काल से ही समस्त हिन्दू संस्कारों में विवाह संस्कार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अधिकांशतः गृह्यसूत्रों में संस्कारों का प्रारंभ विवाह संस्कार से ही किया गया है क्योंकि विवाह समस्त गृह्ययज्ञों एवं संस्कारों का उद्गम अथवा केंद्र है। वैवाहिक विधि विधानों का आरंभ वाग्दान अर्थात् वर को कन्यादान की मौखिक स्वीकृति से होता है।

"रोहिणी मृगशीर्षमुत्तरेफल्गुनीस्वातीति विवाहस्य नक्षत्राणि"[34]

अर्थात् विवाह संस्कार को रोहिणी, मृगशिरा, उत्तरा-फाल्गुनी तथा स्वाती नक्षत्र में करना चाहिए। आश्वलायन ने बताया है कि विवाह संस्कार किसी भी समय किया जा सकता है। यह संस्कार दिन तथा रात्रि कभी भी किया जा सकता है। विवाह में वधू को सूर्य दर्शन करने की प्रथा यह स्पष्ट करती है कि विवाह संस्कार दिन में किये जाते हैं। कुछ गृह्यसूत्रों में विवाह के अवसर पर वधू को ध्रुव दर्शन करना बताया गया है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि विवाह रात्रि काल में भी आयोजित किये जाते हैं।[35] प्रो०हरिदत्त वेदालंकार ने बताया है कि विवाह, कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम में की जाने वाली विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण संस्कार है, जिसकी अंतिम विधि सप्तर्षि दर्शन है।

अन्त्येष्टि संस्कार- यह संस्कार व्यक्ति के जीवन का अंतिम संस्कार है। जिसे व्यक्ति के मरणोपरांत किया जाता है। वास्तव में यह संस्कार मृत व्यक्ति की आत्मा की शांति के लिए किया जाता है। जन्मोत्तर संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को जीतता है और मरणोपरांत संस्कारों द्वारा परलोक में विजय प्राप्त करता है। अंत्येष्टि क्रिया में एक महत्वपूर्ण भाग सपिण्डों और समानोदकों द्वारा व्यक्ति के लिए उदक क्रिया अथवा जलदान की प्रथा है। आश्वलायन ने जहाँ एक बार जल तर्पण की बात बताई है, वहीं सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र में तिलमिश्रित जल अंजलि द्वारा मृत्यु के दिन मृतक का नाम एवं गोत्र बोलकर तीन बार करना बताया है और यह कार्य प्रतिदिन ग्यारहवें दिन तक करना चाहिए।[36]

"प्रेतास्योदकनिर्वपणं कृत्वैकं पिण्डं कुशेषु दद्युः। यावदाशौचं तावत्प्रेतास्योदकं पिण्डमेकं च दद्युः।"[37]

विष्णु धर्मसूत्र में बताया गया है कि मृतक को जल एवं पिण्ड दस दिनों तक देना चाहिए। अंत्येष्टि कर्म चार स्तरों पर होता है- शवदाह, अस्थि-संचयन, अस्थिपात्र को पृथ्वी के अंदर गाड़ना और शांतिकर्म। यह संस्कार पारिवारिक तथा सामाजिक स्वस्थ्य विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय है, जो जीवित सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करता है।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति में विशेषतः हिन्दू समाज में किये जाने वाले संस्कारों का वर्तमान में भी विशेष महत्व है। यद्यपि वर्तमान परिवेश में इन संस्कारों का पूर्णरूपेण विधि- विधान से पालन नहीं हो रहा है, तथापि बदले हुए स्वरूपों में भी इनका पालन किया जाता है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के

प्रभाव से संस्कारों का स्वरुप अवश्य परिवर्तित हुआ है, किन्तु ये संस्कार अपने आदर्शों, श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों तथा विश्वसनीयता के कारण वर्तमान में उतना ही प्रासङ्गिक हैं, जितने प्राचीन भारतीय संस्कृति में थे। भारतीय संस्कार हमें ये बोध कराते हैं कि जीवन मृत्यु से समाप्त नहीं होता। अतः ये संस्कार चरित्र निर्माण के प्रमुख आधार कहे जा सकते हैं।

सन्दर्भ -

[1] व्यास स्मृति,1/13-15
[2] मनुस्मृति,2/26
[3] आपस्तम्ब गृ०सू०,3/8/10
[4] आपस्तम्ब गृ०सू०,3/9/1
[5] शांखायन गृ०सू०,1/20/1-3
[6] सुश्रुत,सूत्रस्थान,अध्याय,38/39
[7] काठक गृ०सू०,31/1, गोभिल गृ०सू०,2/7/1
[8] शांखायन गृ०सू०,1/24/3-4, मानव गृ०सू०,17/4
[9] शांखायन गृ०सू०,1/24/2
[10] पारस्कर गृ०सू०,1/17/1, शांखायन गृ०सू०,1/25/1
[11] पारस्कर गृ०सू०,1/17/2
[12] पारस्कर गृ०सू०,1/17/3
[13] विष्णु धर्मसूत्र,27/5
[14] पारस्कर गृ०सू०,1/17/5
[15] खादिर गृ०सू०,2/3/1
[16] पारस्कर गृ०सू०,1/17/6, मानव गृ०सू०,1/19/1, विष्णु ध०सू०,27/10
[17] गोभिल गृ०सू०,2/8/1-7
[18] सुश्रुत,शरीरस्थान,10/49
[19] वीरमित्रोदय,भाग 1,पृ०267
[20] आपस्तम्ब गृ०सू०,6/16/3
[21] शांखायन गृ०सू०,1/28/1-4
[22] सुश्रुत सं०,चि०स्थान,24/72
[23] बौधायन गृ०सू०,1/12/1, कौषीतकि गृ०सू०,1/20/1
[24] वीरमित्रोदय,भाग 1, पृ०258
[25] वीरमित्रोदय,भाग 1, पृ०262
[26] वीरमित्रोदय,भाग 1, पृ०321
[27] आश्वलायन गृ०सू०,1/19/1, शांखायन गृ०सू०,2/1/1
[28] काठक गृ०सू०,41/1-3
[29] एस०के०दास,दि एजुकेशन सिस्टम ऑफ दि एन्शिएण्ट हिन्दुज,पृ०72
[30] वीरमित्रोदय,भाग 1, पृ०408
[31] गोभिल गृ०सू०,3/1/5-8,खादिर गृ०सू०,2/5/3-4
[32] पारस्कर गृ०सू०,2/1/23-24
[33] वीरमित्रोदय,भाग 1, पृ०572
[34] बौधायन गृ०सू०,1/1/20
[35] आश्वलायन गृ०सू०,1/7/22, पारस्कर गृ०सू०,1/8/19
[36] सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र,28/2/72
[37] विष्णु धर्मसूत्र,19/7/13

आदर्श व्यक्तित्त्व निर्माण के सन्दर्भ में कुसुमदेवकृत दृष्टान्तशतकम् काव्य की अवधारणा

• चन्दन यादव

शोधसार- व्यक्तित्व का संबंध उन विशेषताओं से है, जो उसके आचरण व व्यवहार को प्रभावित करते हैं। समय के साथ व्यवहार में स्थिरता को किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने का साधन कह सकते हैं। विभिन्न साहित्यकारों, लेखकों, दार्शनिकों ने व्यक्तित्त्व निर्माण करने के लिए अपने आचरण और लेखनी के माध्यम से समाज को जागृत करने का प्रयास किया है चाहे वह आचार्य चाणक्य रहें हो या कवि व नाटककार भास, कालिदास या शतकत्रय के कर्ता आचार्य भर्तृहरि आदि। इसी श्रृंखला में चौदहवीं शती में एक कवि हुए आचार्य कुसुमदेव जिन्होनें अपने काव्य दृष्टान्तशतकम् में समाज को जागृत करने के लिए विभिन्न सामाजिक विषयों को रेखांकित किया है जो व्यक्ति के व्यक्तित्त्व निर्माण के लिए लाभकारी है। छोटे से छन्द अनुष्टुप में सूक्तियों के माध्यम से जो दृष्टान्त प्रस्तुत कियें हैं, उससे युवा वर्ग को ही नहीं, सामाजिक सहृदय को भी नवीन दृष्टिकोण की प्राप्ति होगी। जिस प्रकार एक यौगिक (Compound) के निर्माण में विभिन्न तत्वों की आवश्यकता होती है,उसी प्रकार एक अच्छे व्यक्तित्त्व के निर्माण में भी विभिन्न गुणों की आवश्यकता होती है।आचार्य कुसुमदेव ने अपने दृष्टान्तशतकम् काव्य में उन गुणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। जिसके उल्लेखनीय सन्दर्भ प्रकृत शोधालेख में दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

बीज शब्द – सांस्कृतिक विरासत, दृष्टान्तशतकम् , किंकर्त्तव्यविमूढ़, व्यक्तित्त्व निर्माण, तृष्णा, सज्जनता – दुर्जनता आदि।

प्रस्तावना - व्यक्तित्त्व केवल व्यक्ति के बाह्य स्वरूप द्वारा ही परिलक्षित नहीं होता है, अपितु उसके आन्तरिक गुणों यथा- आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति,चरित्र, रुचि,लगन व एकाग्रता आदि से भी स्पष्ट होता है। आचार्य कुसुमदेव ने अपने दृष्टान्तशतकम् काव्य के माध्यम से एक आदर्श व कुशल व्यक्तित्व निर्माण के लिए महनीय प्रयास किया है। विभिन्न सुभाषित पद्यों द्वारा एक मानव को कुशल व्यक्तित्त्व

* शोधार्थी, जे.एस. हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमरोहा

वाला नागरिक व सामाजिक सहृदय बनाने का यथासम्भव सफल प्रयास किया है। हमारे देश भारत की विविधता में एकता की सांस्कृतिक विरासत रही है। जिसने विविध संस्कृतियों को एकता के सूत्र में पिरोये रखा है तथा **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को पुष्ट किया है। जिसमें सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानने की परम्परा रही है –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।[1]

वर्तमान समय में हमारे देश की लगभग 70 प्रतिशत आबादी का प्रतिनिधित्व युवा कर रहें हैं। इसलिए इनकी जिम्मेदारियाँ भी बड़ी हैं। इन जिम्मेदारियों का कुशलता पूर्वक निर्वाह करने के लिए चरित्रवान युवाओं की महती आवश्यकता है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि चरित्र की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए धन तो आता है और चला जाता है, धन से हीन व्यक्ति हीनता की श्रेणी में नहीं आता है जबकि चरित्र से हीन व्यक्ति मरे हुए के समान होता है -

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च। अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।।[2]

चरित्र की रक्षा के लिए प्रसिद्ध आंग्ल उक्ति है -

when wealth is lost, nothing is lost,
when health is lost, something is lost,
when character is lost, all is lost"[3]

विषय प्रतिपादन - इस भौतिकतावादी युग में मनुष्यों को अपने-अपने निर्धारित जीवन लक्ष्यों की प्राप्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब वह धैर्य पूर्वक कठिन परिश्रम करें, न केवल कठिन परिश्रम, अपितु सही दिशा में परिश्रम करे। मनुष्य जीवन अत्यन्त संघर्षमय है, जिसमें विभिन्न प्रकार के उतार-चढाव आते हैं । कहीं दुःख के कंटक हैं तो कहीं सुख के पुष्प भी हैं। यदि मनुष्य अपने जीवन में धैर्य का आलम्बन कर ले तो वह विषम से विषम परिस्थितियों का भी सहजता पूर्वक सामना कर सकता है तथा अपनी जीवन यात्रा का सरलता व कुशलता पूर्वक निर्वाह करते हुए समाज में एक आदर्श व्यक्तित्त्व के रूप में परिलक्षित हो कर सामाजिकों के लिए एक प्रतिमान स्थापित कर सकता है। वर्तमान के सोशल मीडिया के दौर में रील्स की जो परम्परा चल पड़ी है वो युवाओं के अन्दर धैर्य की भावना का ह्रास कर रही है। दो मिनट की मैगी की तरह युवा दो मिनट में सफल होना चाह रहे हैं । धैर्यपूर्वक श्रम तो करना ही नहीं चाह रहे हैं। इस विषय में आचार्य कुसुमदेव एक दृष्टान्त के माध्यम से लिखते हैं-

उत्तमः क्लेशविक्षेमं क्षमः सोढुं न हीतरः। मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः।।[4]

अर्थात् धैर्यशील युवा ही आपत्तियों को सहने में समर्थ हैं,कायर नहीं। जिस प्रकार हीरा ही शान के संघर्षण को सह सकता है मिट्टी के कण नहीं। इसी प्रकार से विभिन्न पद्यों के माध्यम से कवि ने व्यक्ति के व्यक्तित्त्व निर्माण की भावना लिए धैर्य की महत्ता का वर्णन किया है। व्यक्तित्त्व निर्माण के लिए शीलता का गुण होना भी परम आवश्यक है। शीलता के गुण से संपन्न व्यक्ति शांति व संतोष से युक्त

होता है तथा अन्य सामाजिकों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बनता है और विभिन्न सम्माननीय संगोष्ठी तथा सम्मेलनों में आदर व सम्मान का पात्र भी होता है। वहीं शील रहित व्यक्ति न तो आदर व सम्मान का पात्र होता है और न ही समाज में विश्वसनीय । आचार्य कुसुमदेव ने अपने काव्य के माध्यम से मनुष्य के अन्दर शीलता के गुण को विकसित करने का प्रयास किया है जिससे एक कुशल व्यक्तित्त्व सम्पन्न सहृदय सामाजिक का निर्माण किया जा सके। शीलता की भावना विकसित कर मनुष्यों को विसंगतियों में जाने से रोक कर एक आदर्श मानव का निर्माण किया जा सकता है। शीलता की महत्ता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है -

सति शीले गुणा भान्ति पुंसां शौर्यादयो यथा। यौवने सदलंकाराः शोभां विभ्रति सुभ्रवः।।[5]

अर्थात् जिस प्रकार यौवनकाल में ही आभूषण, अलंकार आदि स्त्रियों के सौन्दर्यवर्धक होते हैं। उसी प्रकार शील की समुपस्थिति में ही मनुष्यों के शौर्यादिगुण प्रकाशित होते हैं, जो कि व्यक्तित्त्व के निर्माण में आवश्यक होते हैं। शीलता के महत्व के कारण ही हमारे देश की सर्वोच्च प्रशासनिक सेवा आई.ए.एस. के प्रशिक्षण संस्थान लावसना का ध्येय वाक्य ही है - ***शीलं परं भूषणम्***[6] / इसी प्रकार की उक्ति मनुस्मृति में भी प्राप्त होती है -

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन :। चत्वारितस्यवर्धन्तेआयुर्विद्यायशोबलम्॥[7]

जो माता-पिता, गुरु तथा वयोवृद्ध एवं तपोवृद्ध की सेवा तथा उनको अभिवादन करते हैं, उनकी आयु, विद्या, यश और बल में अभिवृद्धि होती है। अभिवादनशील होना तथा सेवा की भावना जागृत होना मानव के सुचरित्र का दिग्दर्शन कराती है । कुशल व्यक्तित्त्व के निर्माण के लिए गुणों का विकसित होना भी परम आवश्यक है। अच्छे गुण, कर्म व स्वभाव वाला व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर पूजनीय होता है। गुणों की महत्ता द्वारा मानव स्वभाव में विभिन्नता देखने को मिलती है। कोई व्यक्ति यदि तपोगुण में श्रेष्ठ है, भले ही वह आयु में किसी से छोटा है तो वह अधिक सम्मान व आदर के योग्य है। आचार्य भवभूति जी कहते हैं – ***गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः***/[8] अर्थात् गुणियों में गुण ही पूजनीय है लिङ्ग व आयु इत्यादि नहीं। एक गुणवान मनुष्य ही एक अच्छे आचरण का स्वरूप प्रस्तुत करता है, जिससे समाज में एक सकारात्मक वातावरण का निर्माण होता है।

गुणेन स्पृहणीयः स्यान्न रूपेण युतो नरः। सौगन्ध्यहीनं नादेयं पुष्पं कान्तमपि क्वचित् ।।[9]

अर्थात् जिस प्रकार सुगन्ध विहीन पुष्प देखने में सुन्दर होने पर भी शोभा को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार गुणों से रहित युवक भी रूपवान होने पर भी शोभाशाली नहीं होता है। अच्छे कुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई मनुष्य पूजनीय नहीं हो जाता है। पूजनीय होने के लिए गुणों का होना आवश्यक है -

गुणैः पूजाभवेत्पुंसां नेकस्माज्जायते कुलात् ।।[10]

आचार्य कुसुमदेव ने जाति और पद की अपेक्षा गुणों की महत्ता का वर्णन किया है। व्यक्तित्त्व निर्माण में सज्जनता एवं सत्संगति का भी बहुत ही महत्व है। सज्जनशील मानव के सभी वशीभूत हो जाते हैं।

सज्जनता से परिपूर्ण मनुष्य समाज के लिए आदर्श होता है। समाज में जिस प्रकार से हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, क्रोध इत्यादि दुर्भावनाओं की प्रवृत्ति बढ रही है यदि ऐसा ही होता रहा तो वो दिन दूर नहीं कि मानव ही मानव का भक्षक हो जायेगा। वर्तमान में भौतिकता एवं विलासिता के दौर में सज्जनता की प्रासंगिकता और भी बढ जाती है। आचार्य कुसुमदेव ने दृष्टान्त के माध्यम से सज्जनशील मनुष्य के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया है -

स्वभावं नैव मुञ्चन्ति सन्तः संसर्गतोऽसतां । न त्यजन्ति रुतं मञ्जु काकसंपर्कतः पिकाः।।[11]

अर्थात् असज्जनों के संसर्ग से सज्जन अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। कहीं कौओं के साथ रह कर कोयलें अपना मधुर स्वर भूल जाती हैं भला। इस प्रकार अनेक पद्यों के माध्यम से कवि ने सज्जनशीलता व उसके प्रभावों का वर्णन किया है। इसके विपरीत आचार्य भर्तृहरि सत्संगति के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्।[12]

अर्थात् अच्छे मित्रों का साथ बुद्धि की जड़ता को हर लेता है, वाणी में सत्य का संचार करता है, मान और उन्नति को बढ़ाता है तथा पाप से मुक्त करता है। चित्त को प्रसन्न करता है एवं हमारी कीर्ति को सभी दिशाओं में फैलाता है। सत्संगति मनुष्यों का कौन सा भला नहीं करती अर्थात् सभी प्रकार से भला करती है। सज्जनों को सज्जनों का साथ मिलना भी बहुत दुर्लभ है। साहित्य में इसे विभिन्न पुण्यों का फल बताया गया है- **सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति ।**[13] कवि ने सत्संगति के माध्यम से एक आदर्श व्यक्तित्त्व निर्माण की जो परिकल्पना प्रस्तुत की है, वह अद्वितीय है। जिसके द्वारा समाज में एक नई दिशा का संचार होगा जो कि मानव व मानवता के लिए लाभकारी व महत्त्वपूर्ण होगा। व्यक्तित्त्व निर्माण में उद्यमशीलता का भी महत्त्व है। कवि ने अनेक पद्यों के माध्यम से व्यक्ति की कर्त्तव्यनिष्ठा का बोध कराने का प्रयास किया है। उद्यमी मनुष्य के लिए कठिन से कठिन कार्य भी सहज व सरल हो जाता है। मनुष्य को जीवन के कुछ लक्ष्य निर्धारित कर परिश्रम पूर्वक उसे प्राप्त करने का सतत प्रयास करना चाहिए। मार्ग में प्राप्त अवरोधों से बिना विचलित हुए निरन्तर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होना चाहिए। बिना उद्यम के तो जीवन निर्वाह ही सम्भव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को उद्यमी होना चाहिए जिससे वो अपने जीवन व समाज के निर्धारित लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त कर सके तथा समाज में एक अनुकरणीय व्यक्तित्त्व बन कर उभरे। उद्यमशीलता के महत्व को उजागर करते हुए आचार्य कुसुमदेव ने लिखा है -

न लभन्ते विनोद्योगं जन्तवः संपदां पदम् । सुरः क्षीरोदविक्षोभमनुभूयामृतं पपुः।।[14]

अर्थात् विना उद्योग के प्राणियों को सम्पत्ति नहीं मिलती। देवों ने क्षीर सागर के मथने का परिश्रम सहकर ही तो अमृत का पान किया था। अर्थात् उद्योग करने से ही कार्य सिद्ध हो सकते हैं केवल मनोरथों से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में हिरण स्वयं ही प्रविष्ट नहीं होते हैं -

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।[15]

अपने कर्त्तव्यों को कुशलता पूर्वक करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में एक अनिर्वचनीय गुणों व योग्यताओं का विकास व विस्तार होता है। अपने कर्त्तव्यों को करते हुए यदि उसमें अनासक्ति का भाव जागृत हो जाय तो मानव का व्यक्तित्व और द्विगुणित हो जाता है । गीता में श्रीकृष्ण जी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।[16]

समीक्ष्य कवि ने एक आदर्श व्यक्तित्त्व के निर्माण के लिए व्यक्ति को क्षणभंगुर एवं बाधाओं से युक्त भोगों के प्रति अनासक्त रहने की प्रेरणा दी। भोगों में लिप्सा व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को पतन की गर्त में ले जाती है तथा मानवीय मूल्यों का ह्रास भी करती है। इनमें आसक्ति मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है। मनुष्य सही-गलत के निर्णय के समय द्वन्द्व में पड़ जाता है, जिससे सही निर्णय नहीं कर पाता है और अपने निर्धारित लक्ष्यों से भटक कर विचलित हो जाता है।

क्षणक्षयिणि सापाये भोगे रज्ञन्ति नोत्तमाः। संत्यज्याम्भोजकिञ्जल्कं हंसाः प्रश्नन्ति शैवलम् ॥[17]

अर्थात् उत्तम व्यक्ति क्षणभंगुर तथा विघ्नबहुल भोगों में अनुरक्त नहीं होतें जैसे हंस कमलकिञ्जल्क को छोड़कर सिवार का ही आस्वादन करते हैं। कुछ क्षण के लिए इनमें आसक्ति मनुष्य को उत्साहित कर सकती है लेकिन उसकी परिणति अत्यन्त कष्टकारी ही होती है। तृष्णा के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि नें कितना मार्मिक सुभाषित प्रस्तुत किया है-

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥[18]

कवि व्यक्ति के व्यक्तित्त्व निर्माण के लिए धन की आसक्ति का त्याग करने की भावना को भी बल देते हैं।

धनाशया खलीकारः कस्य नाम न जायते । दूरादामिष - लोभेन बध्यते खेचरः खगः।।[19]

अर्थात् धन की आशा किसमें दुर्जनता की सृष्टि नहीं करती। सुदूर गगनचारी विहंगम केवल मांस के लोभ के कारण ही मारा जाता है। वित्त में आसक्ति होने से मानव के अन्दर विभिन्न प्रकार के दुर्गुण स्थान निर्मित कर लेते हैं जो न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को पतित करते हैं बल्कि सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि - **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो**[20] अर्थात् मानव वित्त से कभी भी तृप्त नहीं हो सकता है अतः उसमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवरण के आधार पर कह सकते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्त्व निर्माण के लिए धैर्य शीलता, गुण ग्राहकता, सज्जनता व उद्यमशीलता के साथ- साथ एक आदर्श आचरण की महती आवश्यकता है। जिसके पदचिन्हों पर चलकर वर्तमान के युवा सद् आचरण की उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकें तथा परिवार, समाज और देश के लिए एक आदर्श स्वरूप की स्थापना कर सकें। साथ ही कवि

ने मनुष्य को विभिन्न प्रकार के भोगों तथा धन के लोभ के प्रति अनासक्ति की भावना को उद्घाटित करने प्रयास किया है, जिससे न केवल कोई एक देश न समाज अपितु सम्पूर्ण विश्व लाभान्वित हो सकता है। समय – समय पर हमारे देश में ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिनको पढने, जानने उनके आचरण को आत्मसात् करने की आवश्यकता है। क्योंकि विभिन्न विद्वानों ने ग्रन्थों एवं अपने वक्तव्यों के माध्यम से समाज को जागृत करने का जो प्रयास किया है, वह निरर्थक ही हो जायेगा यदि उसे समाज द्वारा आचरण में न उतारा जाये तथा भावी पीढ़ी द्वारा उसे आत्मसात् न किया जाये।इसी कड़ी में आचार्य कुसुमदेव नें भी अपने दृष्टान्तशतकम् काव्य के माध्यम से युवाओ और सहृदय सामाजिकों को जागृत करने का अनुकरणीय प्रयास किया है। उनका कान्तासम्मित शैली में दिया गया उपदेश सहृदय पाठकों को अत्यन्त उपादेय है।

सन्दर्भ -

---

[1] विष्णु शर्मा – पञ्चतन्त्र, अपरिक्षित कारक पद्य – 38, श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, चतुर्थ - संस्करण, 1892 ई. ।

[2] मनुस्मृति - द्वितीय अध्याय, पद्य – 18, कुल्लुकभट्ट-मन्वर्थमुक्तावली, मुम्बई, 1946 ई. ।

[3] Billy Graham – The Secret of happiness, Thomas Nelson, 2011 AD, books.google.com

[4] कुसुमदेवकृत् दृष्टान्तशतकम् पद्य- 10, दृष्टान्तकलिकाशतकम् एक समीक्षात्मक अनुशीलन - डॉ० कृष्णा शर्मा, अनिल प्रकाशन 7 - बी.आर०एफ० बहादुर जी मार्ग, लखनऊ, 1992 ई. ।

[5] तदेव पद्य - 14

[6] आचार्य भर्तृहरि- नीतिशतकम्, पद्य- 81,तारणीश झा, रामनारायण लाल विजयकुमार प्रकाशन, इलाहाबाद 2022 ई.।

[7] मनुस्मृति- द्वितीय अध्याय,पद्य -121

[8] उत्तररामचरितम् – भवभूति, चतुर्थ अंक,पद्य – 11,डॉ.रमाकांत त्रिपाठी, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016 ई.

[9] कुसुमदेवकृत् दृष्टान्तशतकम्, पद्य - 16

[10] तदेव पद्य - 72

[11] तदेव पद्य - 28

[12] आचार्य भर्तृहरि – नीतिशतकम्, पद्य - 20

[13] उत्तररामचरितम् द्वितीय अंक, पद्य - 1

[14] कुसुमदेवकृत् दृष्टान्तशतकम्, पद्य - 36

[15]पंचतंत्र – मित्रसंप्राप्ति, पद्य - 177

[16] श्रीमद्भगवतगीता, द्वितीय अध्याय,पद्य -47,समर्पणभाष्य-स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती, दिल्ली संस्कृत अकादमी, नई दिल्ली, 2013 ई.।

[17] कुसुमदेवकृत् दृष्टान्तशतकम्, पद्य - 59

[18] आचार्य भर्तृहरि – वैराग्यशतकम्,पद्य - 8,काव्यसंग्रह – पंडित जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1872 ई.

[19] कुसुमदेवकृत् दृष्टान्तशतकम्, पद्य - 61

[20] कृष्णयजुर्वेद कठोपनिषद्, प्रथमोध्याय, प्रथम वल्ली, मंत्र – 27, डॉ. आद्य्याप्रसाद मिश्र, अक्षय वट प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013 ई.।

विपश्यना ध्यान और मानव का मानसिक तनाव

• देवेन्द्र पाल सिंह

शोधसार - विपश्यना ध्यान हमें तथागत बुद्ध ने दिया था, जो लगभग 2500 साल पहले का माना जाता है। पाली भाषा में उपलब्ध साहित्य के अनुसार तथागत बुद्ध ने इस प्राचीन विधि को बर्मी भिक्षुओं से भारत में पुनः लाया गया, जो इस विधि का अभ्यास करते थे। भारत में इसे एस. एन. गोयनका ने लोकप्रिय बनाया, जिन्होंने बर्मा में अपने बर्मी शिक्षक सयागी उ बा किन से यह विधि सीखी थी। बाद में एस. एन. गोयनका 1969 में भारत लौट आए और दूसरों की मदद से सभी को विपश्यना सिखाने के लिए भारत और भारत के बाहर विशाल केंद्र स्थापित किए। संक्षेप में इस विधि को अक्सर कुछ ऐसा समझा जाता है जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने की दिशा में एक मार्ग है। हालाँकि, पाली साहित्य (जिसका अब अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया है) के अनुसार, जब हम विपश्यना का अभ्यास करते हैं, तो हम निरंतर ध्यान अभ्यास के दोरान अपने आप में कई बदलाव देखते हैं। ऐसा ही एक सकारात्मक उप-उत्पाद बाहरी स्थितियों या उत्तेजनाओं के प्रति मन को समता प्राप्त करना है। मन की यह समता, जो विकसित होने पर, कई ज्ञात और मौजूदा मनोदैहिक बीमारियों के लक्षणों को कम करने में सहायक होगी।

बीजशब्द - विपश्यना, तनाव , हाई ब्लड प्रेशर, हाइपरटेंशन, मनोदैहिक, सिस्टोलिक दबाव।

मानसिक तनाव (हाइपरटेंशन)

मानसिक तनाव या हाई ब्लड प्रेशर (HBP) को आम तौर पर एक ऐसी स्थिति के रूप में समझा जाता है जिसमें धमनी की दीवारों पर लंबे समय तक रक्त का दबाव अधिक होता है। यह स्थिति अंततः स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बन सकती है, जैसे हृदय रोग। मनुष्यों में रक्तचाप आपके हृदय द्वारा पम्प किए जाने वाले रक्त की मात्रा और आपकी धमनियों में रक्त प्रवाह के प्रतिरोध की मात्रा दोनों से निर्धारित होता है। आपका हृदय जितना अधिक रक्त पम्प करता है और आपकी धमनियां जितनी संकरी होती हैं, आपका रक्तचाप उतना ही अधिक होता है। रक्तचाप की रीडिंग मिलीमीटर पारे (mm Hg) में दी जाती है। इसमें दो संख्याएँ होती हैं, सबसे ऊपर वाली या ऊपरी संख्या (सिस्टोलिक दबाव),

* शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आपके दिल के धड़कने के समय आपकी धमनियों में दबाव को मापती है और नीचे वाली या दूसरी संख्या (डायस्टोलिक दबाव) धड़कनों के बीच आपकी धमनियों में दबाव को मापती है। तनाव का निदान तब किया जाता है, जब इसे दो अलग-अलग दिनों में मापा जाता है, दोनों दिनों में सिस्टोलिक रक्तचाप रीडिंग ≥140 mmHg और/या दोनों दिनों में डायस्टोलिक रक्तचाप रीडिंग ≥90 mmHg होती है (WHO, 2021) तनाव को "साइलेंट किलर" कहा जाता है। तनाव वाले अधिकांश लोग इस समस्या से अनजान हैं क्योंकि इसमें कोई चेतावनी संकेत या लक्षण नहीं हो सकते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक अनुमान के अनुसार, यह एक गंभीर चिकित्सा स्थिति है जो हृदय, मस्तिष्क, गुर्दे और अन्य बीमारियों के जोखिम को काफी हद तक बढ़ा देती है। दुनिया भर में 30-79 वर्ष की आयु के अनुमानित 1.28 बिलियन वयस्कों को तनाव है, जिनमें से अधिकांश (दो-तिहाई) निम्न और मध्यम आय वाले देशों में रहते हैं। हालांकि, तनाव वाले अनुमानित 46% वयस्क इस बात से अनजान हैं कि उन्हें यह स्थिति है। तनाव से दुनिया भर में समय से पहले मौत का एक प्रमुख कारण है। (WHO, 2021) ।[1]

तनाव की जटिलताएँ

अन्य जटिलताओं के अलावा, तनाव हृदय को गंभीर नुकसान पहुँचा सकता है। अत्यधिक दबाव धमनियों को सख्त कर सकता है, जिससे हृदय में रक्त और ऑक्सीजन का प्रवाह कम हो सकता है। यह बढ़ा हुआ दबाव और कम रक्त प्रवाह सीने में दर्द या दिल का दौरा या दिल की विफलता या अनियमित दिल की धड़कन पैदा कर सकता है जिससे अचानक मृत्यु हो सकती है। तनाव मस्तिष्क को रक्त और ऑक्सीजन की आपूर्ति करने वाली धमनियों को फट या अवरुद्ध भी कर सकता है। इसके अलावा, तनाव गुर्दे को नुकसान पहुँचा सकता है, जिससे गुर्दे की विफलता हो सकती है। (मेयो क्लीनिक, 2020) । जैसा कि साहित्य में कहा गया है कि तनाव का कोई स्थायी इलाज नहीं है, लेकिन प्रबंधन संभव है।

फार्माकोथेरेपी तनाव के रोगियों की मदद करने के लिए जानी जाती है, लेकिन इसके अपने दुष्प्रभाव भी हैं। इसलिए विशेषज्ञ हमेशा फार्माकोथेरेपी के अधिकतम लाभ के लिए जीवन शैली, आहार आदि में बदलाव की वकालत करते हैं। हालाँकि, कोई स्थायी इलाज दर्ज नहीं किया गया है। यहाँ पर विपश्यना की बात आती है।

विपश्यना क्या है

'विपश्यना' व्यक्ति के भीतर अनुभवात्मक स्तर पर शांति और सद्भाव प्राप्त करने की एक अनूठी तकनीक है। भारत के महान ऋषि तथागत बुद्ध ने अपने गहन ध्यान के माध्यम से इस विधि की खोज की - या यूँ कहें कि पुनः खोज की। इस विधि के माध्यम से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे मन की सभी अशुद्धियों से मुक्त हो गए। फिर उन्होंने बड़ी करुणा और प्रेम के साथ इसे पीड़ित मानव जाति में

वितरित किया। उन्होंने कोई "वाद" या "पंथ" स्थापित नहीं किया। उन्होंने विपश्यना सिखाई - मन को राग और द्वेष की नकारात्मकताओं से शुद्ध करने का एक तरीका। यह अंधविश्वास पर आधारित कोई अनुष्ठान या कर्मकांड नहीं है। इसमें किसी देवता, देवी या किसी अन्य वस्तु का दर्शन या किसी मंत्र या "जप" का उच्चारण नहीं किया जाता। न ही यह बौद्धिक या दार्शनिक मनोरंजन है।
'विपश्यना' शब्द पस्सना (देखना, निरीक्षण करना) और वि (विशेष तरीके से) से बना है। इसका अर्थ है "खुद को एक खास तरीके से देखना"। यह एक ऐसी विधि है जो मन को शुद्ध करती है, क्रोध, घृणा, लालच, स्वार्थ आदि की नकारात्मकताओं को आत्म-अवलोकन और आत्मनिरीक्षण द्वारा दूर करती है। यह अंतर्दृष्टि ध्यान है। यह चीजों को वैसी ही देखना है जैसी वे हैं, न कि रंगीन चश्मे से। यह मन की गहरी आदत-पैटर्न को बदलने का एक प्रयास है जो लालसा और घृणा की निरंतर अंधी प्रतिक्रियाओं में रहता है।[2]

विपश्यना विधि

विपश्यना दस दिवसीय आवासीय पाठ्यक्रम में सिखाई जाती है। यह पाठ्यक्रम बहुत कठिन है, जिसमें छात्र को आर्य मौन का पालन करना और अनुशासन के सख्त नियमों का पालन करना होता है। दैनिक कार्यक्रम में, नियमित अंतराल के साथ औसतन दस घंटे ध्यान की आवश्यकता होती है। पूरे दिन में समय-समय पर निर्देश दिए जाते हैं, और हर शाम शिक्षक एस.एन. गोयनका द्वारा एक वीडियो टेप प्रवचन होता है जो दिन के अभ्यास को समझाता और स्पष्ट करता है। विपश्यना पाठ्यक्रम में दिए जाने वाले प्रशिक्षण के तीन चरण हैं। पहला नैतिकता के पाँच बुनियादी उपदेशों का पालन है, जिसका व्यवहार में अर्थ है हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, यौन दुराचार और शराब और अन्य नशीले पदार्थों के सेवन से परहेज़ करना। संक्षेप में, इन उपदेशों का पालन करने का अर्थ है सही कार्य, सही भाषण और सही आजीविका। जब भी कोई इनका उल्लंघन करता है, तो उसके मन में अशुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। ये अशुद्धियाँ तनाव और दबाव का मूल कारण हैं जिनसे मुक्ति पाने की कोशिश की जाती है। जब आप विपश्यना का अभ्यास करना शुरू करते हैं, तो आप अन्दर से समझते हैं कि जब भी आप इनमें से किसी भी नियम को तोड़ते हैं, तो आप दूसरों को नुकसान पहुँचाने से पहले खुद को नुकसान पहुँचाना शुरू कर देते हैं। जब आप क्रोध उत्पन्न करते हैं, तो आप संभवतः शांति और सद्भाव का अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि आप बहुत उत्तेजित, बहुत दुखी महसूस करते हैं। यह प्रकृति का नियम है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है। (डस्टर, 1968)[3] अगला कदम प्राकृतिक और सामान्य सांस (प्राणायाम की तरह नियंत्रित और विनियमित सांस नहीं) पर ध्यान केंद्रित करके अपने अनियंत्रित मन पर कुछ महारत हासिल करना है। इसे आनापान-सती कहा जाता है, जिसका अर्थ है "श्वसन के प्रति जागरूकता" कोई मौखिकीकरण या दृश्य नहीं है, केवल प्राकृतिक और सामान्य सांस का अवलोकन है।[4]

'सति' और 'सतिपट्ठान'

संवेदनाओ की संपूर्ण जानकारी के लिए चारों आर्य सत्यों का वास्तविक बोध होता है। महासतिपट्ठानसुत्त में चार प्रकार की विपश्यना का उल्लेख किया गया है- **कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धम्मानुपश्यना।** वहां पर भले ही इन चारों की व्याख्या पृथक-पृथक की गई है परंतु साधना करते समय वे सब एक दूसरे की पूरक बन जाती हैं। सतिपट्ठान से अपने बारे में जो सच्चाई है उसका बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रत्यक्ष भान होने लगता है।[5] यह एकाग्रता मन को तेज करने में मदद करती है। इससे साधक को विपश्यना का अगला चरण अपनाने में सहायता मिलती है, जहाँ उसे मन और पदार्थ की निरंतर और सतत अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप पूरे शरीर में हर क्षण प्रकट होने वाली संवेदनाओं का निरीक्षण करना होता है (हार्ट, 1987)।[6] हमारा मन बाहरी दुनिया में होने वाली सुखद और अप्रिय घटनाओं पर लगातार प्रतिक्रिया करता रहता है। लेकिन विपश्यना के माध्यम से मन की गहन जांच से पता चलता है कि जब हम प्रतिक्रिया करते हैं, तो हम वास्तव में बाहरी दुनिया या अपने विचारों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली शारीरिक संवेदनाओं पर प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं। जब कोई विचार उठता है, तो वह शरीर पर एक संवेदना के रूप में प्रकट होता है- सुखद या अप्रिय और व्यक्ति उसे पसन्द या नापसन्द करने लगता है। यह प्रकृति का नियम है। जल्द ही वे पसन्द और नापसन्द एकजुट होकर लालसा और घृणा की नकारात्मकता में विकसित होने लगते हैं। व्यक्ति अचेतन मन में गहरी गांठें बांधना शुरू कर देता है। हम संवेदनाओं पर लगातार प्रतिक्रिया करके अपने लिए दुख पैदा करते हैं।

एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया[7]

इस विधि में हम मन को सभी संवेदनाओं को अनासक्ति और समभाव से देखने के लिए प्रशिक्षित करते हैं - अर्थात्, सुखद संवेदनाओं के लिए लालसा या अप्रिय या दर्दनाक संवेदनाओं के प्रति घृणा विकसित किए बिना। जैसे-जैसे कोई इस मार्ग पर आगे बढ़ता है, उसे अनुभव होता है कि सभी संवेदनाएं, चाहे सुखद हो या अप्रिय, लगातार बदल रही हैं। वे अनित्य, (अनिच्चा) और सारहीन (अनत्ता) हैं - बिना किसी पदार्थ के। यह ब्रह्मांड में मौजूद हर चीज की अंतर्निहित प्रकृति है, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव। व्यक्ति केवल किताबी ज्ञान से नहीं, बल्कि अनुभव से समझना शुरू करता है (हार्ट, 1987) जब कोई सुखद या अप्रिय विभिन्न संवेदनाओं के प्रति गैर-प्रतिक्रियात्मक रूप से जागरूक होना शुरू करता है, तो मन का पूरा द्रव्यमान धीरे-धीरे सचेत और जागरूक हो जाता है मानसिक शुद्धि-सफाई, विकृति-मूल स्तर पर प्रहार करती है, अर्थात् अचेतन मन पर, जहाँ हमारी गहरी जड़ें जमाए हुए विकार सुप्त ज्वालामुखियों की तरह जमा होते हैं, जो फूटने पर हमें बहुत दुख पहुँचाते हैं। इसलिए, "विपश्यना" आत्म-अवलोकन और आत्मनिरीक्षण के माध्यम से आत्म-शुद्धि की एक प्रक्रिया है। यह गैर-मौखिक, स्व-प्रशासित "मनोविश्लेषण" की एक तकनीक है, जिसमें यह तनाव मुक्ति की प्रक्रिया को गति प्रदान

करती है। एक व्यक्ति अपने मन पर काम करने और उसे साक्षी के रूप में देखने में सक्षम होता है। (क्लिफोर्ड, 1969; पेले, 1979)[8,9]

यद्यपि तनाव के प्रबंधन में विपश्यना ध्यान की भूमिका को दर्शाने वाला वर्तमान में बहुत अधिक प्रकाशित साहित्य उपलब्ध नहीं है, लेकिन तकनीक की शुद्ध प्रकृति को देखते हुए ऐसा लगता है कि यह इस स्थिति से निपटने में सक्षम है। जैसा कि एस. एन. गोयनका ने बताया, मन की शुद्धि के अलावा, जो कि विपश्यना विधि का प्राथमिक लक्ष्य है, व्यक्ति शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी लाभ का अनुभव कर सकता है। जैसा कि हम जानते हैं कि तनाव, सिरदर्द, अल्सर, एसिडिटी आदि जैसी कई सामान्य बीमारियाँ अक्सर मनोदैहिक होती हैं। विपश्यना की शुद्धि प्रक्रिया के उप-उत्पाद के रूप में ये अपने आप ठीक हो जाती हैं। एस. एन. गोयनका जी के शिक्षक, सयाजी यू बा खिन ने आई.एम.सी रंगून में अपने शोध कार्य में देखा कि बहुत बीमारियाँ, प्रगतिशील, अपंग, अपक्षयी स्थितियाँ या लाइलाज बीमारियाँ विपश्यना के अभ्यास से ये बीमारियाँ ठीक हो गई हैं। यह उनकी पुस्तिका "विपश्यना ध्यान के वास्तविक मूल्य" (सिल्कवर्थ, 1955)[10] में अच्छी तरह से प्रलेखित है। मन और पदार्थ का यह अंतर्संबंध "विपश्यना" ध्यान की कुंजी है, और यह तथागत बुद्ध की शिक्षाओं में महत्वपूर्ण महत्व रखता था, जैसा कि कहा गया था कि "मन में जो कुछ भी उठता है, उसके साथ संवेदना भी होती है" (अंगुत्तर निकाय 8, मूलक सुत्त)। इसलिए, संवेदनाओं का अवलोकन व्यक्ति के अस्तित्व की समग्रता, शारीरिक और मानसिक दोनों की जांच करने का एक साधन प्रदान करता है। "सतिपट्ठान सुत्त" में, जागरूकता की स्थापना पर प्रवचन में, तथागत बुद्ध ने मन को शुद्ध करने के लिए विपश्यना ध्यान की व्यावहारिक विधि प्रस्तुत की। यहाँ, संवेदना (पाली: वेदना) के महत्व पर जोर दिया गया है (फेनविक और लोरिमर, 1989)। मन का सबसे गहरा स्तर (अचेतन मन) लगातार शारीरिक संवेदनाओं के संपर्क में रहता है। जैसे-जैसे हम संवेदनाओं के बारे में जागरूकता विकसित करते हैं और उन्हें समभाव से देखते हैं, हम धीरे-धीरे गैर-प्रतिक्रियाशील हो जाते हैं, जिससे हमारा मन पर्यावरण से स्थितियों या उत्तेजनाओं पर प्रतिक्रिया न करने के लिए प्रशिक्षित हो जाता है। जैसा कि प्रलेखित है कि आसपास की परिस्थितियाँ व्यक्ति के विचार प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव डालती हैं जो व्यक्ति से संगत प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार, जब व्यक्ति लगातार तनावपूर्ण और चिन्ताजनक स्थितियों से घिरा रहता है, तो वह लगातार चिन्तित प्रतिक्रियाओं के लिए बाध्य होता है जो उसे तनाव का शिकार बना सकता है। विपश्यना के अभ्यास के माध्यम से, व्यक्ति धीरे-धीरे होने वाली शारीरिक संवेदनाओं का साक्षी बनना सीखता है और संवेदनाओं का हिस्सा नहीं बनना सीखता है। जिससे (मन में) अवांछित तनाव जमा नहीं होता और उसका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित नहीं होता। शारीरिक संवेदनाओं के प्रकट होने पर उन्हें देखने की प्रक्रिया और अभ्यास के माध्यम से, वह मन की एक

समतापूर्ण स्थिति विकसित करता है और मन की इस समता के माध्यम से, वह अपनी स्वायत्त उत्तेजनाओं में परिवर्तन विकसित करता है।

निष्कर्ष: यद्यपि तनाव मानव जीवन का अपरिहार्य अंग है और इससे कोई भी बच नहीं सकता है। "विपश्यना" इसका एक तरीका है। साहित्य में इस बात की जोरदार वकालत की गई है कि फार्माकोथेरेपी के अलावा जीवनशैली में बदलाव भी तनाव से निपटने में बहुत महत्वपूर्ण है। "विपश्यना" अपने स्वभाव से ही तनाव के प्रबंधन में आशाजनक परिणाम देती है, क्योंकि ज्यादातर मामलों में इसका कारण मनोदैहिक होता है। "विपश्यना" के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति शारीरिक संवेदनाओं (लगभग सभी परिस्थितियों में विकसित, यद्यपि सूक्ष्म स्तर पर) की नश्वरता को समझता है और इन संवेदनाओं का साक्षी बनकर मन को समता की भावना में उजागार करता है। अंतत: इस समतापूर्ण मन के साथ स्वायत्त उत्तेजनाओं (प्रतिक्रियाओं) में कमी आएगी और इसके बाद तनाव की स्थिति कम होने की उम्मीद है। हालाँकि, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमें वैज्ञानिक डिजाइनों (याट्टच्छिक नियंत्रण परीक्षणों) के साथ पर्याप्त शोध की आवश्यकता है, लेकिन सैद्धांतिक रूप से "विपश्यना" में बहुत अधिक संभावनाएं हैं।

सन्दर्भ -

[1] विश्व स्वास्थ्य संगठन, नशे की लत पैदा करने वाली दवाओं पर विशेषज्ञ समिति। (डब्ल्यूएचओ तकनीकी रिपोर्ट श्रृंखला, 116) जिनेवा, 1957.

[2] विपस्सना-पध्दति, समन्वय आश्रम बोधगया, बिहार पृष्ठ न.-1-5

[3] डस्टर टी. नैतिकता का वैधीकरण; कानून, ड्रग्स और नैतिक निर्णय। न्यूयॉर्क; फ्री प्रेस। लिंडस्मिथ। ए.आर. व्यसन और ओपियेड्स। शिकागो; एल्डीन, 1968.

[4] विपस्सना-पध्दति, समन्वय आश्रम बोधगया, बिहार पृष्ठ न.-1-15

[5] 'सतिपट्ठान' प्रकाशन : विपस्सना विशोधन विन्यास धम्मगिरि इगतपुरी, पृष्ठ न. 17-41

[6] हार्ट डब्ल्यू. द आर्ट ऑफ लिविंग. विपश्यना रिसर्च इंस्टीट्यूट. इगतपुरी, महाराष्ट्र, भारत. 1987.

[7] 'सतिपट्ठान' प्रकाशन: विपस्सना विशोधन विन्यास धम्मगिरि इगतपुरी, पृष्ठ न. 10.

[8] क्लिफोर्ड एस. द जैक-रोलर: ए डेलिंक्वेंट बॉयज़ ओन स्टोरी, पृष्ठ 18-19, शिकागो 1969.

[9] पेले एस. व्यसन को पुन:परिभाषित करना। हमारे जीवन में व्यसन का अर्थ। जे साइकेडेलिक ड्रग्स, खंड 2, 1979, पृष्ठ.289-297.

[10] सिल्कवर्थ डब्ल्यू.डी. डॉक्टर की राय, पृष्ठ 28. इन: एल्कोहॉलिक्स एनोनिमस; दूसरा संशोधित संस्करण. न्यूयॉर्क; एल्कोहॉलिक्स एनोनिमस; 1955.

वैदिक साहित्य के अंतर्गत वर्णित संगीत चिकित्सा की समकालीन उपयोगिता

• गज़ाला

शोध सार : "मंत्र का अर्थ है **'मननात् त्रायते इति मंत्रः'** अर्थात् जिसके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित जैसे स्वरों के साथ विधि पूर्वक उच्चारण करने से हमारा मन **'शब्दब्रह्म'** से संपर्क में शीघ्र आ सकता है अभिप्राय है कि स्वर या संगीतमय प्रार्थना, न केवल मंत्रों को सुगठित करती है अपितु स्वरों के उच्चारण हमारे शरीर के विभिन्न अवयवों को रचनाशील (creative) बनाते हैं"[1]। आज के विद्वान भी मंत्र शक्ति को मानते हैं। शब्द शक्ति इलैक्ट्रोनिक मैग्नेटिक लहरें (Electronic magnetic waves) उत्पन्न करती हैं। जो स्नायु तंत्र पर वाञ्छित प्रभाव डालकर उनकी सक्रियता बढाती है। मंत्रों का पुनरोच्चारण या जाप के प्रभाव संबंधी विभिन्न प्रयोग तथा सामैटिक्स के अंतर्गत भी यह अध्ययन जारी है जो यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि मंत्रों का सांगीतिक उच्चारण एवं उसका जाप शरीर, मनस् और प्रकृति पर सकारात्मक प्रभाव डालता है।

बीजशब्द - ऋग्वेद, मंत्र, ऋचा, स्वर, उदात्त, अनुदात, स्वरित, नाद, अनुनाद।

भारतीय ज्ञान -विज्ञान का आधार ग्रन्थ "**वेद**' है। वेदों में समस्त कलाओं तथा विद्याओं का समावेश होने के कारण ही वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। वेदोत्पत्ति सम्बन्धी मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में समान रूप से प्राप्त होते हैं-

तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]

अर्थात् उस श्रेष्ठ परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और छन्दांसि अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं।

सामवेद संहिता:-

ऋचा और ज्ञान के समन्वय को साम कहते है इसे अलंकारो का प्रयोग करके स्पष्ट किया गया है।

या ऋक तत् साम[3]'

* शोधच्छात्रा, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

अर्थात् गीत को ही साम कहते है। **सा** -> ऋचा। **अम्** → गान यह सामन् की कृत्रिम व्युत्पत्ति है। ऋचाओं का गान सामन् का स्वरूप और उद्देश्य दोनों था। उद्गाता ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत गान करता है,गान प्रधान वेद होने से सामवेदीय मंत्रों के' **गान**" पर पर्याप्त साहित्य की रचना हुई तथा सिद्धान्त से अधिक व्यवहार का इस दृष्टि से महत्व है। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद है। सामवेद गीतिमय संगीत का वेद है। संगीत संसार की सर्वश्रेष्ठ विद्या है। सामवेद के मंत्र में इस बात की पुष्टि होती है -

गाये सहस्रवर्तनि। गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्।[4]

मंत्र में सहस्रवर्तनी शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि मैं गायत्री, त्रिष्टुप, जगती छन्द वाले मंत्रों को सहस्र प्रकार से गाता हूँ। शबरस्वामी ने अपने भाष्य में कहा है-

सामवेदे"सन्ति सहस्रं गीत्युपायाः[5]"

सामवेद में सहस्र प्रकार की गान विधियां हैं **श्री सत्यावृत सामश्रमी** और **श्री सातवलेकर** आदि ने भी इसी मंतव्य को उपयुक्त बताया हैं।

सामवेदीय स्वरों का विकास:-

नारदीय शिक्षा में स्वरों के विकास का संकेत प्राप्त होता है नारदीय शिक्षा में तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख है- **१. आर्चिक २. गाथिक ३.सामिक** ।

१.सर्वप्रथम आर्चिक संगीत का विकास हुआ यह एक स्वर वाला था ।

२.यह गाथाओं पर आश्रित था इसलिए गाथिक कहलाता था ।

३.इसके बाद सामिक संगीत आया यह तीन स्वरों वाला था इसका आधार सामवेदीय मंत्र थे। इस प्रकार साम स्वरों के विकास के तीन सोपान नारदीय शिक्षा प्राप्त होते हैं -

आर्चिकं गाथिकं चैवसामिकं च स्वरान्तरम् । कृतान्ते स्वरशास्त्राणांप्रयोक्तव्यं विशेषतः।।
एकान्तरः स्वरो ह्युक्षु गाथासु द्वयन्तरः स्वरः । सामसु त्रयन्तरं विध्याद् एतावत् स्वरतोऽन्तरं ।।[6]

जैमिनी ने अपने पुत्र सुमन्तु को – सुमन्तु ने सुन्वान को, **सुन्वान** ने अपने पुत्र **सुकर्मा** को **सामवेद** कि शिक्षा दी । **हिरण्यनाभ का शिष्य कृत था ,**कृत ने सामवेद **के २४ प्रकार के गान स्वरों का प्रवर्तन किया।**

सामवेद के क्रमशः मध्यम्, गान्धार ऋषभ आदि - **म- ग- रे- सा-नि-ध-प - के क्रम से रहते हैं, तद्नुसार गान होता है**। भारतवर्ष का समस्त **संगीतशास्त्र 'सामवेद' को ही संगीत का मूलाधार** मानता है।

पं शारंङ्गदेव ने भी 'सङ्गीतरत्नाकर' में इस बात को स्पष्ट किया है-

सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः[7]

अर्थात् ब्रह्मा ने सामवेद के द्वारा ही गीत का संग्रह किया है।

सामगान में **'स्वर'** मुख्य आधार था । सामगान में तीन स्वरों का उपयोग होता था, तथा इन्हीं तीन स्वरों के द्वारा गान होता था। स्वर तीन प्रकार के कहे गये हैं – **उदात्त- अनुदात्त- स्वरित**।

सङ्गीत रत्नाकर के अनुसार संगीत की परिभाषा:-

"गीत वाद्यं तथा नृत्यं त्रयो संगीत मुच्यते" ।[8]

अर्थात संगीत एक ऐसी अन्विति है,जिसमे गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है। संगीत शब्द में व्यक्तिगत तथा समूहगत दोनों विधियों की अभिव्यंजना स्पष्ट है। इसी कारण व्यक्तिगत गीत,वादन,तथा नर्तन के साथ समूहगान, समूह वादन तथा समूह नर्तन का समावेश इसके अंतर्गत होता है।

वेदों के काल निर्धारण के संबंध में विभिन्न मतानुसार यह तो सिद्ध ही है कि संगीत द्वारा चिकित्सा का प्राचीनतम उल्लेख जिन भारतीय ग्रंथों में मिलता है वे निश्चित वेद ही हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मानव इतिहास की सबसे प्राचीन रचनाएँ हैं जो निर्माण की सतत क्रमिक प्रक्रिया में से होकर अंततः लिपिबद्ध की गई। "ऋग्वेद की एकमात्र शाकल शाखा मिलती हैं, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन यह दो शाखाएं उपलब्ध है। सामवेद की कौथुम और राणायनीय यह दो शाखाएं दृष्टिगोचर हो रही हैं। अथर्ववेद की पिप्पलाद और शौनक शाखाएँ प्राप्य हैं।[9]

ध्वनि के भारतीय वेद चतुष्टयी के प्रथम स्तम्भ ऋग्वेद में सङ्गीत या ध्वनि के चिकित्सकीय उल्लेख सम्बन्धी उद्धरण पर्याप्त मात्रा में पाये गए हैं। स्तोत्र के स्वरयुक्त पाठ के द्वारा निरोग प्राप्ति सहित अन्य चमत्कारिक परिणामों को भी प्राप्त किया जाता था,भारतीय ऋषि प्राचीन काल के वैज्ञानिक ही थे जिन्होंने भौतिक घटनाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण कर पराविधाओं का सृजन किया।

ऋग्वेद :-

ऋग्वेद सब वेदों में बड़ा एवं प्राचीन है। वेद तत्कालीन समाज एवं बौद्धिक स्तर का प्रतिबिम्ब है। "यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी वस्तु को अपने जैसे स्वरूप में ही रखकर वर्णन करना चाहता है।

पुष्प, सुगंधित वायु एवं लेप, वस्त्र आदि मानव को पसंद होता है तो वह यह ईश्वर को अर्पित कर यह मानता है कि ईश्वर को भी यह प्रिय है। सङ्गीत (वादन, गायन एवं नृत्य) मनुष्य को प्रिय है अतः प्रभु को भी वह यह अर्पित करता है। वेदों, सूक्तों के प्रभाव एवं सङ्गीत चिकित्सा के इस प्रारंभिक स्वरूप संबंधी उद्धरण सभी वेदों में प्राप्त हैं। ऋग्वेद संहिता में विभिन्न स्त्रोतों के माध्यम से विभिन्न देवताओं से आयु, विद्या, यश एवं बल की कामना की जाती है। इन्द्र, वरुण, मरुत्, अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए सस्वर मंत्र पाठ का विधान था। प्रथम मंडल के सूक्त 33 में मंत्र शक्ति से शत्रु पर विजय प्राप्त करना सम्भव बताया है।

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम् ।

अमन्यमानौं अभि मन्यमानैर्निर्ब्रम्हभिरथमो दस्युमिन्द्र ।।९।।

(सूक्त-३३)

हे इन्द्रदेव। आपने अपनी सामर्थ्य से घुलोक और भूलोक का चारों ओर से उपयोग किया। तथा अनुचरों द्वारा विरोधियों पर विजय प्राप्त की। आपने मन-शक्ति से ज्ञानपूर्वक किये गये प्रयासों से शत्रु पर विजय प्राप्त की।

यजुर्वेदः- यजुर्वेद याज्ञिक विधान संबंधी वेद है। अनेक प्रकार के यज्ञ अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संपन्न कराये जाते थे। मंत्रों का सस्वर उच्चारण ही उनके प्रभाव को सुनिश्चित करता था। इस कारण उसे लिखते समय तीन स्वरों के चिन्ह लगाये जाते थे। यज्ञ की सफलता से सर्वसुख एवं स्वास्थ्य की ही कामना की जाती थी। कुछ श्लोकों में स्पष्ट उल्लेख है कि उक्त सूक्त द्वारा शारीरिक व्याधियों से मुक्ति मिल सकती है। नवम् अध्याय के २१वें श्लोक में यज्ञ द्वारा आयु वृद्धि का उल्लेख है। यज्ञ से अन्य लाभ भी इस मंत्र में वर्णित हैं।

आयुर्यज्ञेनं कल्पतां प्राणो यज्ञेनं कल्पतां। नक्षंर्यज्ञेनं कल्पता श्रोत्रं यज्ञेनं कल्पतां पृष्ठं।
यज्ञेन कल्पतां यज्ञो भज्ञेनं कल्पताम्। प्रजायतेः प्रजाऽअंभूम स्वदेवाऽअगन्मामृतोऽअभूम।।'[10]

अथर्ववेदः -

संहिता का प्रमुख उद्देश्य औषधि एवं मंत्रों के सहायता से स्वस्थ जीवन प्राप्ति और स्वस्थ शरीर से ईश्वर आराधना या स्तुति करना है। कुछ मंत्रों में ईश्वर से स्तुति रूप में कहा गया है कि हमें निरोग रखे या उक्त रोग से मुक्ति दें। कुछ मंत्र विशेष व्याधि से स्वतः ही मुक्ति दिलाता है ऐसा श्लोक में उल्लेख होता है।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।।[11]

भावार्थ - जल सम्पूर्ण रोगों का निवारक है। जल ही रोगों के (मूल) कारण का नाश करने वाला है। जल ही सबके लिए हितकारी औषधिरूप है, वह आपके निमित्त रोगनाशक हो।

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णश्रृङ्गः।।[12]

भावार्थ - जल ही जिनकी प्राण चेतना है, ऐसी शैवाल में पैदा होने वाली तीक्ष्ण गन्धयुक्त तीखें सींगों के आकार वाली जो औषधियाँ हैं, वे पापरूपी रोग को विनष्ट करें।

सामवेदः-सामवेद में वर्णित श्लोक मूलतः अन्य वेदों के श्लोकों, मुख्यतः ऋग्वेद से लिये गए हैं। सामवेद का गायन सोमवल्लि से सोम रस प्राप्ति और उसके छानने, दूध मिलाने एवं देवताओं को अर्पित करते समय किया जाता था। सामवेद में ओंकार को सर्वश्रेष्ठ मंत्र एवं ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम कहा है। "ध्वनि आकाश का गुण है। यह ध्वनि ओऽम् ही है। जिसका रस, प्रारम्भिक वाक् में देव नहीं प्राप्त कर सके।" ओमकार का अ उम क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, भूः भुवः स्वः का प्रतीक है।

सभी मंत्रों और उनमें निहित शक्तियों का आधार 'ओम्' है। साम और संगीत आज समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं और सामवेद में भी स्वर और सङ्गीत के महत्त्व को जानते हुए प्रयुक्त किया गया है।

"पाव मानिर्या अध्येत्यनिभिः संभतूरसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीर सर्विर्मधूदकम् ।।[13]

भावार्थ:- जो ऋषियों द्वारा एकत्र किए गए सार रूपी शुद्ध करने वाले मंत्रों का अध्ययन करता है, उसे विद्यादेवी दूध, घी, शहद और पानी देती हैं। अर्थात् सुख समृद्धि एवं ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। (ऋ.9/67/32 एवं सामवेद 10/7/2) वेदचतुष्टयी में मंत्रों के प्रभाव एवं प्रयोग से चिकित्सकीय लक्ष्यों की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेद एवं सङ्गीत चिकित्सा :- आयुर्वेद का आधार मानव शरीर के त्रिदोष के संतुलन को बनाये रखना है। "वात, पित्त एवं कफ क्रमशः वायु, अग्नि एवं जल का शरीर में विभिन्न रूपों में प्रतिनिधित्त्व करते हैं।''वायु शक्ति के रूप में रस आंशिक रूप से शारीरिक एवं मानसिक तत्त्व है जो शरीर एवं मस्तिष्क के मध्य महत्त्वपूर्ण संबंध है जो विचारों एवं भावनाओं पर प्रभाव डालते है।" सङ्गीत एवं रस का संबंध तो भरत काल से ही प्रमाणित है अतः आयुर्वेद भी संगीत से प्राप्त रस को स्वास्थ्य संतुलन हेतु महत्वपूर्ण मानता है। "सुमधुर सङ्गीत (गायन अथवा वादन) पित्त के संतुलन में सहायक है। अचेतना के समय भी साङीतिक ध्वनियों का प्रयोग निर्देशित है।" दोष संतुलन हेतु सङ्गीत का उल्लेख विभिन्न विद्वान् करते हैं।" श्रृङ्गारिक रागों या रचनाओं से कफ दोष जन्य निराशा एवं घृणा को दूर किया जा सकता है। शांत रस युक्त सङ्गीत पित्त जनित क्रोध को शांत कर देता है। वीर रस से परिपूर्ण रचना वात दोष को दूर कर सकती है।"

(सारिणी क. 5- दोषों द्वारा संभावित रोग

दोष	संतुलन	असंतुलन	संभावित रोग
वात	शांति	भय एवं चिंता	तंत्रिका संबंधी रोग, गठिया,नितम्भ संबंधी दर्द, अनिद्रा, त्वचा रोग, कब्ज, मसूड़ों में दर्द, हड्डियों की कमजोरी, बांझपन, नामर्दी, कानों में सुन्नपन, पक्षाघात, रक्त के थक्के जमना भूख न लगना, कंपन के साथ मूर्छा, रक्त प्रवाह में असंतुलन
पित्त	सुन्दरता	रोष एवं क्रोध	चिंता तनाव संबंधी रोग, उच्च रक्त चाप, हृदय
	चमक		वहनियों में रुकावट, अल्सर, पेट एवं आतों का कैंसर, संक्रमण, हेपेटाईटिस, मूत्राशय में संक्रमण, प्लीहा में संक्रमण।
कफ	शक्ति उत्साह	दु:ख निराशा घृणा	सर्दी,खासी, मितली, फेफडों में संक्रमण, श्वास रोग, किडनी स्टोन, गाठें, ट्यूमर, घंघा, छाती का कैंसर, कवक संक्रमण, पाचन दोष, मोटापा ।

रस का संबंध शरीर के विभिन्न स्राव ग्रंथियों से होने वाले रसों के बहाव से भी है जो शरीर की रसायनिक गतिविधियों का आधार है। मस्तिष्क के संदेशों अथवा विभिन्न अनुभूतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप इन ग्रंथियों से रसायन रक्त आदि में फैलने लगते हैं जो हमारे शरीर की कार्यविधि एवं हमारे व्यवहार आदि को प्रभावित करते हैं। आयुर्वेद में पित्त का संतुलन इन्हीं रसायनों के संतुलन से संबंधित है जो सङ्गीत के श्रवण एवं उसमें सहभागिता से भी प्रभावित होता है।

मध्यकालीन साहित्य में सङ्गीत चिकित्सा:-

विभिन्न आवृत्तियों के नाद-अनुनाद शरीर की सभी कोशिकाओं पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते हैं तथा संतुलन बिगड़ने पर उसे पुनः संतुलित करने में सहायक होते हैं। यह मन और पूरे शरीर को प्रभावित करता है। स्वरों का प्रभाव मन और शरीर के पारस्परिक संतुलन पर पड़ता है।

आचार्य शारङ्गदेव ने अपने ग्रंथ सङ्गीत रत्नाकर में सङ्गीत के चिकित्सकीय परिणामों का उल्लेख अनेक रूपों में किया है। रत्नाकर के स्वराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से सम्बन्धित स्नायुओं चक्रों और शारीरिक अंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। संगीत रत्नाकर के प्रथम भाग में स्वर (ध्वनि रूप) में उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि किस प्रकार नाड़ियों से टकराकर ध्वनियाँ / श्रुतियाँ निकलती हैं ये श्रुतियाँ नाड़ियों को प्रभावित करती है और यही जीवन का आधार भी है।

ब्रह्माग्रन्थिजमारूतानुगतिना चित्सेन हृत्य जेक
सूरीणा मनुरज्जकः श्रुतिपदंयो यं स्वयं राजते
यस्माद् ग्राम विभाग वर्ण रचना डलका रजाति कमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धरजगदीतं मुदे शंकरम् ।।[14]

यह ओजस् भी तंत्रिकीय कार्य प्रणाली का ही दूसरा रूप है। भैषज-तन्त्र के रचयिता, अश्विनी कुमार ने प्रत्येक रोग के उपचार के लिए चार भेषजों - **"पवनौकस्**", **"जलौकस्", "वनौकस्**", और "शाब्दिक" का वर्णन किया गया है। मैंद ऋषि ने "शब्द कौतूहल" नामक ग्रन्थ की रचना की, उसके प्रथम प्रकरण में रोगनिदान,शाब्दिक औषधि,वीणा,विपंची पणव शंख भेरी मृदंग, मंजीरा, वंशी, आदि वाद्य भेषज से ही बजाने और उनको सुनकर राग निदान की व्याख्या की गई है।

निष्कर्ष :- संगीत चिकित्सा द्वारा उपचार आज के सन्दर्भ में एक बड़ी उपलब्धि है। अन्य चिकित्सा पद्धति के साथ-साथ ये भी समाज की आवश्यकता बनती जा रही है। क्योंकि आज हम जिस सामाजिक परिवेश में रह रहे हैं, वहां विभिन्न प्रकार के तनाव, अवसाद से व्यक्ति घिरा हुआ है, जिसके कारण शारीरिक एवं मानसिक रोगियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। अतः अन्य चिकित्साओं को साथ-साथ सङ्गीत चिकित्सा का प्रावधान वर्तमान में निजी एवं सरकारी दोनों स्तर पर

किया जा रहा है। बड़े-बड़े चिकित्सालयों में, संस्थानों में सङ्गीत चिकित्सकों की विधिवत् नियुक्तियां भी की गई हैं, जो सङ्गीत, चिकित्सा एवं रोगियों सभी के लिए महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

संगीत चिकित्सा को लोगों ने सहर्ष अपनाया तो है, इससे सम्बन्धित शोध एवं अनुसंधान भी किए जा रहे हैं। परन्तु इसे व्यवसाय के रूप में अपनाने वालों की संख्या अभी बहुत अल्प है। परन्तु अब वह समय आ गया है जब इसे पेशे के रूप में अपनाने में कोई व्यवधान नहीं बल्कि हम अपनी रूचि ज्ञान, धनार्जन की अपार संभावनाओं के साथ-साथ सामाजिक सेवा का भी लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

प्राचीन भारत में सङ्गीत के द्वारा रोगों की चिकित्सा होती रही होगी, इन ग्रंथों के द्वारा हमें एक स्थूल आधार मिलता है। आज हम भले ही सङ्गीत द्वारा निरोग प्राप्ति पर प्रयोग कर रहे हैं, परंतु वैदिक काल में मंत्रों/स्तोत्रों से निरोग से भी अधिक अमरता प्राप्त करने के दावे किये गये थे, जो आज भी रहस्य का विषय है। मानव देह की नश्वरता को अमरता की सत्यतता तक ले जाना आज अवश्य ही अकल्पनीय जान पडता है परंतु जिस सहजता से ऋग्वेद सहित अन्य प्राचीन ग्रंथों में अमरत्व का उल्लेख किया गया है यह कदापि नहीं लगता कि वह उल्लेख पूर्णतः कल्पना ही है।

तीन स्वरों का प्राचीन वैदिक सङ्गीत और उसका प्रभाव आज के बहुस्वरीय एवं बहुरूपी सङ्गीत से अधिक था, यह उसके सहज एवं प्राकृतिक होने के कारण ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

---

[1] शर्मा, डॉ. महारानी; संगीत चिकित्सा", कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, २०१४, पृ. ३१

[2] यजुर्वेद.३१.७

[3] छान्दोग्योपनिषद १.४.३.

[4] सामवेद १८२९

[5] मीमांसा सूत्र शाबर भाष्य-९.२.२९

[6] नारदीय शिक्षा १३-२.१.

[7] पं शारंगदेव 'संगीतरत्नाकर'

[8] संगीत रत्नाकर, श्लोक २१ , स्वरगताध्याय:

[9] राग रागिनियों द्वारा रोग चिकिसा" मधुगंधा मधुव्रत, जनवरी १९७२

[10] शर्मा, श्रीराम; "यजुर्वेद", संस्कृति संस्थान, बरेली १९९० पृ. १३१

[11] शर्मा, श्रीराम; "अथर्ववेद संहित भाग 1", जनजागरण प्रेस १९९१ , पृ.२३२

[12] शर्मा, श्रीराम; "अथर्ववेद संहित भाग 1", जनजागरण प्रेस १९९१ ,पृ. ३२७

[13] सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर; "अथर्ववेद" स्वाध्याय मंडल पारडी बलसाड १९६३ पृ.१९७

[14] "राग रागिनियों द्वारा रोग चिकिसा" मधुगंधा मधुव्रत, जनवरी १९७२

अन्नप्राशन संस्कार का मन तथा शरीर पर प्रभाव : एक विश्लेषण

• प्रियांशु

शोध सार – मनुष्य ने अपने अधिकार और कर्तव्यों को इस प्रकार से प्रकृति के साथ समायोजित किया कि प्रकृति की क्रमबद्धता मानवीय आचारों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती रहे; इसके प्रमाण हमें वैदिक परम्परा से आगत संस्कारों मे दिखाई देते हैं जहाँ व्यक्ति की आयु के अनुसार उसके आधिकारों को ध्यान मे रखकर कर्तव्यों की नियमावली का निर्धारण किया गया है। सस्कार शब्द परिष्करण शब्द का समानार्थी है जिसका औचित्यीकरण मनुष्य के आचार एवं विचारो के परिमार्जन से सिद्ध होता है, मनुष्य का जीवन प्राकृतिक रूप से क्रमबद्ध और सुनियोजित हो इसके लिये षोडश संस्कारों की वैदिक संकल्पना हमारे बीच परम्परा के रूप मे विद्यमान है, जिनमे जन्म के पश्चात होने वाले संस्कारों मे एक संस्कार अन्नप्राशन है जो शिशु को प्रथम बार अन्न भोजन की धार्मिक पुष्टि के साथ आधिकारिक अनुमति देता है। विभिन्न वैदिक मंत्रों के द्वारा पूजित अन्न जब शिशु के उदर मे जाता है तो वह शिशु के मानसिक एवम शारीरिक दोनों ही पक्षों को सम्बल प्रदान करता है साथ ही शिशु के संरक्षक की श्रद्धामयी मानसिक संतुष्टि का कारण भी बनता है। प्रस्तुत शोध पत्र अन्नप्राशन संस्कार की वर्तमान रूपरेखा का चित्रण प्रस्तुत करते हुये मन तथा शरीर पर पडने वाले प्रभाव का सारगर्भित विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा वर्तमान समाज में संस्कारों की आवश्यकता का भी निरुपण करता है।

बीजशब्द - संस्कार, समाज, सतत विकास, वंशानुक्रम, वातावरण, गुणसूत्र, ह्यूमन जीनोम एडिटिंग, अन्नप्राशन संस्कार, शरीर, मन।

प्रस्तावना – समाज और संस्कृति का आधार सदैव मानव की बौद्धिक संपदा रही है, मनुष्य एक मननशील प्राणी है इसका प्रमाण सृष्टि के सृजन से आधुनिक काल तक की विकास यात्रा मे देखा जा सकता है। संस्कार व्यक्ति को परिष्कृत करने के साथ साथ व्यक्ति की अत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आचार्य चरक के अनुसार – **संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते**[१] अर्थात व्यक्ति में पहले से ही विद्यमान

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, फ़िरोज गाँधी कालेज, रायबरेली, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

दुर्गुणों को नष्ट कर उनके स्थान पर सद्गुणों का स्थापना करना ही संस्कार है। संस्कार के शाब्दिक अर्थ के ज्ञान हेतु इसकी व्याकरणिक व्युत्पति को जानना परमावश्यक है, संस्कार शब्द सम उपसर्गपूर्वक, डुकृञ्करणे धातु से घञ् प्रत्यय के साथ भूषणार्थ में सुट् के आगम से निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सम उपसर्गपूर्वक कृ धातु से सुड तभी आगम होता है जब उस शब्द का अर्थ भूषणात्मक हो[२] अस्तु संस्कार शब्द भूषणात्मक है। इस प्रकार सस्कार का व्युत्पत्ति जनक अभिप्राय व्यक्ति को सद्गुणो से संभूषित करना है अथवा व्यक्ति मे विद्यमान मनोभाव या स्वभाव को परिष्कृत कर उसे परिशोधित करना है इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कार व्यक्ति के व्यक्तित्व का परिशोधन करके उसे समालंकृत करते हैं। तन्त्रवार्तिककार ने संस्कार को योग्यता का आधान करने वाला तत्व माना है वह लिखते हैं–

योग्यताञ्चादधाना: क्रिया: संस्करा इत्युच्यते।[३]

आदि शंकराचार्य भी इस मत की पुष्टि मे अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुये लिखते है कि दोषों का अपकर्षण करते हुये सद्गुणों का आरोपण करना ही संस्कार है-

संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वास्य दोषापनयनेन वा।[४]

आधुनिक समाजशास्त्री प्रो० राजबली पाण्डेय के अनुसार- **"संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान से है जिससे वह व्यक्ति समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।"**[५]

संस्कारों की आवश्यकता क्यों ?

मनुष्य एक मननशील प्राणी है उसके लिए क्या सही है और क्या गलत है इस पर वह विचार कर सकता है किंतु इससे केवल व्यक्ति की आत्मनिष्ठ भावना ही संपोषित होती है जबकि अखिल ब्रह्मांड इस सृष्टि की वस्तुनिष्ठ व्याख्या प्रस्तुत करता है जहां प्रत्येक वस्तु की सत्ता है तथा उनके मौलिक कर्तव्य की सीमाएं निर्धारित है। इन कर्तव्यों के सीमांकन का उद्देश्य सर्ववस्तुसंभाव की भावना को पोषित करना है जिससे समाज में सतत विकास की अवधारणा का विकास हो सके। व्यक्ति की आयु के अनुसार उसके कर्तव्य क्या हो सकते है और कैसे होने चाहिये के निर्धारण हेतु संस्कारों की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यही नहीं सस्कार एक धार्मिक आवश्यकता है जिनका शास्त्रोविहित ढग से सम्पादन किया जाता है जिसके फ़लस्वरूप व्यक्ति का जीवन परिष्कृत एवं पवित्र होता है।[६]

संस्कार के द्वारा व्यक्ति का परिष्करण संभव है इसके संबंध में विचारकों के मध्य दो तार्किक विचारधाराएं विद्यमान हैं- १. प्रथम वंशानुक्रम वादी विचारकों का मत है कि व्यक्ति जिन अनुवांशिक गुणों को लेकर उत्पन्न होता है उन्हें बदलना संभव नहीं है। इस मत के पोषक संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास भी हैं, वह इस मान्यता का समर्थन करते हुये कहते हैं-

रूपं तदोजस्वि तदेववीर्यं तदैव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्

न कारणात्स्वाद्विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्।[७]

अर्थात जैसे दीपक से जलाया हुआ दूसरा दीपक, उसी के समान गुण धर्म का वाहक होता है उसी प्रकार अपने माता पिता के अनुरूप संतान भी उत्पन्न होती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों आनुवाशिकता पर गहन अध्ययन एवं विचार विमर्श किया जिनमे प्रमुख वंशानुक्रमवादी विचारक प्रो० गाल्टन का प्रमुख स्थान है उनकी धारणा प्रदिपादित करती है कि **"प्राणी जो कुछ भी अथवा जिस रूप मे निर्मित होता है, उसके पीछे उसका वंशानुक्रम ही कारण है।"**[८]

२. द्वितीय विचारधारा पर्यावरण्वादियों की है जिनका अभिमत है कि प्राणी गुणधर्म को उसके पर्यावरण के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है, इस विचारधारा के समर्थक प्रो० नेफ़ाख एवं वाटसन हैं। वाटसन का कहना है कि मुझे कोई बालक लाकर दे दो मै उसे जो चाहुँगा वह बना दुँगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में गुणसूत्रों (chromosome) का महत्वपूर्ण योगदान है। प्रोफेसर हरगोविंद खुराना

जिन्होंने गुणसूत्रों पर गहन शोध किया जिसके लिये उन्हें नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया उनका अभिमत है कि - **प्रजनन तत्व में वांछित गुणसूत्रों को आरोपित कर इच्छित गुणधर्म वाले संतति का निर्माण किया जा सकता है।**

ह्यूमन जीनोम एडिटिंग (human genome editing) जैसी आधुनिक तकनीकि इसी दिशा मे शोधरत हैं।[९] दोनों मत अपने अपने स्थान पर सही है किसी एक मत को पूर्णरूपेण सार्वभौमिक मान्यता नहीं दी जा सकती क्योकि आनुवांशिक गुणों के विकास मे पर्यावरण का महत्वपूर्ण योगदान है यही कारण है कि आधुनिक समन्वयवादी विचारकों ने मानवीय विकास को वंशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल माना है। पवित्रता के द्दष्टिकोण से भी व्यक्ति की शुचिता को निर्धारित करने हेतु संस्कारो की महत्वपूर्ण आवश्यकता है व्यक्ति जन्म से अपवित्र होता है संस्कारों के माध्यम से वह पवित्रता को प्राप्त करके अपने कार्मिक तथा धार्मिक कृत्यों को करने के योग्य होता है। संस्कारों के प्रयोजन को निरुपित करते हुये कहा गया है-

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठाद् भवेद विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।[१०]

संस्कार के प्रकार –

संस्कारों के सन्दर्भ मे पर्याप्त विवेचन गृहसूत्रों धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों मे किया गया है विभिन्न आचार्यो के मत से संस्कारों की संख्या भिन्न भिन्न है संस्कारों की संख्या १० से ४० के तक मिलती है। गौतम धर्म सूत्र में आठ आत्मगुण सहित चालीस संस्कार माने गए है। महाभारत के अनुसार तेरह गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातधर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूर्णाकर्म, उपनयन, विवाह, गोदान, उपाकर्म, अन्त्येष्टि । स्वामी दयानन्द सरस्वती सोलह संस्कारों की पुष्टि की है। व्यास स्मृति में भी

सोलह संस्कार को मान्यता प्रदान की गयी है।आधुनिक **समाजशास्त्री प्रो० राजबली पाण्डेय** ने अपने **हिन्दू- संस्कार** नामक ग्रन्थ में १६ संस्कारों को प्रमाणिक मान्यता प्रदान की है जिनका विभाजन इस प्रकार है –

(क). गर्भकालीन संस्कार -१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमान्तोनयन।

(ख). बाल्यकालीन संस्कार- ४. जातकर, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्रशान, ८. चूड़ाकर्म, ९. कर्णवेध।

(ग). शिक्षाकालीन संस्कार- १०. विद्यारम्भ, ११. उपनयन, १२. वेदारम्भ, १३. केशान्त एवं गोदान, १४. समावर्तन।

(घ). शिक्षोपरान्त संस्कार- १५. विवाह।

(ड). जीवनोपरान्त संस्कार- १६. अन्तेष्टि।

ध्यातव्य है कि **स्वामी दयानंद ने** अपनी पुस्तक **संस्कार विधि** में विद्यारम्भ को वेदांत के अंतर्गत तथा के केशांत को समावर्तन में ही समाहित कर दिया है इसके स्थान पर उन्होंने वानप्रस्थ एवं संन्यास इन दो संस्कारों को स्वीकार किया है।[११]

वर्तमान समाज में संस्कारों की सामाजिक स्थिति –

संस्कार सामाजिक परंपरा के अंग है जो मनुष्यों को अनुशासित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं किंतु अब समाज बदल रहा है इस वैदिक शाश्वत परंपरा को अब रुढिवादी दृष्टिकोण से देखा जाता है हलांकि परम्परा रूढ हो सकती है किन्तु निरर्थक नहीं बस आवश्यकता है एक नवीन जागृत सामाजिक चेतना की प्रकृति मे अक्रमबद्धता का एक कारण मानव की अप्राकृतिक कार्यप्रणाली है आज भी यदि वैदिक सस्कारों के मूल को प्रकृति के साथ जोडकर पुनः सांस्कृतिक अनुष्ठान संपादित किये जाये तो समाज को एक सन्तुलित दिशा मिल सकती है।

अन्नप्राशन संस्कार : काल एवं विधि –

अन्नप्राशन जिसका अर्थ होता है- अन्न अर्थात जो ब्रह्म की उपमा से विभूषित है[१२] जो सक्षात ब्रह्मस्वरूप है जिसके माध्यम से व्यक्ति का विकास होता है जो जीवन की आधारशिला है, प्राशन (अशन) अर्थात भोजन, इस प्रकार अन्नप्राशन का अर्थ हुआ अन्न का सर्वप्रथम भोजन।

विभिन्न वैदिक एवं धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार शिशु के लिये अन्नप्राशन का अनुष्ठान जन्म से ६ वें वर्ष करना चाहिये -

षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्।[१३]

क्योकि ६ वें मास तक शिशु दाँत निकल चुके होते हैं और उसके पाचन संबन्धी अंग जो जन्म के समय अत्यन्त कोमल होते है ६ माह मे कोमल अन्न को पाचाने में सक्षम हो जाते है यही कारण है कि प्रथम ६ माह तक केवल माँ का दूध ही शिशु का एक मात्र भोज्य पदार्थ होना चाहिये। शिशु के दाँतों का

निकलना इस बात का द्योतक है कि अब शिशु का शरीर अन्न को पचाने मे समर्थ हो गया है इसलिये अन्नप्राशन का काल जन्म के ६ माह निर्धारित किया गया है कभी कभी बच्चों मे हर्मोन्स की समस्या के कारण दाँत जन्म से ६ मास न निकल कर ८ या ९ वे माह निकलते हैं अस्तु आचार्य शाङ्खायन ने अन्नप्राशन संस्कार की अवधि एक वर्ष तक मानी है। अन्नप्राशन संस्कार के समय शिशु को केवल कोमल अन्न का अशन करवाना चाहिये क्योंकि अकस्मात गरिष्ठ अन्न देने से शिशु को गम्भीर व्याधि का सामना करना पड सकता है अर्थात उसके लिये हानिकारक सिद्ध हो सकता है। आश्वलायन गृह्सूत्र मे शिशु को दही, शहद, तथा घी मिश्रित अन्न खिलाने का निर्देश किया गया है- **दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ।**[१४] आधुनिक चिकित्सकों का भी यही मत है कि दूध, दही, शहद आदि का सेवन सेहत के लिये स्वास्थ्यवर्धक है, प्राचीन शास्त्रों मे घृत मे आयु का आरोप करके धृत को ही आयु कहा गया है- **आयुर्वैघृतम् ।**[१५] इसका कारण है कि इन पदार्थों मे पर्याप्त मात्रा मे पोषक तत्व पाये जाते है।

अन्नप्राशन संस्कार मे देवपूजन आदि के लिए व्यवस्था विशेष की स्थापना करनी चाहिए। अन्नप्राशन के लिए कटोरी तथा चम्मच का प्रबन्ध करना चाहिये। एक पात्र में बनी हुई चावल या सूजी (रवा) की खीर, शहद, घी, तुलसीदल तथा गङ्गाजल- ये पाँच वस्तुएँ तैयार रखनी चाहिए। निर्धारित क्रम में मङ्गलाचरण से लेकर रक्षाविधान तक के क्रम पूर्ण करके विशेष कर्मकाण्ड कराया जाना चाहिये । जिसमें- (१) पात्रपूजन, (२) अन्न- संस्कार, (३) विशेष आहुति तथा (४) क्षीर (खीर) प्राशन आदि सम्मिलित हैं। पात्र- पूजन॥ क्रिया और भावना- मन्त्रोच्चार के साथ अभिभावक पात्र के बाहर चन्दन, रोली से स्वस्तिक बनाएँ। अक्षत- पुष्प चढ़ाएँ। भावना करें कि पवित्र वातावरण के प्रभाव से पात्रों में दिव्यता की स्थापना की जा रही है, जो बालक के लिए रखे गये अन्न को दिव्यता प्रदान करेगी तथा उसकी रक्षा करेगी। माता- पिता को हाथ में रोली या चन्दन लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये- **ॐ सुपात्रतां प्रदास्यामि।** (शिशु में सुपात्रता का विकास करेंगे।) इसके पश्चात अग्रिम मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये -

ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।[१६]

यज्ञीय विधि- विधान हो जाने के पश्चात खीर का थोड़ा- सा अंश चम्मच से मन्त्र के साथ बालक को खिलाना चाहिये। यह खीर अमृतमयी गुण से युक्त होती है जो बालक के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास, वैचारिक उत्कृष्टता तथा चारित्रिक प्रामाणिकता को विकसित करने वाली होती है।

अन्नप्राशन संस्कार का शरीर तथा मन पर प्रभाव –

अन्नप्राशन संस्कार का धार्मिक, सांस्कृतिक एवं महत्व होने के साथ- साथ वैज्ञानिक महत्व भी है, धार्मिक अनुष्ठान होने के कारण यह एक सांस्कृतिक समारोह है जिससे यह हमारी संस्कृति का एक अभिन्न अङ्ग है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्नप्राशन संस्कार की प्रमाणिकता का प्रमाण आधुनिक चिकित्सज्ञ भी देते है आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अन्न को ब्रह्म की उपाधि से विभूषित किया गया है जो

मानव की आस्था का विषय होने के साथ- साथ प्राणी समुदाय का जीवनाधार है, **सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तु का कथन है कि स्वस्थ्य शरीर में ही स्वस्थ्य मस्तिष्क का विकास होता है**[१७] इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर तथा मन के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, शरीर आत्मा का आयतन तथा मन का आश्रयी है, अन्नप्राशन से प्रारम्भ होने वाले अन्न का सात्विक अंश शिशु के शरीर को आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति करता है जिससे उसका शरीर वृद्धि को प्राप्त होता है, शारीरिक विकास से ही व्यक्ति का मानसिक विकास जुड़ा होता है जो बालक के बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित करता है, अन्नप्राशन सस्कार मे दिया जाने वाला अन्न विभिन्न आभिचारिक मन्त्रों से परिष्कृत तथा शिश्वनुकूल पौष्टिक गुणों से युक्त होता है जो शिशु को सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करता है।

मानव विकास का मूल अन्न ही है तैत्तरियोपनिषद में अन्न की निन्दा नहीं करने का भावपूर्ण सन्देश दिया गया है- **अन्नं न निन्द्यात्**।[१८] अर्थात अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है और इसी से ही उसका विकास होता है।[१९] अन्न को प्राण कहा गया है[२०] तथा शरीर को अन्नाद[२१] यह प्राण शरीर में स्थित होता है[२२] जिसके द्वारा मन को गति मिलती है अर्थात मन और शरीर एक दूसरे के अन्योनाश्रित हैं जिनकी ऊर्जा का स्त्रोत प्राण तथा प्राण की ऊर्जा का स्त्रोत अन्न है, अन्नप्राशन मे दिया जाने वाला अन्न सर्वप्रथम इस प्रक्रिया को सात्विक ऊर्जा प्रदान करते हुये नियमित अन्न अशन की अनुमति देता है।

निष्कर्ष –

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषणात्मक विवेचन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि संस्कारों की हमारे जीवन में महत्वपूर्ण उपयोगिता है क्योंकि यही व्यक्ति को प्रकृति के साथ जोड़कर उनके कर्तव्यों के निर्वहण की नैसर्गिक अनुमति देते हैं जिससे प्राणी समुदाय मे अनुशासन की भावना का विकास होता है जो सतत विकास की अवधारणा को संपोषित करता है। व्यक्ति मे व्याप्त दुर्गुणों को व्यावहारिक सिद्धान्तों के माध्यम से परिष्कृत करने का कार्य भी संस्कार ही करते हैं इन्हीं संस्कारों मे अन्नप्राशन संस्कार शिशु को अन्न अशन की अनुमति देता है। यह अन्न शिशु को सात्विक ऊर्जा प्रदान करता है जो शिशु के मन तथा शरीर पर सकारात्मक प्रभाव डालता है विभिन्न साहित्यिक और वैज्ञानिक तथ्यों के अवलोन के तथा अन्न की हमारे जीवन मे उपयोगिता के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अन्नप्राशन संस्कार मे दिया जाने वाला अन्न मन तथा शरीर पर सकारात्मक प्रभाव डालता है।

सन्दर्भ –

१. चरक संहिता, विमान -१/२७
२. सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे, अष्टाध्यायी, ६.१.३७
३. तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ १०७८
४. वेदान्तसूत्रशाङ्करभाष्य, १\२

५. भारतीय समाज, डा० आर० एन० मुखर्जी, दिल्ली, पृष्ठ ४२
६. भारतीय संस्कृति के प्रमुख सोपान, डा० दिनेश प्रसाद तिवारी.कानपुर, पृष्ठ ८०
७. रघुवंशम् महाकाव्य, महाकवि कालिदास, ५\३७
८. शिक्षा मनोविज्ञान, प्रो० एस० एस० माथुर, आगरा
९. *Genome editing is a method for making specific changes to the DNA of a cell or organism. It can be used to add, remove or alter DNA in the genome. Human genome editing technologies can be used on somatic cells (non-heritable), germline cells (not for reproduction) and germline cells (for reproduction).* From <https://www.who.int/health-topics/human-genome-editing#tab=tab_1> *visited on 12/10/2024*
१०. वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २७
११.भारतीय संस्कृति के प्रमुख सोपान, डा० दिनेश प्रसाद तिवारी.कानपुर,पृष्ठ ८२
१२. अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, तैत्तरियोपनिषद,३/२
१३. मनुस्मृति, २/३४
१४. आश्वलायन गृह सूत्र, १/१६/५
१५. काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, पृष्ठ ६५
१६. ईशोपनिषद, मन्त्र १५
१७. स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा, पृष्ठ ३७
१८. तैत्तरियोपनिषद, ३/७
१९. अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते, तदेव, २/२
२०. प्राणो वा अन्नम्, तदेव, ३/७
२१. शरीरमन्नादम्, तदेव, ३/७
२२. शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितम्, तदेव, ३/७

गोत्र उद्भव : मान्यता और प्रतीक

• सौरभ तिवारी

शोधसार-भारतीय सामाजिक जीवन में गोत्र की मान्यता तथा गोत्र-परम्परा का अनुपालन सृष्ट्योत्पत्ति से होता रहा है। गोत्र परम्परा के मूल में 'जाति' रही है। जातियां एक समूह का बोध कराती हुई व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने का कार्य करती रही हैं। मानव जीवन में सामाजिक और वैज्ञानिक स्तर पर भी गोत्र-परम्परा का अपना अलग ही महत्व रहा है। गोत्र-परम्परा मानव सभ्यता के आदिम स्रोत की परिचायक होने के साथ-साथ मानव के अस्तिव और आदर्श की भी बोधक रही है। मानव ने अपने आदर्श के रूप में किसे चुना तथा किसका अनुगमन किया अथवा किस परम्परा का अनुपालन किया इसका ज्ञान गोत्र-परम्परा के अध्ययन से ही संभव है।

बीजशब्द - गोत्र, परम्परा, सृष्ट्योत्पत्ति, अस्मिता, वैज्ञानिक, प्रासंगिकता, उत्स, प्रतीक, ऋषिपरंपरा, संस्कृति।

गोत्र शब्द समूह वाचक है। जाति[1] की भांति यह गोत्र संज्ञा भी एक समूह विशेष की होती है। सामान्य रूप से एक ऋषि की वंश परंपरा में जन्म लेना और इस परंपरा के निर्धारित मानकों का अनुपालन करना गोत्र कहलाता है क्योंकि गोत्र संबंधी निर्धारित आचार स्थान विशेष अथवा वंशपरंपरा विशेष से आता है।[2] जन्मना ऋषि वंश-विशेष के प्रतीक के अतिरिक्त गोत्र शब्द के संबंध में अन्य व्युत्पत्तियां भी द्रष्टव्य हैं; यथा-गो अर्थात् इंद्रियां तथा त्र से तात्पर्य रक्षा करने से है अर्थात् जो इंद्रियों की विषयों से रक्षा करे। जिससे हमारी इंद्रियां रक्षित हों[3] गोत्र कहलाता है तात्पर्य यह है कि ऋषि ही गोत्र हैं। जन्मना गोत्र प्रवर्तन के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में गो अर्थात गोवंश की रक्षा और उसके पालन से भी गोत्र का संबंध है। वैदिक काल में गोवंश की बड़ी महिमा बताई गयी है। यहां तक कि मापन की इकाई के रूप में भी 'गाय' शब्द का व्यवहार होता था।

भारतीय संस्कृति में ऋषियों के आश्रमों में आवास करते हुए विद्या-अध्ययन करना विद्यार्थियों का दायित्व था, इस कालखंड के मध्य विद्यार्थी गुरुजनों के द्वारा भिक्षाटन तथा गोवंश के बाड़े के

*शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

रखरखाव सुरक्षा आदि कार्यों में भी नियुक्त किये जाते थे। जो विद्यार्थी जिस गुरु के गायों के बाड़े की रक्षा करता था, वह उसी ऋषि का नाम आगे लगाते हुए गोत्र अर्थात गोवंश का रक्षक ऐसा परिचय देता था। कालांतर में उन्हीं विद्यार्थियों के वंशजों ने भी अपना परिचय उन्हीं ऋषियों के आधार पर देना आरंभ कर दिया। जिन व्यक्तियों के पूर्वज जिन ऋषियों की गायों के बाड़े की देखभाल करते थे, वे उन्हीं ऋषियों के नाम का गोत्र के रूप में प्रयोग करने लगे।[4] यह भारतीय गोत्र-परंपरा के विषय में एक मान्य तथ्य है।

गोत्र का उद्भव

हमारी प्रत्येक समस्या का समाधान आस्तिक दृष्टि से देखने पर वेदों में निहित दिखाई देता है। वेद वह अनंत ज्ञानराशि है जिसमें संपूर्ण सभ्यता का बीज निहित है। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल से लेकर सप्तम मंडल पर्यंत को वंश मंडल कहा गया है। जिससे तात्पर्य है कि द्वितीय से सप्तम मंडल तक के मंत्रों का अलग-अलग ऋषियों की वंशपरंपरा में दर्शन और संकलन हुआ। यह वंश परंपरा जन्मना हो सकती है अथवा गुरु परंपरा में स्वीकृत वंश भी हो सकता है। **एक गुरु के संरक्षण में अध्ययन करने वाले अध्येता वृन्द परस्पर 'गुरुभाई' कहलाते थे। एक ऋषि के शिष्य, सहपाठी और एक ही गुरु के अनुयायी होने के कारण परस्पर बंधुत्व की भावना रखते थे और फलस्वरूप उनमें गुरुभाई की भावना उत्पन्न हो जाती थी; इसलिए वे परस्पर विवाह संपर्क स्थापित करना अनुचित मानते थे।**[5]

एतदतिरिक्त ऋग्वेद के संवाद सूक्तों में प्रमुख स्थान रखने वाले यम-यमी संवाद में जो संवाद प्राप्त होता है उसमें यम स्पष्ट रूप से अपनी बहन यमी को बताता है कि हम सहोदर हैं हमारा मिलन असंभव है किंतु भविष्य में भ्रातृत्व विहीन भाई और बहन परस्पर संसर्ग करेंगे। यम इसे निंदनीय और अमान्य बताते हैं जिससे स्पष्ट है की सगोत्री अथवा सहोदर विचार होता था-

न ते सखा संख्यं वष्टपेतत् सलक्ष्मा यद्विपुरुषा भवाति।[6]

भारतीय संस्कृति ऋषिपरंपरा है। ऋषि शब्द से तात्पर्य है- ज्ञान अतः भारत में ज्ञान की परंपरा है। वंश, कुल, कुटुंब तथा परिवार आदि का बोधक 'गोत्र' शब्द है। महर्षि पाणिनि पौत्र अर्थात तृतीय पुरुष से लेकर बाद की सभी संतानों के लिए गोत्र अथवा गोत्रापत्य[7] पद का व्यवहार करते हैं। गोत्र के प्रवर्तक आदि पुरुष को वंश्य कहा जाता है। गोत्र का बोध प्रत्यय विशेष से होता है जो वंश-बोधक शब्दों का निर्माण कर देता है ।[8] गोत्रसंज्ञक शब्द का विग्रह अपत्य पद लगाकर किया जाता है; यथा- गर्गस्य अपत्यं गार्ग्य[9]:,उपगोरपत्यं औपगव:[10] आदि।गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष के जीवित होने पर प्रपौत्र अर्थात चौथी पीढ़ी के संतान को युवापत्य कहा जाता है।[11] अपत्यार्थक स्त्री शब्द से भिन्न गोत्र शब्द जुड़ता है।[12] गोत्र संबंधी अन्य बहुत से विवेचन पाणिनि अष्टाध्यायी में सूत्रबद्ध हैं जिनका आधार बौधायन श्रौत सूत्र का महाप्रवर कांड है।

इन्हीं ऋषियों से सृष्टि तथा तदनुसार भिन्न-भिन्न गोत्रों का आविर्भाव हुआ मनुस्मृति इस संबंध में कहती है-

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः।।[13]

गोत्र का प्रचलन तथा उद्भव एक सुदीर्घ परंपरा है। ऋषियों के द्वारा गोत्र का प्रवर्तन और ऋषिपरंपरा में इसका प्रचार हुआ। ऋषियों ने अपने गोत्र और वंश का परिचय श्रुति परंपरा से स्मरण रखा तथा अपनी आने वाली पीढ़ियों तक उस परंपरा को पहुंचाया। इस संबंध में वायु पुराण में स्पष्ट संकेत मिलता है कि नैमिषारण्य में दृषद्वती नदी के किनारे आयोजित यज्ञ में सभी शांत और जितेंद्रिय ऋषिगण आये। इसी समय सूत जी के पधारने पर यज्ञ में जो गृहपति अर्थात् यजमान था उसने सूत जी से उन ऋषियों के वंश और गोत्र की कथा सुनाने का आग्रह किया-

ऋषयः संशितात्मानः सत्यव्रतपरायणः।
ऋजवो नष्टरजसः शान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।।[14]
सर्वे होमे महात्मनो नानागोत्राःसमागताः।[15]

वायुपुराण में काश्यपीय सृष्टि का वर्णन है जिसमें स्थावर- जंगम, नाग, दैत्य, देवता, मनुष्य, जलचर तथा नभचर आदि प्राणियों का उद्भव कहा गया है। सभी के मूल पुरुष के रूप में महर्षि कश्यप का नाम है। अतः लोक में आज भी जिनके गोत्र का ज्ञान नहीं होता है, प्रायः उसे 'काश्यपगोत्रोत्पनः' कह कर विवाह तथा पूजन आदि का संकल्प संपन्न हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि काश्यपीय सृष्टि में वर्णित सभी जड़-जंगम का गोत्र 'काश्यप' ही मान्य है। इसके अतिरिक्त ऋषिवंश वर्णन के प्रसंग में कश्यप को 'गोत्रकर' अर्थात गोत्रप्रवर्तक कहा गया है-

तयोर्गोत्रकरौ पुत्रौ तौ जातौ धर्मनिश्चितौ।[16]

ऋषिवंश-वर्णन में वायु पुराण में ऋषियों को वंश प्रवर्तक कहा गया है वशिष्ठादि ऋषियों के नाम पर गोत्रों की स्थापना हुई-

गोत्राणि नामभिस्तेषां वशिष्ठानां महात्मनाम्।[17]

इंद्र का बहु प्रचलित नाम शक्र है। यह नाम उनके वंश का वाचक है, ऐसा कुछ विद्वानों का मंतव्य है "ऋग्वेद में एक बार उन्हें कौशिक अर्थात कुशिकवंशीय कहा गया है; जिससे लगता है कि कश और शक्र में केवल अक्षरों का उलटफेर है।"[18]

गोत्रविस्तार और प्रतीक

ऋषिकुल के आधार पर प्रचलित गोत्र-परंपरा में विस्तार ऋषियों के वंश विस्तार के अनुसार ही हुआ होगा। यह ऋषि वंशावली निश्चित रूप से वेदों अथवा उनकी शाखाओं-प्रतिशाखाओं की रक्षा हेतु प्रचलन में आयी वेदों की अनेक शाखाओं के प्रचलन के साथ अनेक गोत्रों का प्रचलन हुआ। श्रौतसूत्रों

में वंश-विस्तार वर्णित है। वेदों की रक्षा के लिए वेदों की अनेक शाखाएं अथवा संहिताएं बनीं तो **सर्वप्रथम गर्ग ऋषि के आश्रम में शुक्लयजुर्वेद के पठन-पाठन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। अतः गर्ग ऋषि प्रथम गोत्रकार बने। गर्ग के बाद गौतम और फिर शाण्डिल्य ऋषि के आश्रम में यजुर्वेद और सामवेद के अध्ययन की परंपरा प्रारंभ हुई। वही आश्रम अब घर बन गए और गर्ग, गौतम और शाण्डिल्य इन तीन आश्रमों को प्रथम कोटि का आश्रम अथवा घर माना जाने लगा।**[19]

इस प्रकार यदि हम निष्पक्ष होकर गोत्र और उसके विस्तार पर विचार करें तो यह गोत्र-विस्तार वस्तुतः वैदिकसंहिताओं का शाखाओं- प्रतिशाखाओं में विस्तार है। भारतीय समाज में गोत्र-प्रचलन किसी ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित न हो कर वैदिक संहिताओं के वर्ण विषय की उत्कृष्टता तथा अवरता पर आधारित है यथा- **कुछ समय के बाद अन्य 13 ऋषियों के आश्रमों में वेदों की अन्य शाखों का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ। इन 13 ऋषियों का क्रम न मिलने से इन्हें सामान श्रेणी का माना जाने लगा। अथर्ववेद के पठन-पाठन की प्रक्रिया को उचित नहीं माना गया अतः अथर्ववेद को पढ़ने वाले ऋषि गर्ग, गौतम और शांडिल्य आदि ऋषियों की श्रेणी में नहीं आ सके।**[20] भारतवर्ष में ऋषि से तात्पर्य है- 'ज्ञान' अर्थात ऋषि-परंपरा का अर्थ ज्ञान-परंपरा है, ऋषियों को प्राण भी कहा गया है अर्थात ऋषि ही प्राणस्वरूप हैं जो अपने सभी गोत्रियों में प्रतिरूप होकर प्रतिभासित होते हैं-**असद् वा इदमग्र आसीद् इति।ऋषयो वाव तेऽसदासीत्।तदाहुः के ते ऋषयः इति। प्राणा वै ऋषयः।**[21]

भारतीय शिक्षणपरंपरा ऋषियों से निःसृत हुई है। अतः वह ऋषियों को निरंतर स्मरण करती हुई अपनी अजस्र धारा में चलायमान है, यही कारण है कि भारतीय जनमानस में अपने वंशप्रवर्तक ऋषियों को ऊंचा स्थान दिया गया है। **यहां शिक्षाक्रम में आकाश के तारामंडल का ज्ञान कराते हुए उत्तर दिशा में ध्रुव तारे की जानकारी देकर यह बताया जाता है कि इसके पास ही सप्तर्षियों के तारे हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ सर्वप्रथम उदित हुई आकाशीय ज्योतियों में ऋषियों की गणना करना इसी का प्रतीक है कि ऋषियों का उद्गम सर्वप्रथम हुआ, हम सभी ऐसा मानते हैं।**[22] ऋषियों की संख्या के आधार पर गोत्रों की संख्या निर्धारित की जा सकती है। इस वृहद् भारतीय परंपरा में **ऋषियों की संख्या अत्यधिक है किंतु 49 ऋषि ही गोत्रकार हुए हैं।**[23] यह गोत्रपरंपरा इतनी विस्तृत है कि सभी को ऋषि संबंधों से जोड़ती हुई समस्त भूमंडल को परिवार के रूप में परिणत कर देने की क्षमता रखती है। अतः गोत्र विस्तार क्षितिज के इस कोने से उसे कोने तक व्याप्त है। एक मात्र आवश्यकता है- गोत्र के सही अर्थ को जानने और समझने की। **जब सारी सृष्टि में ऋषि ही सर्वप्रथम हुए तो केवल ब्राह्मण ही उनसे उद्गत हुए, ऐसा क्यों माना जाए? क्षत्रिय वैश्य आदि जो वर्ण हैं वे सभी उन्हीं ऋषियों से उद्भूत हुए हैं.......... वे या तो उनके गोत्रज रहे अथवा गोत्रजों के शिष्य रहे।**[24]

बात यदि गोत्रों के प्रतीक या टोटेम की किया जाए तो स्वयं को वंशपरंपरा से जोड़ने के लिए मानव जितना बाध्य है, उस परंपरा का अनुपालन करने हेतु वह उससे अधिक स्वतंत्रत भी है। वह

अपने लिए गोत्र के प्रतीक को स्वीकार करने हेतु स्वतन्त्र है। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांन्त जनजातीय संस्कृति में दिखाई देता है-**अनुसूचित जनजातियों में ऐसी प्रथा है कि व्यक्तियों और समूहों के नाम पशु ,पक्षियों व पौधों के अनुसार रखे जाते हैं। यही नहीं एक वृक्ष विशेष जिस पर उसका नामकरण हुआ है वह उनकी दृष्टि में पवित्र माना जाता है।**[25]

प्रतीक के रूप में चुनी गयी वस्तुओं की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। जो भी वस्तु उन्हें पवित्र, उपयोगी या दैवीय प्रतीत होती है उसे वे अपने गोत्र के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। उन्हीं से अपना परिचय मानते हैं यथा- मीन -मछली, पिपल्लाद -पीपल पर रहने वाला अथवा पीपल का फल खाने वाला तोता, गर्ग-सांड, गौतम-सांड, उदुम्बर-गूलर, ऋषभ-बैल, तित्तिर -तीतर, कठ -कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा तथा व्याघ्र अर्थात् बाघ आदि। इसके अतिरिक्त कुछ जनजातियां पत्थरों दीवारों अथवा भित्तियों पर अंकित चित्रों को भी प्रतीक के रूप में स्वीकार करती हैं। **1991 ई.की की जनगणना में भारत की बहुत सी ऐसी जातियों और जनजातियों के नाम लिखे गए हैं जिनके नाम पशुओं, पक्षियों और वृक्षों पर आधारित थे। छोटा नागपुर,बंगाल, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश और पश्चिमी भारत में ऐसी अनेक जातियां हैं जिनमें व्यक्ति अथवा गण के नाम पशु-पक्षी अथवा पौधों पर आधारित हैं। इन पशु पक्षी एवं पौधों को वे पवित्र मानते हैं। इस प्रकार गोत्रों के प्रतीक के रूप में हाथी से चींटी अथवा कंकण से पर्वत पर्यंत किसी भी वस्तु को स्वीकार किया जा सकता है।**[26]

गोत्र : मान्यता और प्रासंगिकता

इस विज्ञान और तकनीक के युग में गोत्र की क्या प्रासंगिकता है? गोत्र की मान्यता कहां तक पालन करने योग्य है? इन प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। भारतीय सामाजिक परंपरा में अनेक ऐसे सामाजशास्त्रीय और व्यावहारिक पक्ष हैं जो गोत्र की मान्यता और गोत्र की प्रासंगिकता का स्पष्ट वर्णन करते हैं, जो आज के समाज में भी वैज्ञानिक स्तर पर मान्य, सत्य, शिव और शुद्ध है।

सगोत्री विवाह के लिए शास्त्र स्पष्ट शब्दों में निषेध करते हैं।[27] सगोत्र से भिन्न अर्थात असगोत्री तथा माता पक्ष से सातवीं पीढी से असंबद्ध विवाह करना चाहिए।[28] गोत्र में भिन्नता रखते हुए भी समान वर्ण और जाति का विवाह करना चाहिए। गोत्र समान होने पर विवाहोपरान्त होने वाली संतानों में कुछ जीन संबंधी विकृतियां तथा शारीरिक समस्या देखी जाती है। इन्हीं समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय सामाजिक परंपरा में गोत्र का प्रचलन है। जाति और वर्ण में एकता आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक जाति और वर्ण में परस्पर संस्कारगत वैभिन्न के साथ-साथ जीन-संबंधी भिन्नता भी देखी गई है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन युद्ध से होने वाली विभीषिका में वर्णसंकरता का संकेत करते हैं-

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः[29]

शास्त्रों के अतिरिक्त अनेक वैज्ञानिक अध्ययनों और शोधों में भारतीय परंपरागत विवाह का समर्थन किया गया है; यथा- **दैनिक भास्कर**[30] में इंडियन साइंस कांग्रेस के 84 वें वार्षिक सम्मेलन में

वैज्ञानिकों ने यह रहस्योद्घाटन किया कि एक समुदाय में हानिकारक न रहने वाले जींस दूसरे समुदाय में अत्यंत हानिकारक प्रभाव छोड़ सकते हैं। **The Times of India**[31] में यह समाचार प्रकाशित हुआ है-*noble unit gems Watson considered to be the father of DNA technique has provided a short in the arm of traditionalism tradition list according to him jeen full get later in arrange marriages.* गोत्र परंपरा सभी के लिए अनुपालनीय है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है की गोत्र परंपरा का निर्वाह और उसके लिए चुने गए प्रतीकों के पीछे वैज्ञानिक और पारंपरिक मान्यताएं हैं जो भारतीय ज्ञान-परंपरा के अमूल्य वरदान और अक्षय प्रसाद हैं। **डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल**[32] लिखते हैं कि गोत्र नाम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग नाम भी होता था इसीलिए महाभारत,जातक आदि प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनों के विषय में पूछा जाता था। सर्वप्रथम गोत्र-नाम की परंपरा ऋषियों के नाम से प्रारंभ हुई; जमदग्नि, गोतम, भरद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र और अत्रि के नाम पर प्रमुख रूप से आठ गोत्रनाम प्रचलित हुए। कालान्तर में विशेष कीर्ति के कारण अन्य व्यक्तियों के नाम पर भी विविध गोत्र चल पड़े, यहां तक कि स्थान विशेष के आधार पर भी गोत्रनाम प्रारम्भ हो गये।इन सब की गणना गोत्रगण के नाम से की गयी है।मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अन्तर्गत आने वाले गोत्रगणों की सूची **बौधायन श्रौतसूत्र** के अन्त में प्राप्त होती है जिसे **महाप्रवरकाण्ड** कहते हैं।इस सूची में लगभग एक सहस्र नाम हैं। जाति की अपेक्षा गोत्र परंपरा का अनुपालन आवश्यक है इस संबंध में **टाइम्स आफ इंडिया**[33] में बताया गया है कि जेनेटिक्स (उत्पत्ति विषयक शास्त्र) वंश परंपरा का मूल कारण नहीं है। वंशपरंपरा तो जातिवाद से भी बहुत पहले विद्यमान थी। अतः गोत्र-परंपरा (वंशपरंपरा) ही हम सभी की अस्मिता का मूल उत्स है।

सन्दर्भ -

1.अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुभूतो नित्यधर्मः सामान्यम्,पृष्ठ-6,तर्कसंग्रहः, डॉ.आद्याप्रसाद मिश्र

2.यस्मिन् देशे य आचार:पारम्पर्यक्रमागत:(मनु.)

3. गोत्र और ऋषि परम्परा (पण्डित हेमन्त रिछारिया)

4.प्रस्तावना, गोत्रप्रवर्तक ऋषि संक्षिप्त परिचय, डॉ.रघुनाथप्रसाद तिवारी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर।

5.प्रस्तावना, भारत में गोत्रों उपनामों का इतिहास,S.S.Gautam,सिध्दार्थ बुक्स दिल्ली,2022

6.यम-यमी संवाद सूक्त, ऋग्वेद 10/10

7.अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्(अष्टाध्यायी-4.1.95)

8.एको गोत्रे (अष्टा.-4.1.93)

9.गर्गादिभ्यो यञ्(अष्टा.-4.1.109)

10.तस्यापत्यम्(अष्टा.-4.1.92)

11.जीवति वंशे तु युवा(अष्टा.-4.1.163)

12.गोत्राद् युन्यस्त्रियाम्(अष्टा.-4.1.103)

13.मनुस्मृति,(3.201)

14.वायु पुराण, श्लोक -13

15.वायु पुराण, श्लोक-27

16.वायु पुराण, श्लोक-13,200ऋषिवंश वर्णन

17.वायु पुराण, श्लोक-38, पृष्ठ -202,ऋषिवंश वर्णन
18. गोत्र क्या है इसकी उत्पत्तिकैसे हुई? (डॉ.भगवान सिंह)
19.सरयूपारीण ब्राह्मण वंशावली, पृष्ठ -11
20.वही
21.शतपथ ब्राह्मण (6.1.1.1)
22.गोत्रप्रवर्तक ऋषि संक्षिप्त परिचय, डॉ.रघुनाथप्रसाद तिवारी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर।
23.सरयूपारीण ब्राह्मण वंशावली, पृष्ठ -11
24.गोत्रप्रवर्तक ऋषि संक्षिप्त परिचय, डॉ.रघुनाथप्रसाद तिवारी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर।
25.प्रस्तावना,भारत में गोत्रों उपनामों का इतिहास,S.S.Gautam,सिध्दार्थ बुक्स, दिल्ली -2022
26.वही.
27.न सगोत्रां न समानार्षप्रवरां भार्य्यां विन्देत्(विष्णुस्मृति -24)
28.श्रीमद्भगवद्गीता(अध्याय1.41)
29.असगोत्रान् मातुरसपिण्डान्(गोभिलगृह्यसूत्र 3/3/4-5
30.जयपुर संस्करण (दिनांक -15/1/1997)
31.पाणिनिकालीन भारतवर्ष,पृष्ठ-105-6
32.The Times of India, Chennai (7/1/1999)
33.इण्डियन साइंस कांग्रेस,86वां सम्मेलन,The Times of India

भविष्यदत्त महाकाव्य में प्रतिपादित आचार मीमांसा : एक विमर्श

• प्रो. टेकचन्द मीना
• चिरञ्जीत सरकार

शोधसार– प्रस्तत शोध-पत्र में महाकवि विबुध श्रीधर द्वारा विरचित *भविष्यदत्त महाकाव्य* में जैन दार्शनिक तत्त्वों में आचारमीमांसा का समावेश है। आचार मींमांसा तत्त्वों का इन्होंने बड़े ही सुन्दर शैली में परिभाषित करते हुए उनके महत्त्व को भी स्पष्ट किया है। तथा इनके पालन से होने वाले पुण्य फल का भी वर्णन किया है। यह सत्य ही है कि आज भी यदि कोई व्यक्ति जैन आचार मीमांसा का पालन करे, तो निश्चित रूप से वह आत्मोन्नति करेगा। इन्होंने अति स्वल्प श्ब्दों में जैन दर्शन के अतिगूढ तत्त्वों का स्पष्टतया वर्णन करके सहृदय-जनों को दर्शन का बोध कराया है। अतः कह सकते है कि इनका महाकाव्य दार्शनिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है, जो महाकाव्य को उत्कृष्टता की श्रेणी में स्थापित करता है।
बीज शब्द– भविष्यदत्त, आचार मीमांसा, अविनश्वर सुख, पंचमहाव्रत

प्रस्तावना– प्रस्तुत शोध-पत्र में मध्यकालीन कवि विबुध श्रीधर द्वारा विरचित *भविष्यदत्त महाकाव्य* में प्रतिपादित जैन तत्त्वों में “आचार मीमांसा” का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह महाकाव्य पाञ्चमी महाव्रत के माहात्म्य को प्रतिपादित करता है, जिसमें कवि ने विभिन्न जैन दार्शनिक तत्त्वों को परिभाषित किया है और उनके महत्त्व को स्पष्ट किया है। इस महाकाव्य में जैन आचार मीमांसा को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जिसे इस शोध-पत्र में विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

जैन आचार मीमांसा- आचर्यते इति आचारः, जिसका आचरण किया जाय है, वह आचार है। आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय के योग से आचार शब्द का निर्माण होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है आचरण करना। जैन धर्म में आचारों का पालन जीवन के हर क्षेत्र में आत्मोत्थान और समाजोत्थान

* प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

के लिए अनिवार्य माना गया है। जैन आचार में दो प्रमुख वर्ग होते हैं – श्रावक और साधु। साधु वर्ग राग-द्वेष से मुक्त रहता है और वह श्रावकों को आत्म-कल्याण एवं समता भाव का उपदेश देता है, जबकि श्रावक गृहस्थ जीवन जीते हुए भी अपने आचारों के माध्यम से आत्मोत्थान की दिशा में अग्रसर होते हैं।[1]

षट् कर्म–साधु वर्ग के लिए महाव्रत और श्रावकों के लिए अणुव्रतों का पालन अनिवार्य है। श्रावकों के षट्कर्म में देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान आदि आते हैं।[2] कवि ने *भविष्यदत्त महाकाव्य* में इसे संसार के भौतिक सुखों के लिए आवश्यक बताते हुए यह कहा है कि लोग इन कर्मों का निरंतर पालन करते हैं।[3]

रत्नत्रय–जैन दर्शन का सर्वोच्च उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। इसके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का पालन करना आवश्यक है। यह तीनों तत्त्व रत्नत्रय के रूप में जाने जाते हैं और इन्हें ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है। कवि विबुध श्रीधर ने रत्नत्रय का महत्त्व अपनी काव्य शैली में बहुत ही सुंदरता से व्यक्त किया है, यह *भविष्यदत्त महाकाव्य* के मङ्गलाचरण में रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र) को सम्पूर्ण संसार रूपी अज्ञानान्धकार का विनाशक बताते हुए उन्हें नमन करते है।[4] इन्होंने मोक्ष को परमानन्ददायक एवं अविनश्वर सुख देने वाला कहा है-**"यत्राविनश्वरं सौख्यं परमानन्ददायकम्"**[5] तत्कालीन राजाओं द्वारा भी रत्नत्रय को धारण करने का वर्णन मिलता है।[6] सम्यक्–तत्त्व को रत्नत्रय का आधार के रूप में प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार रथ के चक्र का मुख्य अङ्ग उसकी धूरी होती है, उसी प्रकार सम्यक्–तत्त्व रत्नत्रय का आधार है।[7]

सम्यक् दर्शन–सम्यक् दर्शन का अर्थ श्रद्धा रखना है। यह किसी भी तत्त्व, जीव और अजीव के प्रति सच्चे दृष्टिकोण को अपनाने का नाम है।[8] कवि ने इसे युक्ति संगत वचनों में विश्वास रखने के रूप में परिभाषित किया है, जिसमें किसी प्रकार का पक्षपाती या द्वेषभाव न हो।[9]

सम्यक् ज्ञान–

सम्यक् ज्ञान वह है, जो भ्रम, संदेह और मोह से मुक्त होकर तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता है।[10] कवि के अनुसार सम्यक् ज्ञान का अर्थ है तत्त्वों का सही रूप में ज्ञान होना, जिससे मिथ्या दृष्टि समाप्त होती है और जीव-अजीव के भेद का ज्ञान होता है।[11]

मोक्ष प्राप्ति में सहायक तथा मिथ्या दृष्टि के निवारण में सहायक शास्त्र एवं आचार्यों आदि तीर्थङ्करों का उपदेश भी सम्यग्ज्ञान होता है।[12] सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का होता है- मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान। उक्त पाँचों ज्ञानों में प्रथम मतिज्ञान को परोक्ष माना जाता है तथा शेष चार ज्ञानों को प्रत्यक्ष माना जाता है।[13]

महाकाव्य में कवि कहते है कि ज्ञानावरण कर्मों के फल स्वरूप सुमति आदि प्रथम चार ज्ञानों की उत्पत्ति होती है, गुरु भक्ति से मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान की आराधना करने से निश्चित् रूप से मोक्ष प्रदान

करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त होता है।[14] इन तीनों ज्ञानों का अष्टाङ्गों (कालाध्ययन, उपधान, सम्मान, अनिन्ह्व, प्रश्रय, अक्षर-शुद्धि, अर्थशुद्धि एवं उभय शुद्धि) के साथ सत्पुरुषों को पालन करने का निर्देश दिया गया है।[15]

सम्यक् चारित्र – सम्यक् चारित्र जीवन के सबसे महत्वपूर्ण अंगों में से एक है, क्योंकि यह ही मानव जीवन को साधारण से महात्मा बना सकता है।मानव चरित्र के दो अंग होते हैं-प्रथम प्रवृत्तिमूलक- जो जन्म-मृत्यु का कारण बनता है। द्वितीय निवृत्तिमूलक- जो मोक्ष का कारण बनता है।

सर्वदर्शन संग्रह में सम्यग्चारित्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि **"सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते"**[16] अर्थात् सभी प्रकार के निन्दित कर्मों का परित्याग करना ही सम्यग्चारित्र है और यह अहिंसा आदि के भेद से पाँच प्रकार का है[17]- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। पातञ्जल योग दर्शन में इन्हें यम के नाम से जाना जाता है।[18]

महाकवि विबुध श्रीधर भी सम्यग्चारित्र को कुछ इसी प्रकार से परिभाषित करते हुए कहते है कि मन, वचन एवं काय से जीवों की हिंसा न करना, असत्य वचन न कहना, बिना दिया हुआ धनादि वस्तुओं का ग्रहण न करना और अब्रह्म का सदैव त्याग करना, सम्यग्चारित्र कहलाता है।[19]

मनुष्य के राग-द्वेष आदि छः शत्रुओं को त्यागने के लिए जिस आचरण को अपनाया जाता है, उसे ही सदाचार या सम्यग्चारित्र कहा जाता है।

इनके अनुसार सभी प्रकार के कर्मों के त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए जैन दर्शन में नवीन कर्मों पर रोक लगाने के लिए और पूर्व कर्मों में क्षीणता लाने के लिए कुछ उपाय बताये गये हैं, जैसे- १. पंचमहाव्रत, २.समिति, ३.गुप्त, ४.धर्म, ५. अनुप्रेक्षा ६. परिषहजय, ७.चरित्र

पंचमहाव्रत – जैन दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, और ब्रह्मचर्य ये पांच महाव्रत कहलाते है और योग दर्शन में यम। जैनियों के अनुसार श्रमणों को इन पाँचों महाव्रतों का पालन करना अत्यावश्यक है और गृहस्थजनों को इनका आंशिक रूप का पालन करना चाहिए, जो अणुव्रत कहलाता है।

(क)अहिंसा – उक्त पंचमहाव्रतों में अहिंसा व्रत सबसे महत्त्वपूर्ण है, मनुस्मृति में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है।[20] विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना ही अहिंसा है।[21] जैन दर्शन में सूक्ष्म से अति सूक्ष्म प्राणियों को भी कष्ट पहुँचाना हिंसा, पाप माना गया है। हिंसा दो प्रकार के हैं-

१.कषाय- जो प्रतिक्रिया में किसी के प्रति की जाती है।

२.अयत्नाचार- अनजाने में किया गया हिंसा अयत्नाचर कहलाता है। जैसे चलने-फिरने में अनजाने में किसी जीव की हत्या करना।

कवि *भविष्यदत्त महाकाव्य* में पंचमहाव्रत के बारे में कहते है कि मनसा, वचसा एवं कर्मणा किसी भी जीव को हानि न पहुँचाना अहिंसा महाव्रत कहलाता है, कभी किसी से असत्य भाषण न करना सत्य

महाव्रत कहलाता है, बिना अनुमति के किसी की कोई वस्तु आदि का ग्रहण न करना अस्तेय महाव्रत कहलाता है, ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहलाता है तथा आवश्यकता से अधिक वस्तु आदि का संग्रह न करना अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है।[22]

(ख) सत्य – सत्य को भगवान का स्वरूप माना गया है- **तं सच्चं खु भगवम्" ।** मन, वचन एवं कर्म से यथा दृष्ट, यथाश्रुत वस्तु स्वरूप का कथन करना ही सत्य है। जैन दर्शनों में चार प्रकार के असत्य कथनों का वर्णन मिलता है-

१. किसी यथार्थवस्तु का स्वरूप, काल, एवं स्थान आदि के विषय में मिथ्या कथन करना।

२.किसी अयथार्थवस्तु के बारे में मिथ्या कथन करना।

३.किसी वस्तु क यथार्थ स्वरूप को छूपाकर, किसी दूसरे रूप में वर्णन करना।

४. अहित, अमंगल और अप्रिय वचन बोलना।

उक्त चार प्रकार के मिथ्या कथनों का परित्याग करना ही सत्य कहलाता है।

सत्य का पालन करने में कुछ बाधाएँ आती है, जिन्हें दोष कहा जाता है, जैसे-१.सहासाभ्याख्यान, २.रहस्यभेद, ३.स्वदारमन्त्रभेद, ४.मृषपदेश, ५.कूटलेखकरण।

(ग)अस्तेय – अस्तेय शब्द अ उपसर्ग पूर्वक स्तेय शब्द से बना है, अ यहाँ पर निषेध अर्थ में है और स्तेय का अर्थ है- चोरी करना। इसप्रकार अस्तेय का अर्थ हुआ चोरी न करना। जैनदर्शन में अस्तेय का अर्थ है मन, वचन तथा कर्मणा चोरी का त्याग करना। अर्थात् चोरी के विषय में सोचना, किसी को चोरी के लिए प्रेरित करना तथा स्वयं चोरी करना ये स्तेय कहलाता है और इन सबका परित्याग ही अस्तेय कहलाता है।

इसमें चार प्रकार के चोरी (स्तेय) बताया गया हैं- द्रव्य चोरी, क्षेत्र चोरी, काल चोरी और भाव चोरी।

इनके अतरिक्त और भी पांच प्रकार के चौरवृत्ति का उल्लेख मिलता है- चोरी करना, चोरी की गयी वस्तु का क्रय करना, नाप-तोल में हेरा-फेरी करना, यथार्थ मूल्य से अत्याधिक मूल्यों पर विक्रय करना। इन चौरवृत्ति का सर्वथा परित्याग ही अस्तेय कहलाता है।[23]

(घ) ब्रह्मचर्य – जैन दार्शनिक उमास्वाति का कहना है कि गुरुकुलों में रहकर ज्ञान वृद्धि मे संलग्न होना ही ब्रह्मचर्य है। इसका प्रमुख उद्देश्य है- व्रतपालन करना, ज्ञान की वृद्धि करना, कषायों पर विजय पाना।[24] सुत्रकृतांगसूत्र की शीलांक कृत टीका में कुछ इसी प्रकार से ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए कहते है कि- जिसमें सत्य, तप, तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव हो, इन्द्रियनिग्रहरूप ब्रह्म का अनुष्ठान हो, उसे ब्रह्मचर्य कहा जाता है।[25]

जैनियों के अनुसार ब्रह्मचर्य केवल इन्द्रियजन्य सुख का परित्याग ही नहीं, अपितु सभी प्रकार की कामनाओं, वासनाओं का परित्याग करना भी है।[26]

(ङ) अपरिग्रह – आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना ही अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने पर आत्मा क्षरित हो जाती है, क्योंकि जहाँ संग्रह की इच्छा होती है, वहीं पर अहंकार होता है। फिर चाहे वह धन सम्पत्ति की इच्छा हो अथवा मान-प्रतिष्ठा आदि की। और जहाँ पर अहंकार होता है, वहाँ अज्ञानता भी होती है। अतः विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव रखना ही अपरिग्रह है।

पंचाणुव्रत – जिसमें व्रतों का पूर्णरूप से पालन न होकर केवल आंशिक रूप में पालन किया जाता है, वह अणुव्रत कहलाता है, यह श्रावक जनों के लिए विधान किया गया है।

कवि कहते है कि जो सद् गृहस्थी जन इस संसार मार्ग से भयभीत रहते हैं, वें अपने जीवन को उन्नति की ओर ले जाने के लिए अथवा आत्मोन्नति के लिए पंच महाव्रतों का स्थुल रूप से पालन करें ।[27]

अहिंसाणुव्रत – जैन धर्म के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं- स्थावर जीव तथा त्रसजीव। त्रसजीवों की हिंसा का त्याग, जान-बूझकर किसी की हत्या करना, घर की स्वच्छता में सावधानीपूर्वक कार्य करना, जिससे किसी जीव की हत्या न हो। श्रावकों द्वारा इन सब नियमों का पालन करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

महाकवि विबुध श्रीधर अहिंसाणुव्रत को परिभाषित करते हुए कहते है कि दृष्टि- मुष्टि प्रहार से, तन्त्र-मन्त्र शास्त्र आदि से, मन, वचन एवं शरीर से किसी इन्द्रियधारी जीवों की हिंसा न करना ही अहिंसाणुव्रत कहलाता है।[28]

सत्याणुव्रत – इसमें श्रावक स्थूल रूप से असत्य का त्यागी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें न तो कोई असत्य वचन कहता है, और न ही किसी और को असत्य कहने के लिए प्रेरित करता है। इसमें ऐसा सत्य का भी निषेध किया गया है कि जिससे किसी को दुःख पहुँचे अथवा किसी की हत्या हो जाय। किसी को विश्वास दिला कर धोखा न देना, अधिकाधिक असत्य वचन से बचने का प्रयास करना, इन नियमों का पलन करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

कवि कहते है कि संतापकारी एवं भय उत्पन्न करने वाला मिथ्या वचनों का प्रयोग न करना स्थुल सत्याणुव्रत कहलाता है।[29]

अचौर्याणुव्रत – इसमें स्थूल चोरी का त्याग किया जाता है। किसी की कोई वस्तु आदि को अनुमति के बिना ग्रहण न करना, न ही किसी और को देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

इस पर कवि कहते है कि दूसरों के धन को आज्ञा के बिना ग्रहण न करना स्थुल चौर्याणुव्रत कहलाता है।[30]

ब्रह्मचर्याणुव्रत – किसी दूसरे की स्त्री को माता, बहन की दृष्टि से देखना, अपने ही पति/पत्नी में सन्तुष्ट रहना, किसी के प्रति कुदृष्टि न रखना, राजसिक भोजन का त्याग करना, इन्द्रियों को संयमित रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

इस पर कवि कहते है कि परस्त्री को माता की दृष्टि से देखना, उनके प्रति किसी प्रकार की राग-भावना का न रखना स्थूल ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।[31]

अपरिग्रह अणुव्रत – श्रावकजनों को अपनी आवश्यकता से अधिक सामग्रियों का संग्रह नहीं करना चाहिए। फिर चाहे वह धन-धान्य में हो अथवा खेतों की सीमा आदि हो। इस नियम का पालन करना ही अपरिग्रह अणुव्रत कहलाता है।

कवि कहते है कि समस्त प्रकार की उपभोग्यादि वस्तुओं का संग्रह में परिमाण करना स्थूल अपरिग्रहाणुव्रत कहलाता है।[32] श्रावक को इन पाँच अणुव्रतों का निश्चित रूप से पालन करना चाहिए।

पञ्च समिति – समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति अर्थात् सावधानी पूर्वक कार्य करना। सर्वदर्शन-संग्रह में समिति को परिभाषित करते है- **"प्राणिपीडापरिहारेण सम्यगयनं समितिः"**[33] अर्थात् प्राणियों के कष्टों को दूर करते हुए सत् व्यवहार करना समिति कहलाता है। और यह समिति पाँच प्रकार की होती है[34]।

१.ईर्या समिति:- मार्ग आदि में विचरण कर रहें क्षुद्र-क्षुद्र जीवों की रक्षा हेतु सदैव चार कदम आगे की ओर देखते हुए चलने को ईर्या समिति कहा जाता है।

ईर्या समिति को परभाषित करते हए महाकवि कहते है कि मनुष्य को इसप्रकार चलना / गमन करना चाहिए, जिससे की जीवों की हत्या न हो-"यथा न जीवघातः स्यात् क्रियते गमनं तथा"[35]

२.भाषा समिति:- जिसमें हितकारी वचन, अनिन्दनीय वचन, प्रिय वचन एवं अपनी बाणी पर संयम रखते हुए कम बोला जाता है, वह भाषा समिति कहलाती है।

इस पर कवि कहते है कि विकथाओं(स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र या राजनीति कथा आदि) का त्याग करना और हितकारी वचन, मितवचन तथा प्रियवचनों का प्रयोग करना भाषा समिति के रूप में जाना जाता है।[36]

३.एषणा समिति:- इसमें विधिपूर्वक विशुद्ध आहार ग्रहण किया जाता है।

इस पर कवि कहते है कि दोषमुक्त एवं शुद्ध भोजन करना एषणा समिति कहलाता है।[37]

४.आदान समिति:- जिसमें आसन आदि का अच्छे प्रकार से निरीक्षण करके उसका ग्रहण करना, किसी वस्तु का स्थापन करना अथवा उत्थापन करना आदि आदान समिति कहलाता है। इस पर कवि कहते है कि देख-परख कर किसी वस्तु को उठाना-रखना आदान समिति है।[38]

५.उत्सर्ग समिति:- किसी निर्जन, निर्जन्तु स्थान पर मल-मूत्र आदि का त्याग करना उत्सर्ग समिति कहलाता है।

छिद्र रहित स्थान, निर्जीव स्थान पर मल-मूत्रादि का त्याग करना व्युत्सर्ग समिति है।[39]

गुप्ति – गुप्तियों को संवर का कारण माना जाता है, मन वचन एवं काय की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने का नाम गुप्ति है। यह तीन प्रकार की है- १. कायगुप्ति:- इसमें शरीर को संयमित रखा

जाता है। २.वाग्गुप्तिः- इसमें वाणी पर नियन्त्रण रखा जाता है। ३.मनोगुप्तिः- इसमें चञ्चल मन को अपने वश में रखा जाता है।

धर्म – जैनियों में धर्म तथा अधर्म दो शक्तियाँ हैं, जो गति और स्थिरता को नियन्त्रित करती है। आत्मस्वरूप की ओर ले जाने वाले समाज को संधारण करने वाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म कहलाता है। इसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, सत्य, तप, त्याग, अकिञ्चन और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म का लक्षण बताया गया हैं[40], जो श्रावक तथा श्रावकों के लिए समान भाव से आचरण योग्य है।

कर्म – जैनों के अनुसार ईश्वर किसी प्रकार का फल नहीं देता, अपितु कर्म स्वयं अपना फल प्रदान करता है। इसमें कर्म को घाती तथा अघाती के रूप में दो भागों में विभाजित किया गया है। चार प्रकार का घाती कर्म होता है तथा चार प्रकार का अघाती कर्म। जो ज्ञान को आवरित करे, दर्शन को आवरित करे, मोह उत्पन्न करे और अन्तराय हो वह घाती कर्म कहलाता है। तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय आघाती कर्म कहलाता है। इन कर्मों का भी भेदोपभेद के रूप में कर्म १४४ प्रकार के हो जाते हैं।

पञ्चविध आचार – महाकवि दिगंबर मुनियों के पाच प्रकार के आचारों का वर्णन करते हुए कहते है कि अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले आचार को ज्ञानाचार, दर्शनावरण कर्म का निवारण करने वाले आचार को दर्शनाचार कहते है, इनके अतिरिक्त तपाचार, वीर्याचार तथा चरित्राचार हैं, इन पाचों आचारों का वर्णन जिनागम में मिलता है।[41]

उपसंहार - प्रस्तत शोध-पत्र में महाकवि विबुध श्रीधर द्वारा विरचित *भविष्यदत्त महाकाव्य* में जैन दार्शनिक तत्त्वों में आचारमीमांसा का समावेश है। आचार मींमांसा तत्त्वों का इन्होंने बड़े ही सुन्दर शैली में परिभाषित करते हुए उनके महत्त्व को भी स्पष्ट किया है। तथा इनके पालन से होने वाले पुण्य फल का भी वर्णन किया है। यह सत्य ही है कि आज भी यदि कोई व्यक्ति जैन आचार मीमांसा का पालन करे, तो निश्चित रूप से वह आत्मोन्नति करेगा। इन्होंने अति स्वल्प श्ब्दों में जैन दर्शन के अतिगूढ तत्त्वों का स्पष्टतया वर्णन करके सहृदय-जनों को दर्शन का बोध कराया है। अतः कह सकते है कि इनका महाकाव्य दार्शनिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है, जो महाकाव्य को उत्कृष्टता की श्रेणी में स्थापित करता है।

सन्दर्भ -

[1] सं.वा.बृ.इति. द्वादश खण्ड, जैन आचार मीमांसा.पृ-१८०

[2] देवपूजा गरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥ वहीं.पृ-१८९

[3] षट्कर्माणि करोत्येव समस्तोऽपि जनोऽनिशम् ॥ भ.म.१४/७१

[4] दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रितयमुत्तमम्।
नमाम्यसारसंसारासातसन्ततिसातनम् ॥ भ.म.१/६

[5] वहीं.१२/५

[6] वहीं.४/७०

[7] यथा नाभी रथाङ्गस्य सतां सारतरं मतम्।
तथा रत्नत्रयस्यापि ज्ञेयं सम्यक्त्वमङ्गिभिः ॥वहीं.१२/६

8 नं सम्यग्दर्शनमिति, तत्त्वार्थसूत्र-उमास्वाति, उद्धृत भा.द.पृ-२३३
9 न मे पक्षपातः न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तद् ग्राह्यं वचनं मम। षड् दर्शनसमुच्चय की टीका, उद्धृत भा.द.पृ-२३४
10 यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा। योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञनं मनीषिणः॥ इष्टोपदेश.३३
11 स्वपरान्तरं जानाति यः स जानाति।
एवं पवद्यनसारं पचत्थिय संग्रहं किमाणिता।
जो मयदि रागदोशेगाइदि दुःखपरिमोक्खम्॥ पंस्तिकाय./ भा.द.पृ.२३४
12 एवं पवद्यनसारं पचत्थिय संग्रहं किमाणिता।
जो मयदि रागदोशेगाइदि दुःखपरिमोक्खम्॥ पंस्तिकाय./ वहीं.पृ.२३४
13 तत्राद्यं परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत्" स.द.सं./ अर्हत् दर्शन.१०
14 ज्ञाने मतिश्रुती येनाराधिते गुरुभक्तितः।
साम्प्रतं केवलं तेन बिना भ्रान्त्या शिवप्रदम्॥भ.म.१२/२९
15 ज्ञानमेतत्त्रिधा पुंसां सेवनीयं प्रयत्नतः" वहीं.१२/३०
16 स.द.सं.अर्हत् दर्शन.२१
17 कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा" वहीं.२१
18 अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः" योगदर्शन.३०
19 न् हन्तव्यास्त्रिधा जीवा न वक्तव्यं वचोऽनृतम्।
नादत्तं द्रविणं ग्राह्यं त्यज्यमब्रह्म सर्वदा॥भ.म.१२/३२
20 अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥23॥ (महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय 115 – दानधर्मपर्व)
21 भा.द.पृ.२३५
22 न् हन्तव्यास्त्रिधा जीवा न वक्तव्यं वचोऽनृतम्।
नादत्तं द्रविणं ग्राह्यं त्यज्यमब्रह्म सर्वदा॥भ.म.१२/३२
23 भा.द.पृ.२३७
24 तत्त्वार्थसूत्राधिगमभाष्य.९.६
25 सूत्रकृतांगसूत्र की शीलांक टीका, उद्धृत भा.द.पृ-१३८
26 भा.द.पृ.२३८
27 ये पुनः श्रावकाः राजन् भवन्ति भवभीरवः।
धारयन्तिस्म ते स्थुलाणुव्रतानि शुभाशयाः॥ भ.म.१२/४३
28 न दृष्टिमुष्टिसंधानं विधाय करुणापरैः।
हन्तव्याः प्राणिनस्त्रेधा चतुर्द्धा द्वीन्द्रियादयः।। वहीं.१२/४४
29 नालीकवचनं वाच्यं परसंतापभीतिदम्। वहीं.१२/४५
30 परकीयं धनं ग्राह्यं न क्वापि विशदाशयैः। वहीं.१२/४५
31 सदा मनसि मातेव द्रष्टव्या परकामिनी। वहीं.१२/४६
32 परिग्रहस्य सर्वस्य विधेया परिमा नरैः। वहीं.१२/४६
33 स.द.सं.२५
34 सेर्या भाषादिभिः पञ्चधा" वहीं.२५
35 भ.म.१२/३४
36 विकथा दूरतस्त्याज्या" वहीं.१२/३४
37 विशुद्धं गृह्यतेऽनशम्" वहीं.१२/३४
38 विलोक्यादाननिक्षेपविधानं प्रविधीयते" वहीं.१२/३५
39 विलोक्यादाननिक्षेपविधानं प्रवधीयते। व्युत्सर्गं च गतच्छिद्रे निर्जीवे पृथिवीतले॥वहीं.१२/३५
40 दशधा धर्मलक्षणम्" तत्त्वार्थ सूत्र.९.६
41 प्रथमो जिनागमे प्रोक्तो ज्ञानाचारस्तमोपहः।
द्वितीयो दर्शनाचारो दर्शनावरणापहः॥भ.म.१२/३८

कविरत्न मेधाव्रताचार्य की रचनाओं में प्रतिबिंबित त्रैतवाद

• गुलसा

शोधसार - आचार्य मेधाव्रत 20वीं शताब्दी के संस्कृत कवियों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। महाराष्ट्र के नासिक जिले में येवला नामक गांव में जन्मे कवि की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल एवं आर्य समाज के वातावरण में हुई। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके सिद्धांत, प्रमुखतः सामाजिक कुरीति-उन्मूलन, राष्ट्रभक्ति, मानवीय मूल्य, ईश्वर भक्ति, जीव-जगत् की उत्पत्ति-स्थिति आदि दार्शनिक विषय इत्यादि उनके कविकर्म के मुख्य उपजीव्य रहे। स्वामी जी के 'त्रैतवाद' सिद्धांत का प्रतिबिंब समीक्ष्य कवि की कृतियों में अनेकत्र सुलभ है। जिसके अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों तत्व सत्य, अनादि, नित्य एवं स्वतन्त्र हैं। ईश्वर प्रकृति रूपी उपादान से सृष्टि रचता है। जीव जगत् में रहकर स्वेच्छया कर्म करता है तथा ईश्वर कर्मानुसार फल देता है। समीक्ष्य कवि के दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य, विरजाचरितम्, प्रकृतिसौंदर्यम्, दयानन्दलहरी तथा दिव्यानन्दलहरी इत्यादि काव्य रचनाओं में त्रैतवाद जैसे गूढ दार्शनिक सिद्धान्त से सम्बन्धित पद्य प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में कवि के साहित्य में प्रदर्शित त्रैतवाद पर वैदिक साहित्य के प्रमाणपुरस्सर विचार किया गया है।

बीजशब्द- त्रैतवाद, वैदिक-सिद्धांत, ईश्वर, जीव, प्रकृति, चेतन, अचेतन आदि।

प्रस्तावना- कान्तासम्मित शैली में उपदेश प्रदान कर जनमानस का पथप्रशस्त करना ही साहित्य का ध्येय है। काव्यकृतियों में कवि द्वारा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य सांसारिक विषयों के साथ-साथ अनेकत्र प्रसंगानुसार दार्शनिक विषयों को भी संकेतित किया जाता है। इस क्रम में गूढ दार्शनिक मत वर्ण्यविषय के आधार पर अथवा कवि की यथेष्ट वैचारिकी के आधार पर प्रदर्शित होते हैं। 7 जनवरी 1893 ई. को महाराष्ट्र के नासिक जिले के येवला गांव में जन्मे कविरत्न आचार्य मेधाव्रत का कविकर्म स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज के सिद्धान्तों व

* शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, हिंदू कॉलेज मुरादाबाद

विद्वान महापुरुषों के चरिताख्यान पर विशेषतया केन्द्रित है। वैदिक सिद्धान्तों पर आश्रित दार्शनिक चिन्तन भी इनकी रचनाओं में सुलभ है।

विषयप्रतिपादन-कविरत्न मेधाव्रताचार्य की कृतियों में प्रतिबिंबित दार्शनिक मन्तव्यों का आधार वैदिक या स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित विचार रहे हैं। स्वामी जी के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त त्रैतवाद की छाया स्पष्टतया इन पर देखी जा सकती है। वैदिक दार्शनिक विचारों को कविरत्न ने अपनी अनेक गद्य एवं पद्यात्मक रचनाओं में यथास्थान प्रदर्शित कर समाज को दिशा प्रदान की है।

आचार्य मेधाव्रत की दार्शनिक विचारधारा यथार्थवादी एवं वेदानुसारी है। वे त्रैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को स्वीकार करते हैं। दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य में कवि ने बताया है कि ईश्वर, जगत तथा जीव तीन तत्व को वास्तविक सत् हैं। इनको देखने के लिए ज्ञान-नेत्रों की आवश्यकता है। जीव भोक्ता है, ईश्वर कर्मफल प्रदाता है तथा प्रकृति से संसार बनता है।[1]

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही अनादि एवं अविनाशी सत्ताएं है। गुण, कर्म एवं स्वभाव से तीनों भिन्न-भिन्न हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार भी विश्व में तीन तत्व हैं- प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा जो क्रमशः भोग्य, उपभोक्ता एवं नियन्ता हैं। जिनमें प्रकृति जड़ है, वह स्वयं कुछ नहीं करती है। कोई अन्य शक्ति ही प्रकृति के द्वारा विश्व का निर्माण करती है।[2] जीवात्मा ईश्वर के अधीन रहते हुए फल भोगता है, वह चेतन एवं अनेक हैं।[3] ईश्वर एक है और वही उपास्य देव है। वह नियमानुसार सृष्टि आदि का कर्त्ता भी है। ईश्वर ही कर्मानुसार जीवों के सुख-दुख की व्यवस्था करता है।[4] जिसमें श्रेष्ठ कर्मों से सुख तथा बुरे कर्मों से दुख की प्राप्ति होती है। यह व्यवस्था क्षमा एवं पश्चाताप के अवसर से विहीन है। नैतिकता तथा सत्याचरण ही इसका मुख्य अंग है। ईश्वर की यह शक्ति भक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय के साथ-साथ परमार्थक सुख का भी साधन है।[5]

विश्व का रचयिता, पालनकर्त्ता तथा संहारकर्त्ता के रूप में भी सर्वशक्तिमान तत्व ईश्वर को माना जाता है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में ऋत और सत्य, प्रजापति, विश्वकर्मा, परमपुरुष, हिरण्यगर्भ और 'क' आदि वर्णन के रूप में ईश्वर तत्व संबंधी विचार प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में ईश्वर को विश्वकृत और सबका कर्ता कहते हुए समस्त लोक-लोकान्तर ईश्वर पर ही आश्रित बताए गए हैं।[6] आदिशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र में ईश्वर के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए **'जन्माद्यस्य यत:'** सूत्र की व्याख्या में ईश्वर को जन्म, स्थिति और लय का कारण माना है। गीता में भी ईश्वर तत्व को संपूर्ण विश्व का स्वामी, उत्पत्ति, विकास तथा संहार का एकमात्र कारण, जगत का पिता, माता, धाता, पितामह, भर्ता, गति, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण कहा गया तथा वही इस संसार का उद्भवस्थान, लयस्थान, निधान तथा शाश्वत बीज है।[7] योगदर्शन में समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर के वाचक 'प्रणव' को ही ग्रहण किया गया।[8] वहां ईश्वर को एक विशेषपुरुष के रूप में भी बताया गया जो क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अपरामृष्ट है।[9]

आचार्य मेधाव्रत दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य के प्रारंभ में कल्याणकारी परमेश्वर को विद्या का स्वामी बताते हैं। कविरत्न ने सागर में चंद्रमा की उत्पत्ति के समान ही ईश्वर से वेदों का आविर्भाव बताया है। वह व्यापक, निराकार, अजन्मा, अखिल ब्रह्मांड का कर्ता एवं गुरुओं का भी गुरु है। ऐसे दयामय आनन्द स्वरूप प्रभु की स्तुति की है।

दयामयानन्द मूलशंकरं सरस्वतीशं निगमेन्दुसागरम्।
विभुर्निराकारमजं जगत्सृजं, भजामि मेधां जनितो महागुरुम्।।[10]

दयानन्ददिग्विजय में वर्णित है कि प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में मुख्यत: आध्यात्मिक ज्ञान दिया जाता था, जिसमें प्रकृति से ईश्वर पर्यंत सब प्रकार का ज्ञान समाहित था। कवि ने कहा है कि स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान का प्रसार-प्रचार किया, मूर्तिपूजा आदि रुढ़ियों का निषेध कर कल्याणकारी, निराकार, ईश्वर को उपास्य बताया।[11]

कवि ने ईश्वर के स्वरूप-वर्णन में कहा है कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अजर-अमर, आकाश से भी व्यापक तथा परमाणु से भी अतिसूक्ष्म, निराकार, अनन्त, अनादि तथा उज्ज्वल स्वरूप वाला है।[12] समीक्ष्य कवि के दयानन्दलहरी काव्य में कहा गया है कि ईश्वर जड़ तथा चेतन जगत के जन्म, स्थिति और निवास करने वाले मंगलकारी परब्रह्म की भागीरथी एवं मनुष्यों को मोक्ष की शिक्षा देने वाली वह दयानन्द की वाणी विजय पा रही है।[13] महर्षि विरजानन्दचरितम् में ईश्वर की उपासना के संबंध में कहा गया है कि सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, अजन्मा सृष्टि स्थिति और लय के स्वामी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इंद्र आदि अनेक नाम वाले 'ओ३म्' रूपी ब्रह्म की हमें नित्यप्रति स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करनी चाहिए।[14]

दिव्यानन्दलहरी ईशस्तोत्रम् में कवि के द्वारा ईश्वर को अतुलनीय, अविनाशी, फैले हुए पवित्र तेज वाला, अनंत, 'ओ३म्' नाम वाला, सम्पूर्ण प्रजाओं के निर्माता, ब्रह्माण्ड का पोषक, अन्त में संपूर्ण सृष्टि का संहारक, वेदों का उत्पादक दिव्यानन्द आदि कहा गया है। दुष्ट जनों को दंड देने वाले, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आदिभौतिक दुखों से बचाने वाला, प्राणियों का एकमात्र आश्रयभूत श्रेष्ठ ईश्वर ही है।[15] इसप्रकार देखा जा सकता है कि आचार्य मेधाव्रत के साहित्य में ईश्वर का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है।

प्रकृति तत्व के संबंध में विद्वानों के द्वारा विविध विचार दिए गए। ईश्वर जीव और प्रकृति के त्रिवृत्करण में चेतन एवं अचेतन दो प्रकार के तत्व हैं। इन चेतन और अचेतन के सहयोग से संसार की गति चलती है। जिसमें ईश्वर एवं जीव दोनों चेतन है। अचेतन एवं जड़ तत्व प्रकृति है। सृष्टि की उत्पत्ति में प्रकृति उपादान कारण के रूप में स्वीकृत है।[16] जिसमें सत्त्व, रज, तमस तीनों गुणों की साम्यावस्था पाई जाती है।[17] वेदों में प्रकृति के लिए स्वधा, तमस, माया,अदिति, गुणत्रय आदि नामों

के द्वारा उल्लेख मिलता है। भारतीय दर्शनों में प्रधान या अव्यक्त नाम से इस प्रकृति तत्व को ही कहा गया है।

कविरत्न मेधाव्रत के ग्रन्थों में प्रकृति के विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। आचार्य जी द्वारा प्रकृति के सौंदर्य पर प्रकृतिसौंदर्यम् नाटक रचा गया, जिसकी प्रस्तावना में त्रैतवाद का वर्णन देखा जा सकता है। प्रकृति को जगत के उपादानकारण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। सत्त्व, रजस्, और तमस् तीनों के गुणात्मक रूप के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति अवस्था में संपूर्ण प्राणी समूह को सुख एवं साधन प्रदान करने के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[18] प्रकृतिसौंदर्यम् में अन्यत्र कवि ने प्रकृति को जीवात्मा के सुख के साधन के रूप में वर्णित किया है, और ईश्वर को प्रकृति का निर्माता कहते हुए उसके सौंदर्य के आधार पर ईश्वर के कलाकौशल को स्तुत्य कहा है-

नक्षत्रग्रहमण्डलेरऽम्बरमणौ बिम्बेयदिन्दोर्दिति
सौन्दर्यं प्रकृतेः समीक्षा सुतरां सौन्दर्यवारानिधैः।
अद्रीन्द्रेदुमगतमवल्लिवलये प्राणिप्रकाण्डे भुवि
यत्तच्चेह चराचरे जगति को मुहये नन सौरभाम्बुधै।।[19]

आकाश में स्थित सूर्यमण्डल, चंद्रविम्ब ग्रहण एवं नक्षत्रचक्र में तथा भूमण्डल पर विशाल पहाड़ों, वृक्षों की शाखाओं तथा विभिन्न प्राणियों में फैले हुए प्रकृति के सौंदर्यसागर सुख के समूह को अवलोकित कर कौन मुग्ध नहीं हो जाता? वेदों में भी यत्र-तत्र प्रकृति के विविध रूपों के मनोहर वर्णन प्राप्त होते हैं। कवि ने प्रकृतिसौंदर्य में 6 ऋतुओं का स्वाभाविक एवं मनोहर चित्रण किया है। उन्होंने प्रकृति के बारे में कहा है कि मनुष्य कितने भी सुसज्जित राजभवनों में निवास कर ले, परन्तु प्रकृति की गोद में जो उन्मुक्त आनन्द है, वह अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकता।[20] इस प्रकार आचार्य मेधाव्रत का प्रकृति-वर्णन रसपेशल, वेदानुसारी तथा मनोहारी है। उनके वर्णन में सामान्य कवियों के समान न होकर प्रकृति को जीवात्मा के चरमसुख के उपादान के रूप में निरूपित किया है, यही कवि की मौलिक विशेषता रही है। आचार्य जी ने ईश्वर और जीवात्मा दो चेतन तत्वों में प्रकृति को सर्वथा पृथक् जड़ और परिणामी कहा, यही उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है।

जीव वस्तुओं का ज्ञाता तथा कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुख का भोक्ता व स्वयं प्रकाशमान है। नित्य होने से परिणामी भी है। वैदिक संहिताओं में जीवात्मा के लिए अमर्त्य,[21] पुरुष,[22] आत्मा[23] आदि पदों का प्रयोग हुआ है। इस जीवात्मा को वेद में स्वरूपतः स्वल्पज्ञ,[24] अणु,[25] आवागमनयुक्त[26] आदि भी बताया गया है। भारतीय दर्शनों में जीवात्मा को लेकर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किए गए हैं। स्वामी दयानन्द ने जीव को अनादि, नित्य, अविनाशी तथा अल्पज्ञ के रूप में निरूपित किया है। आचार्य मेधाव्रत द्वारा रचित ब्रह्मचर्यशतकम् काव्य में जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'मृत्युञ्जय ओ३म्'** पुरातन शरीर को छोड़कर आत्मा के लिए नूतन शरीर देता है,

क्योंकि आत्मा अनादि है।[27] दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य में कवि ने जीव और ब्रह्म के संबंध और उनके कार्यों पर विचार करते हुए कहा है कि यह जीव स्वप्न में उन-उन विषयों का उपभोग करता है। ब्रह्म तो निस्पृह है, जीवों को कर्मफल देता है, प्रकृति के पंचतत्वों से सृष्टि बनाता है। कवि की अन्य रचनाएं दयानन्दलहरी, दिव्यानन्दलहरी, एवं विरजानन्दचरितम् में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है। दयानन्दलहरी में कहा गया है कि वह परमात्मा मन और आत्मा को पवित्र मानकर उन्हें अमृत पिलाने का कार्य करता है।

भवातपनिपीडितान्तरविलोचनान्दनो,
लसद्गुणकलः सुकर्मकुमुदावलीमोदनः।
सदाऽखिलजनान् सवेदवचनामृतं पाययन्
मुदं वितनुतान्मुनीन्द्रा तव सघशश्चन्द्रमाः।।[28]

विलक्षण प्रतिभाशाली, सब श्रेष्ठ सुविधाओं से विहीन, दीन, नेत्रहीन और दया के पात्र उस बालक विरजानन्द ने आत्मिक बल से उन्नति की।[29] योगीजन नवीन ज्ञान की प्राप्ति से अपनी आत्मा में आनन्द का अनुभव करते हैं।[30] कवि ने जीवन के परमलक्ष्य परमेश्वर को मानते हुए कहा- जीवात्मा रथ का स्वामी है, शरीर रथ है, संपूर्ण प्रजानन सारथी हैं, यह मन लगाम एवं इंद्रियां अश्व, इंद्रियों के विषय मार्ग हैं, और संपूर्ण भोगों का भोक्ता आत्मा है।[31] इस प्रकार देखा जा सकता है कि आचार्य मेधाव्रत के साहित्य में जीवात्मा संबंधी विचार वैदिक एवं स्वामी दयानन्द के सिद्धांतों से साम्य रखते हैं।

निष्कर्ष - प्रस्तुत साक्ष्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि आचार्य मेधाव्रत के साहित्य में वैदिक एवं दयानन्द-दर्शन के सिद्धान्तों को मनोहारी शैली में वर्णन किया गया है, जिसमें त्रैतवाद मुख्यतः प्रतिबिंबित होता है। त्रैतवाद में कवि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को सत् या यथार्थ सत्ता माना है। जिसमें ईश्वर और जीव चेतन हैं, जबकि प्रकृति जड या अचेतन। तीनों स्वतन्त्र, नित्य तथा अनादि हैं। ईश्वर एक है, उसके गुणों के आधार पर अनेक नाम हैं। वही सृष्टिकर्त्ता, धर्त्ता तथा प्रलयकर्त्ता है, वही आराध्य है। उसी की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना कवि ने आवश्यक बताया है। जीव अनेक हैं, जिनका मोक्ष ही परमप्रयोजन है। प्रकृति को जड़ तथा जगत् के उपादान कारण के रूप में स्वीकार किया। तीनों सत्ताओं का स्वतन्त्र अस्तित्व दर्शाना ही त्रैतवाद का वैशिष्ट्य है।

सन्दर्भ -

1. ब्रह्मसत्यं जगत्सत्यम्जीवस्सत्यश्च संस्ततौ।
ज्ञानतोद्दश्यमानम् तन्निखिलम्सत्यात्मावत्।।-दयानन्ददिग्विजयम् 15.68
2. डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, दयानन्द दर्शन : एक अध्ययन, पृ.06, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1977 ई.
3. तदेव पृ.70-71
4. तदेव पृ.98-102
5. योगेश शास्त्री, आचार्य मेधाव्रत की साहित्यिक रचनाओं में प्रतिबिंबित दयानन्द दर्शन, पृष्ठ 33, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007 ई.
6. बृहदारण्यकोपनिषद, 4.4.13

7. भगवद्गीता, 9.17-18
8. तस्य वाचकःप्रणवः। योगसूत्र, 1.27
9. क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसूत्र 1.24
10. दयानन्ददिग्विजयम् १.१
11 . शिवस्य विष्णोः प्रतिमार्हणां मणिः, सतां न्यषेधीदनिशं मनीषिणाम्।
निराकृते रीशितुरेव शंकरी- मुपासनामादिशदर्हता वरः।। द.दि. 11.146
12. तदेव 14.33
13. दयानन्दलहरी, 1
14. विरजानन्दचरितम्, 1.1
15. दिव्यानन्दलहरी, 2
16.सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम् समुल्लास, पृष्ठ 275 बहालगढ़.वि०सं० 2050,
17.सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सांख्यसूत्र 1.62
18. प्रकृतिसौंदर्यम् 1.2
19. तदेव 1.8
20. तदेव 1.19
21. ऋग्वेद 1.164.38 अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन स योनिः , द्रष्टव्य दयानन्दभाष्य
22 अथर्ववेद 11.4.14, ऋग्वेद 1.164.32,यजुर्वेद 31.18
23. यजुर्वेद 14.17 पर द्रष्टव्य दयानन्दभाष्य
24. ऋग्वेद 1.164.6, यजुर्वेद 32.14
25. अथर्ववेद 10.8.25
26. ऋग्वेद 1.24.2, 1.164.32
27. ब्रह्मचर्यशतकम्, 75
28. दयानन्दलहरी, 45
29.विरजानन्दचरितम्, 2.22
30.तदेव, 6.3
31. दिव्यानन्दलहरी, 8

नटाङ्कुश के आधार पर नाटकों में स्थानीय भाषा प्रयोग की औचित्यानौचित्यता

• कपिलेश्वर साहु

शोधसार - कूड़ियाट्टम् (Kutiyattam) केरलप्रदेश की 2,000 साल से अधिक पुरानी पारम्परिक संस्कृत रङ्गमञ्च कला है, जिसे UNESCO ने 2008 में 'मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत' (Masterpiece of the Oral and Intangible Cultural Heritage of Humanity) के रूप में आधिकारिक तौर पर मान्यता दिया गया है। नटाङ्कुश नामक एक अत्यन्त ही प्राचीन तथा विलक्षण अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ प्रायः 15वीं-16वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया हैं। जिसमें विश्वप्रसिद्ध केरल के एक समृद्ध प्रस्थान कूडियाट्टम् के रङ्गमञ्च और उस पर होने वाले नाट्यप्रयोगों की समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है। साधरणतः नाटकीय पात्र विदूषक की स्थानीय भाषा प्रयोग के सम्बन्ध में नटाङ्कुशकार द्वारा निर्दिष्ट यथासम्भव और यथार्थ समीक्षा की विश्लेषण प्रस्तुत शोधपत्र में की गयी है।

बीजशब्द - नाट्यप्रयोग, समीक्षा, भाषाप्रयोग, मलयालम्, विदूषक, औचित्य, सिद्धान्त

कुड़ियाट्टम्[1]

कूड़ियाट्टम् (Kutiyattam) भारतदेशस्थ केरलप्रदेश की 2,000 साल से अधिक पुरानी पारम्परिक संस्कृत रङ्गमञ्च कला है, जिसे UNESCO ने 2008 में 'मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत' (Masterpiece of the Oral and Intangible Cultural Heritage of Humanity) के रूप में आधिकारिक तौर पर मान्यता दी है। यह कला मूलतः और शुद्धतः एक संस्कृत नाटकाभिनय है। संस्कृत के कतिपय चुने हुए रूपकों का पारम्परिक अभिनय इसमें होता है। कूड़ियाट्टम् में प्रयुक्त होनेवाले बहुप्रचलित रूपकों में महाकवि भासकृत स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, प्रतिमानाटकम्, अभिषेकनाटकम्, दूतवाक्यम् और बालचरितम्, राजा हर्षवर्धन

* शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

का नागानन्दम्, शक्तिभद्र का आश्चर्यचूड़ामणि, केरल के राजा कुलशेखर वर्मा कृत सुभद्राधनञ्जयम् और तपतीसंवरणम्, पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम का मत्तविलास-प्रहसनम्, श्री बोधायन का भगवज्जुकीयप्रहसनम्, श्री नीलकण्ठ का कल्याणसौगन्धिकम् आदि प्रमुख हैं। निश्चित है कि संस्कृतेतर कोई भी भाषा-रूपक अभी तक इस शैली में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यही एक बात इसका पर्याप्त प्रमाण है कि यह कला शुद्धतः एक संस्कृत नाटकाभिनय है। यह मन्दिर के नाट्यमण्डपों (कूथंबलम्) में की जाने वाली एक पवित्र कला है, जो नेत्र अभिनय (आंखों के हाव-भाव) और हस्त अभिनय (हाथ के इशारों) पर केन्द्रित है।

कूडियाट्टम् के वाचिकाभिनय के सन्दर्भ में उल्लेखनीय एक और बात यह है कि इस संस्कृत नाटकाभिनय कला के वर्तमान रूप में संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त देशी भाषा मलयालम् का भी कहीं-कहीं उपयोग होता है। बताया जाता है कि पहले कूडियाट्टम् में देशी भाषा का उपयोग नहीं होता था। ईसवीं सन् दसवीं शती के करीब कूडियाट्टम् को अधिक लोकप्रिय बताने की नीयत से तत्कालीन केरल के कुलशेखर वर्मा नामक एक महाराजा अपने मित्र और अमात्य तोलन् नामक एक ब्राह्मण महाकवि की सहायता से कूडियाट्टम् में अनेक सुधार लाए, जिनमें सबसे प्रमुख है, विदूषक के लिए देशी भाषा का उपयोग। कूडियाट्टम् में देशी भाषा का इस्तेमाल करनेवाला एकमात्र पात्र विदूषक है। कूडियाट्टम् का विदूषक वास्तव में एक वाचिक प्रधान पात्र है। नायक के नर्म-सचिव के रूप में संस्कृत नाटकों में आनेवाला यह पात्र स्वभावतः ही हास्यप्रिय होता है। कूडियाट्टम् में भी विदूषक एक हास्य-पात्र के रूप में आता है। यह हास्य-पात्र जन-साधारण को लक्ष्य करके नायक-नायिका आदि द्वारा उच्चारित संस्कृत-प्राकृत संवादों का सटिप्पण छायानुवाद देशी-भाषा मलयालम् में करता जाता है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि कूडियाट्टम् का विदूषक वास्तव में नट और प्रेक्षकों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करनेवाला सेतु है।[2]

नटाङ्कुश

विविध ज्ञान-विज्ञान से सुसमृद्ध संस्कृतवाङ्मय का प्रवाह आवाहमान काल से अद्यावधि पर्यन्त विस्तृत तथा सम्पुष्ट है। इसी परम्परा में नटाङ्कुश नामक एक अत्यन्त ही प्राचीन तथा विलक्षण ग्रन्थ प्रायः 15वीं-16वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया। इसके प्रणेता अज्ञात हैं। विश्वप्रसिद्ध केरल के एक समृद्ध प्रस्थान कूडियाट्टम् के रङ्गमञ्च और उस पर होने वाले नाट्यप्रयोगों की समीक्षात्मक विवेचन करने वाला मध्ययुगकालीन संस्कृत ग्रन्थ नटाङ्कुश है। इस तरह का कोई ग्रन्थ कदाचित् विश्व के साहित्य में इतना पुराना नहीं होगा। जो अपने समय के नाट्यप्रयोगों से सम्बन्धित तथा अभिनेताओं से सम्बन्धित विचारों की समीक्षा करता हो। यह ग्रन्थरत्न एक परम्परावादी तथा शास्त्र को प्रमाण मानने वाले विदग्ध पण्डित द्वारा लिखा गया है। साधरणतः नाटकीय पात्र विदूषक

वसन्तक की स्थानीय भाषा प्रयोग के सम्बन्ध में नटाङ्कुशकार द्वारा निर्दिष्ट यथासम्भव और यथार्थ समीक्षा की विश्लेषण प्रस्तुत शोधपत्र में की गयी है।

नटाङ्कुश में नाटकीय भाषा प्रयोग के विषय में आलोचना

एक परम्परावादी आचार्य तथा नाट्य समीक्षक के रूप में नटाङ्कुशकार प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक के कुडियाट्टम् प्रयोग में प्रयुक्त भाषा विषयक आलोचना प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

यत् पुनः मन्त्राङ्के वसन्तकः केरलभाषया भाषते तदपि न पर्यालोचनां न समर्हति। नाट्येषु नूनं प्रतिपात्रं भाषानियमो विद्यते। तदाह-

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणाम्, अनीचानां कृतात्मनाम्।

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च।।[3]

इत्यादि। तदनुसारेण इह कविना वसन्तकस्य प्राकृतविशेषो भाषाऽयोजि। ततः तनैव व्यवहर्तव्ये तदतिक्रमेण भाषान्तरपरिग्रहः कथमिव सङ्गच्छते ?

नाटककार भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण के तृतीय अङ्क मन्त्राङ्क में विदूषक वसन्तक केरलीय भाषा मलयालम् में संवाद बोलता है। जो नाट्यन्याय के अनुसार उचित नहीं लगती। भरतमुनि द्वारा नाट्यों में प्रत्येक पात्र के लिए भाषा नियम बताया गया है। जैसा कि कहा गया है कि जो उत्तम पात्र तथा श्रेष्ठ अन्तःकरण वाले हों, ऐसे पुरुषों के लिए संस्कृत भाषा पाठ्य होगा। स्त्रियों के लिए प्रायः प्राकृतभाषा पाठ्य होगा तथा अधम पात्रों के लिए शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया जाएगा इत्यादि।

इस निर्देश के अनुसार कवि शक्तिभद्र अपने आश्चर्यचूड़ामणि नाटक में विदूषक वसन्तक के लिए विशेष प्राकृत भाषा का समायोजन किये हैं। इसलिए उसी भाषा का व्यवहार विदूषक वसन्तक के लिए यहाँ (प्रतिज्ञायौगन्धरायण में) भी करना चाहिए। अभिनेता या नट को नाटककार का अनुसरण करना चाहिए। उसका अतिक्रमण करके प्राकृत के स्थान पर अन्य भाषा को स्वीकार कर लेना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

इसी परिप्रेक्ष्य में नटाङ्कुशकार कूडियाट्टम् नाट्यप्रयोक्ता चाक्यारों के मत को पूर्वपक्ष मानते हुए उनकी यथासम्भव तर्क को अपनी तर्कशक्ति से उत्तरपक्ष के रूप में स्थापन करके उनका खण्डन करते हैं। वे पूर्वपक्ष की मत को उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि नाटकीय पात्र विदूषक अनेक भाषाओं को जानता है। वेष बदलने के समय अलग-अलग लोगों के सामने अनेक प्रकार से इसे बोलता है। उन अलग-अलग लोगों की अनुकृति में यह मलयालम् भाषा यहाँ उचित है। अन्य प्रसङ्गों में नाटककार द्वारा निर्दिष्ट भाषा का भी प्रयोग उचित मानते हुए वह करता है। पूर्वपक्ष पुनः कहता है कि नाटक में समायोजित जो सर्वत्र साधारण भाषा है, उसको तो कहीं छोड़ा नहीं गया है। उसके साथ बीच-बीच में जिस देश में नाटक हो रहा है, उस देश की भाषा को भी ग्रहण किया जाए तो क्या हानि है ?

इस विषय में नटाङ्कुशकार उत्तरपक्ष के रूप में कहते हैं कि यदि ऐसा है तो यौगन्धरायण का अभिनय करने वाले नट के लिए देशभाषा को स्वीकार क्यों नहीं करते ? वह भी तो विदूषक की तरह अनेक भाषाओं का व्यवहार करता है ?

अत्र ब्रूमः। कथं यौगन्धरायणस्य देशभाषापरिग्रहो न भवति। सोऽपि हि तथा सकलभाषाव्यवहारी।

पुनश्च यदि रूपक में अनुकार्य या पात्रों के लिए जो भाषा उन्होने स्वयं अर्जित की है अर्थात् जहाँ पात्र का जन्म हुआ है उसका प्रयोग होगा या उनकी अपनी भाषा का जहाँ के वह निवासी हैं वहाँ की भाषा का प्रयोग होगा या फिर अन्य भाषा का।

अर्जित भाषा का प्रयोग तो उचित नहीं ही है क्योंकि स्त्री व विदूषक आदि पात्र भी संस्कृत तो सीखे हुए रहते ही हैं और नायक आदि उत्तम श्रेणी के पात्रों से भी प्राकृत भाषा का प्रयोग होने लगेगी। क्योंकि इन नायक आदि पात्रों की भी अर्जित भाषा प्राकृत हो ही सकती है।

पात्र की अपनी भाषा जहाँ के वे निवासी हैं उसका प्रयोग कराया जाए तो भी उचित नहीं है, क्योंकि राम आदि पात्र उत्तर कोसल देशों में जन्मे हैं। अतः उनसे संस्कृत में संवाद करवाना अनुचित हो जाएगा। नाट्यप्रयोग के समय उनके संवादों में वहाँ की स्थानीय भाषा या बोली का प्रयोग कराना पड़ेगा, अन्य का नहीं।

और उत्तम श्रेणी के पात्रों के मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग होगा- इस नियम के अनुसार नाटककार ने जिस पात्र के लिए जो पात्रानुरूप भाषा प्रायोजित की है तथा किसी विशेष प्रयोजन से उत्तम पात्रों की भाषा में व्यतिक्रम के लिए जो वैकल्पिक विधान किया गया है, उसके अनुसार कहीं-कहीं दूसरी भाषा का भी प्रयोग कराया जा सकता है।

परन्तु नाटककार (नाट्यग्रन्थकार) ने जिस पात्र के मुख से जिस भाषा का प्रयोग करवाया है उसके अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग तो नहीं कराया जा सकता। प्रचलित व्यवस्था के अनुसार जो सिद्ध या प्राप्त है, उसके अनुसार आरम्भ किया जाता है। अर्थात् नाटककार ने प्रत्येक पात्र के संवाद जिस भाषा में रचे हैं, वह पात्र नाट्यप्रयोग में उसी भाषा में संवाद प्रयुक्त करता है।

तथा च प्रबन्धकर्त्रा यस्य पात्रस्य या यत्र यादृशी भाषा प्रयोजिता, "अनीचानां पुंसां संस्कृतम्" इत्यादि प्रकृत्यानुरूप्येण "कार्यतश्चोत्तमादीनां, कार्यो भाषाव्यतिक्रमः"[4] इत्याद्यवस्थानुरूप्येण वा तया तत्र तादृश्या तस्य व्यवहारो युज्यते नान्यया। सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय इति न्यायात्।

पुनः पूर्वपक्ष की ओर से नटाङ्कुशकार कहते हैं कि लोक की भाषा को छोड़ देंगे, तो नाटक ही कैसे प्रयुक्त होगा? रसास्वाद कैसे होगा? जनसमाज को प्रस्तुत की गयी विषय का अर्थबोध कैसे होगा?

इसी तर्क पर उत्तर पक्ष के रूप में नटाङ्कुशकार कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तब तो सम्पूर्ण नाटक इसी लोकभाषा मलयालम् में क्यों नहीं कर डालते ? फिर प्राकृत का भी क्या काम है ?

ननु लोकपरिभाषाविरहे कियदिदं नाट्यं भविता, को वा रसः किमेव जनस्य अवगन्तव्यम्। तर्हि किम् एषा एव नालम् ? किं तेन प्राकृतेन ?

यदि मलयालम् भाषा ही नाट्यप्रयोग के लिए उपयुक्त है, रसास्वादन योग्य है तथा जनसमाज के अर्थबोध के अनुरूप है तो नाट्य में प्रकर्ष लाने वाली तथा सभी लोगों के मन को हरने वाली संस्कृत भाषा[5] का प्रयोग करके नाटककार ने नाटकों को क्यों लिखा है ? पुनः जिस प्राकृत भाषा के विषय में विद्वान् लोग वह स्वभाव से ही मधुर है, अहो प्राकृत कितनी मनोहर है ! - इस प्रकार से प्रशंसा करते हैं[6]- वह प्राकृत नीरस भाषा है यह भी तुमने खूब कही है !

यह भी क्या बात है कि नाटककार ने जिस प्राकृत भाषा में संवाद लिखी है, वह तो नीरस हो गई और जनपद की भाषा सबके मन हरने वाली हो गई !

अहो प्रबन्धकृता समायोजितं पाठ्यं नीरसं किल, नाट्यानुपकारकं च; एतत्तु जनपदभाषणं सर्वाकारहारि।

इस पर पूर्वपक्षी कूडियाट्टम् का नट कहता है कि दोनों ही भाषाएँ हम नाटक प्रयोग करने वालों के लिए बराबर हैं। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्षी नटाङ्कुशकार कहते हैं कि नहीं, यह भी उचित नहीं। यहाँ लोकभाषा का कोई प्रसङ्ग ही उचित नहीं बैठता। तो जिसका प्रसङ्ग नहीं, उसे बराबरी पर लाकर व्यवहार कैसे होगा ?[7] दोनों संस्कृत और प्राकृत भाषा को बराबरी पर रखकर नाटक रच रहे हैं, तो दोनों का व्यवहार सर्वसामान्य हो जाएगा, तब फिर नायक राम आदि के लिए लोकभाषा की दृष्टि से भेद भी क्यों होगा ? उनके लिए भी यही हो अर्थात् वे भी लोकभाषा में ही संवाद बोलें, भले ही ये संवाद वे स्वयं अपने मुख से न बोलें, तो उनके संवाद लोकभाषा में अन्य कोई बोल दे।

पूर्वपक्षी की ओर से नटाङ्कुशकार पुनः कहते हैं कि प्रवृत्तियाँ देश, भाषा, क्रिया और वेश आदि से निर्मित होती हैं और लोक से इन्हें समझकर ही जिसका जैसा औचित्य हो वैसा इनका प्रयोग करना चाहिए।

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत्।।[8]

दशरूपक के इस वचन के अनुसार हम लोकभाषा का प्रयोग करते हैं- ऐसा पूर्वपक्षी का मत है। तो नटाङ्कुशकार उत्तरपक्ष में कहते हैं कि हे साधो ! यह वचन कवि द्वारा रचे जाने वाले नाट्य में प्रयुक्त पाठ्य की योजना के विषय में है। जैसे कि भरतमुनि ने आगे भी इसी प्रसङ्ग में कहा है कि प्रयोक्ता अपनी स्वेच्छा से देशभाषा का प्रयोग करें, नाटक का काव्य अलग-अलग देशों की भाषाओं से रचा जाता है।

अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः।
नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके।।[9]

इसी क्रम में विदूषक की भाषा प्राच्या (मृच्छकटिक) कही गयी है। विरल ही सौरसेनी भाषा भी प्रयुक्त होते हैं।[10] लेकिन मलयालम् नहीं। अर्थात् नाटकीय पात्र को अपनी भाषा चयन की स्वतन्त्रता नहीं है और भी जो नाटककार द्वारा जैसा लिखा है, उसमें विचलन करना नाट्यन्याय नहीं है।

पुनः पूर्वपक्षी का मत देते नटाङ्कुशकार कहते हैं कि नाट्यप्रयोग के समय औचित्य के अनुसार देशभाषा का प्रयोग उचित है, तो आपको यह बताना होगा कि वह औचित्य क्या है ? यदि आप कहते हैं कि प्रहसनकारिकत्व अर्थात् हास्य उत्पन्न करना ही हमारा औचित्य है, तो प्रश्न है कि प्रहसनकारी है कौन? यदि कहो कि जो लोकभाषा में बोल रहा है, वही प्रहसनकारी है, तो अन्योन्याश्रयप्रसङ्ग दोष होता है।

अर्थात् भाषा के द्वारा प्रहसनकारी होने का निश्चय किया जाएगा और प्रहसनकारी होने के कारण भाषा का निश्चय भी किया जाएगा। यदि यह कहते हो कि जिसकी वाणी और चेष्टा से प्रेक्षकों को हँसी आए, वही प्रहसनकारी है, तो फिर प्रतिज्ञायौगन्धरायण के प्रयोग में रुमण्वान् से लोकभाषा में संवाद क्यों बुलवाते हो?

ननु यस्य लोकभाषावत्वं सः इति चेदन्योन्याश्रयप्रसङ्गः, भाषावत्वेन प्रहसनकारित्वनिश्चयः, प्रहसनकारित्वेन भाषावत्वनिश्चयप्रसङ्गः इति। अथ यस्य वाक्चेष्टादिना हासो भवति इति चेत् कथं रुमण्वतो लोकभाषणम् ?

यदि ऐसा आप कहते हैं कि रुमण्वान् का पात्र औषध बताने के प्रसङ्गवश लोकभाषा में औषधियों के नाम बताते हैं, जिसके कारण हमें वे हास उत्पन्न करने वाले लगते हैं, तो यह भी अनुचित ही है। क्योंकि औषध बताने के लिए लोकभाषा प्रयुक्त हो यह तो आवश्यक नहीं। संस्कृत भाषा में भी इस प्रसङ्ग के औचित्य को समझाया जा सकता है। अन्यथा हमने कहा ही है कि यहाँ पर आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय और इतरेतराश्रय के प्रसङ्ग का दोष उत्पन्न होता है। यदि आपको रुमण्वान् की नाट्यभाषा के माध्यम से प्रहसनकारिकत्व का अनुभव हो रहा है तो यौगन्धरायण के भाषा में भी लोकभाषा का ही प्रयोग क्यों न करा देते ? यह प्रश्न उठेगा। क्योंकि उनके संवादों में भी इसी प्रकार कहीं-कहीं हास्य के हेतु समझे जा सकते हैं और वसन्तक जैसे विदूषक पात्र के संवादों में भी सर्वत्र हँसी ही उत्पन्न करने वाले संवाद तो होते हैं नहीं।[11]

आकृति आदि का विकृति को हास का हेतु मानेंगे, तो वसिष्ठ आदि ऋषियों के लिए भी देशभाषा में संवाद रखने पड़ जाएंगे और इसमें आपत्ति हो सकती है।

यदि आप पुनः तर्क देते हुए कहते हैं कि आकार, वाणी और वेश इन तीनों की विकृति जहाँ हो, वहाँ हास हेतु होता है और वहाँ देशभाषा का प्रयोग होता है, तब यौगन्धरायण में हासहेतुता और देशभाषा प्रयोग की अतिव्याप्ति होगी एवं उनसे देशभाषा का प्रयोग कराना होगा।[12]

यदि कहो कि यौगन्धरायण का वेश आदि विकृत नहीं है, लेकिन वह श्रमण स्वभाव का है, उसका श्रमण के वेश में स्वभाव तो गम्भीर ही रहता है। लोकभाषा का प्रयोग तो उन पात्रों के लिए है, जो गम्भीर नहीं हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि वसन्तक का पात्र क्या बड़ी उदग्र बुद्धि वाला है ? रुमण्वान् आदि छोटे मन वाले हैं ? पुनः क्या चेटियाँ गम्भीर मन की हैं?

तस्य वेषादिकं न विकृतम्, किन्तु स श्रमणस्वभाव इति। अगम्भीराणाम् इयं लोकभाषा इति चेत् किमयं वसन्तकः उत्तानधीः, रुमण्वदादयः अपि अल्पहृदयाः, चेट्यो गंभीरहृदयाः इति साधु एतत्।

यदि पूर्वपक्षी इस परिप्रेक्ष्य में कहता है कि विदूषक आदि नर्मसचिव पात्रों की भाषा तो लोकभाषा ही होनी चाहिए, तो फिर उत्तरपक्ष में नटाङ्कुशकार कहते हैं कि राजा के मन्त्री, अमात्य आदि अनर्मसचिवों के संवादों में लोकभाषा का प्रयोग क्यों?

यदि कहो कि नर्मसचिवों की भाषा लोकभाषा रहे, इतना नियम पर्याप्त है, अनर्मसचिवों की भाषा लोकभाषा रहे या न रहे इसमें नाटक प्रयोग करने वालों के लिए छूट है, तो ठीक ही है[13], परन्तु इसमें फिर प्रश्न आता है कि अनर्मसचिवों के लिए नियम-निर्धारण न करने का कारण क्या है?

तर्ह्यनर्मसचिवानामेतदनुषङ्गे किं निमित्तम्?

यदि आप फिर कहते हैं कि अनर्मसचिवत्व ही इसका कारण है, तो हम कहगें कि नर्मसचिवत्व और अनर्मसचिवत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। अतः ये दोनों लोकभाषा प्रयोग रूपी एक ही कार्य के निमित्त कैसे हो सकते हैं ?

अनर्मसचिवत्वम् एव इति चेत्, कथं परस्परविरुद्धौ एतौ धर्मौ एकस्य एव कार्यस्य निमित्तं भवतः?

गले में लटकती चमड़े की झालर जैसा सास्ना का होना या सास्ना का न होना दोनों एक साथ एक ही गो नामक पशु की पहचान तो बन नहीं सकते।

न हि सास्नावत्वमिवासास्नावत्वमपि गोव्यवहारनिबन्धनं स्यात्।

यदि आप लोग पुनः कहते हैं कि नाटक में कुछ पात्र ऐसे होते हैं, जिनकी भाषा स्वेच्छा से हो सकती है, तो फिर राम आदि पात्रों के लिए भी लोकभाषा का प्रयोग क्यों नहीं करा देते ?

अथ स्वेच्छया केषाञ्चिदेवं भाषेति चेद् रामादेरपि भवेत्।

यदि कहो कि नायक से भिन्न पात्रों के लिए यह विकल्प है, तो फिर योद्धा आदि पात्रों के लिए क्या व्यवस्था होगी ?

अनायकानाममित्थमिति चेत्, कथं चित्रयोधिप्रभृतीनाम्।

इसलिए कुल मिलाकर यह सिद्ध हुआ कि यह देशभाषा का स्वीकार तो स्वतः ही आपकी अपनी मूर्खता को सामने लाने के कौतुक मात्र में पर्यवसित होने वाला उपाय ही है।

तस्मात् स्वैरमात्म मौखर्याविष्करणकौतुकोद्रेकमात्रपर्यवसायी एष देशभाषापरिग्रह इति स्थितम्।

नाट्यप्रयोग में भाषा के विषय में केरलभाषा मलयालम् को मिश्रण करने की यही बात पाराशर्य (व्यास)[14], कौण्डिन्य[15], शाण्डिल्य[16] आदि विभिन्न रूपकों के विदूषक पात्रों, नटों तथा विदूषकवत् आचरण करने वालों को भी समझना चाहिए। यही नटाङ्कुशकार का निर्देश है।

समीक्षा

1. विदूषक अपनी उपस्थिति में मञ्च पर बोले जानेवाले सभी संवाद-खण्डों की, एक तरह से व्याख्या ही प्रायः कर देता है और ऐसा करते समय कई बार वह मूल की छाया में रचित भाषा-श्लोकों का व्यवहार भी करता है। ये छाया-श्लोक हास्य-व्यङ्ग्यमयी शैली के होते हैं तथा या तो देशी भाषा मलयालम् में, अथवा 'मणिप्रवालम्' (मिश्र संस्कृत) में रचित होते हैं। नाट्य प्रयोग में तब तक प्रचलित 'प्रभुसम्मितता' एवं 'सुहृद्-सम्मितता' के स्थान पर 'कान्तासम्मितता' को अपनाना ही इसके पीछे महाराजा कुलशेखर वर्मा का मूल उद्देश्य हो सकता है। जो भी हो, उनका यह सुधार शास्त्र-सम्मत ही माना जाना चाहिए।

   भावप्रकाशनकार भोज ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यह निर्देश दिया है कि 'परिहासाय योक्तव्या देशभाषाभिरन्विताः।'[17] लेकिन यह विदूषक पात्र के लिए नहीं, अपितु सात वैभाषिक शकार, आभीर, चण्डाल, पुलिन्द, शबर, हालिक तथा भैरव के लिए है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि नट आदि को गीत, पाठ्य आदि के विश्राम में सदस्यों के परिहास के लिए देशभाषायुक्त इन वैभाषिकों का प्रयोग करना चाहिए।[18] इन वैभाषिकों में विदूषक की स्वीकृति नहीं होती। अतः यह तर्क भी निर्दृष्ट नहीं है।
2. साधारण प्रेक्षकों को आकृष्ट करने के लिए तथा उनकी सुबोधता के लिए देशी भाषा एवं हास-परिहासों का उपयोग अत्यन्त ही आवश्यक है। देशी भाषाओं के उपयोग की बात भरत मुनि के लिए भी मान्य थी। 'नाट्यशास्त्र' में उन्होंने इस विषय में अपना विचार व्यक्त भी किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने 'मिश्र-संस्कृत' के बारे में भी कहा है, जिसकी व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्तपादाचार्य ने यह स्पष्ट भी किया है कि दक्षिण भारत में इसका नाम 'मणिप्रवालम्' है।[19]

पदमध्ये संस्कृतं मध्ये देशभाषादियुक्तं तदेव कार्यम्। दक्षिणापथे मणिप्रवालमिति प्रसिद्धम्। काश्मीरे षाटकुलमिति।।[20]

यह जो विवेचना है वह विदूषक के नाटकीय भाषा प्रसङ्ग में नहीं है। अपितु नाटकों में गीत संयोजन के पक्ष में उद्धृत अभिनवभारती की टीका है। केरल की सांस्कृतिक विरासत पुस्तक में पी.के. वेणु

द्वारा उल्लिखित संस्कृत रंगमंच और कुटियाट्टम् नामक शोधपत्र में उपर्युक्त जो समाधान दिया गया है, वह विदूषक की स्थानीय भाषा प्रयोग के विषय से सम्बन्धित नहीं है। अपितु विषयान्तर है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के नाटकों में संस्कृत तथा प्राकृतेतर भाषाओं का प्रयोग होता है। नौनिहाल गौतम महोदय के अनुसार रूपक प्रयोग के समय में औचित्य के अनुसार भाषा प्रयोग होना चाहिए। क्षेत्रीयस्तर में क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग एवं बृहद् स्तर में संस्कृत का प्रयोग होना चाहिए।[21]

परन्तु प्राचीन नाट्यकारों के नाट्यरूपकों में भाषा मिश्रण की यह जो प्रवृत्ति कूडियाट्टम् में किये जाते हैं, वह नाट्यन्याय के अनुसार उपयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि नटाङ्कुशकार जो तर्क दिए हैं, वह उनकी समीक्षकता, विदग्धता और नाट्यप्रावीण्यता को स्पष्ट अभिव्यक्त करता है।

औचित्यवश कह सकते हैं कि देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप नाटकीय भाषा तथा स्थानीय भाषा का प्रयोग होना चाहिए न कि प्रत्येक स्थल पर। जैसे वाल्मीकीय रामायण में भाषा प्रयोग के सन्दर्भ में अशोकवाटिका में हनुमान् सीतामाता से वार्तालाप करने का समुचित विचार करते हुए कहते हैं कि रावण जैसी परिनिष्ठित संस्कृत बोलने की अपेक्षा सामान्य मानव वाली संस्कृत का प्रयोग करना उपयुक्त है।[22] जिससे सीतामाता भयभीत न हों[23] तथा पारिपार्श्विक परिवेश में भी विचलन सृष्टि न हो।

नाटककार कालिदास भी कहते हैं कि नाटक की सफलता सहृदयों की सन्तुष्टि से प्रतिफलित होती है। अतः नाटक को अत्यधिक प्रभावी बनाने के लिए सहृदयों के हृदय के अनुरूप नाट्यप्रयोग में कुशलता का प्रदर्शन करना चाहिए।[24] यदि स्थानीय भाषा का प्रयोग नाटकीय उत्कर्षता का द्योतक है, तो भी उसे स्वीकार करना चाहिए। जिसका निर्वाह नाट्यप्रयोक्ताओं को करने की आवश्यकता है।

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।[25]

अतः देश-काल-परिस्थिति के अनुसार सहृहय तथा तत्तददेशीय प्रेक्षकों की सौकर्य के लिए नाट्यप्रयोग में स्थानीय भाषा का प्रयोग भी करना चाहिए।

सन्दर्भ –

[1] https://en.wikipedia.org/wiki/Koodiyattam
https://ich.unesco.org/en/RL/kutiyattam-sanskrit-theatre-00010

[2] केरल की सांस्कृतिक विरासत, पी.के.वेणु, पृ. ८४

[3] दशरूपक, २.६४

[4] दशरूपक, २.६६

[5] नाट्यप्रकर्षविधायिन्यामखिलजनमनोहारिण्यामस्यां भाषा, नटाङ्कुशम्, पृ. १०१

[6] गिरः श्रव्या भव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभाव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्।

विदग्धानीष मगधमथुरावासिभणिती
निबद्धा यस्तासां स इह कविराजो विजयते।। सरस्वतीकण्ठाभरण, २.१६
अहो, तत्प्राकृतं हारि, नटाङ्कुशम्, पृ. १०१
[7] ततः असद्भूतेन अमुना कथं समानव्यवहारो भवेत्, नटाङ्कुशम्, पृ. १०१
[8] दशरूपक, २.६३
[9] नाट्यशास्त्र, १७.४७
[10] प्राच्या विदूषकादीनां धूर्तानामप्यवन्तिजा, नाट्यशास्त्रम्, १८.५०
[11] सर्वतो हासावहवचनत्वं वसन्तकादेरपि न दृश्यते, नटाङ्कुशम्, पृ. १०३
[12] समुदितैतदाकृतिवाग्वेषत्रयवैकृत्यभाजः एवमिति चेत् तथवै यौगन्धरायणेऽतिप्रसङ्गः, नटाङ्कुशम्, पृ. १०३
[13] ननु नर्मसचिवानां लोकभाषा इति एतावदेवालम्, अनर्मसचिवानां भवतु वा मा वा। बाढम्, नटाङ्कुशम्, पृ. १०३
[14] केरल के कुलशेखरवर्मभूपाल विरचित तापतीसंवरणम् का विदूषक
[15] केरल के कुलशेखरवर्मभूपाल विरचित सुभद्राधनञ्जयम् का विदूषक
[16] भगवदज्जुकम् प्रहसन में शिष्य का नाम शाण्डिल्य है, जो विदूषकवत् आचरण करता है।
[17] भावप्रकाशन, दशमोऽधिकार, १७९
केरल की सांस्कृतिक विरासत, पी.के.वेणु, पृ. ८४
[18] भावप्रकाशन, दशमोऽधिकार, १७९
[19] केरल की सांस्कृतिक विरासत, पी.के.वेणु, पृ. ८४
[20] नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, ३२.३८४
[21] नाट्यशास्त्रीय मूल तत्त्वों की विकास परम्परा, संस्कृतरूपकेषु भाषाप्रयोगस्य विकासक्रमः, नौनिहाल गौतमः
[22] अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृतम्।। वाल्मीकीय रामायण, ५.३०.१
[23] यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।। वाल्मीकीय रामायण, ५.३०.१८
[24] नाटक एक जीवन्त प्रक्रिया है। उसकी प्रत्येक प्रस्तुति चुँकि निदेशक भूमिका करने वाले, साज-सज्जा करने वाले, मञ्च व्यवस्था करने वाले, तकनीकी, वाद्य-वादक, गायक-नर्तक आदि अनेक रङ्गकर्मियों का समन्वित प्रयोग होता है और कल्पना तथा कौशल भेद से उसमें अन्तर उत्पन्न होता रहता है। अतः वह सही अर्थों में प्रयोग का रूप धारण कर लेता है। भरत और उनका नाट्यशास्त्र, पृ. ७४
[25] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.२

Concept of Painting in Sanskrit Works

• Dr. Bhagyashree Sarma
• Dr. Sudeshna Bhattacharjya

Abstract - Painting is a way of expressing the inner concept or imagination of a painter by which the concept comes through some shapes and gives an idea of the painter's imagination. In Sanskrit, the word *citra* or *citrakalā* is used to denote painting.[1] Painting is included in the sixty four varieties of *kalā* i.e. Art as referred in the *Kāmasūtra* of Vātsyāyaṇa.[2] According to the *Śabdakalpadruma,* a particular picture of an object is the result of the painter's visualization of the image which is already viewed or noticed by the painter earlier somewhere.[3] So it can be said that painting is a good medium of expression of observed or imagined things.

Keywords - Kāmasūtra, rūpanirmāṇa, tvaṣṭā, kaṅka, Citrasūtra, vartula, dṛḍhaḥ, Mānasollāsa, Mānasāra, Śilparatna.

From the early period of civilization to still, people take this medium to express and establish different concepts which bear some examples of interest of people on painting even in the primitive age. At the primitive age the nomadic people used to live in the caves where they painted mostly some hunting scenes as in that period hunting is the only way of survival. The reformation of numerous cave paintings bears the proof of interest on painting at that time. For the first time in India, the cave paintings of Camoor hill in Vindhya ranges near Mirzapur were discovered under the rule of British Government in 1880. Among those Britishers Johan Cockburn

* Assistant Professor, Department of Assamese, Dibrugarh University
* Professor, Department of Sanskrit, Gauhati University

and Archibald Carlleyle were regarded as the foremost discoverers of cave painting.[4] The cave paintings of Bhimbetka rock shelters are regarded as oldest as the date is assumed from 8000 BP to 3000 BP.[5] Nani Gopal Majumdar was the first excavator of the cave of Mahenjo-Daro in 1922 and it is recorded in the *Saptahik Hindustan*.[6] Moreover, in 1875, Sir Alexander Cunningham discovered a number of seals of Harappa in Montgomery district.[7] The paintings of the caves of Ajanta and Ellora are also famous in all over the world. Thus, a great range of civilization can be seen in the field of this Art from.

Apart from it, if the discussion of development of Painting is done throughout the pages of Sanskrit literature, there are numerous references come forward from the Vedic literature to modern Sanskrit literature. The *Ṛgveda* is regarded as the foremost written document and also the possessor of all knowledge. So, it is obvious to have some references of painting in the *Ṛgveda*. In the *Ṛgveda*, the reference of *rūpanirmāṇa* i.e. making of different forms or appearances is found. In the Vedas the carpenters are known as *tvaṣṭā*.[8] Moreover, in the *Ṛgveda* Brahmaṇaspati is regarded as sculptor as he gives the forms to all deities.[9] In the Vedic text the pilling of bricks for alters is known as *citi*[10]. During the making of Vedic alters, the pilling of the bricks of the Vedic alters were designed in different forms. Thus, the Vedic alters got their various forms. In the *Kātyāyanaśrautasūtra* the reference of different shapes like *droṇa* i.e. a scorpion, *rathacakra* i.e. wheel, *kaṅka* i.e. heron, *śyena* i.e. falcon[11] etc of Vedic alters are found.[12] So it can be said that the practice of making different forms by observing different objects, animals, birds etc. of surroundings was there in the Vedic time, which definitely gives contribution to the Indian Painting. Moreover, in the *Maitreyopaniṣad* also the reference of Canvas is found.[13]

After getting its first inkling in the Vedic literature, this Art form had become prominent in the pages of the two epics viz. the *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata*. In the *Rāmāyaṇa*, the reference of the decoration of Rāvaṇa's *puṣpakavimāna* with different kinds of metals like pearl, silver, coral, gold etc. bears the proof of having the knowledge of the beauty of art during that

time.[14] Moreover, in painting *sādṛśya* i.e. having similarity is very important between the observed object and the painted object. *Sādṛśya* i.e. similarity is one of the six limbs of painting.[15] In the *Rāmāyaṇa* also, the reference of giving emphasis on *sādṛśya* i.e. similarity can be seen.[16] Moreover, in the *Rāmāyaṇa* it is said that, the bier of king Bāli was decorated. The expert painter painted and decorated the bier with some figures of birds, trees etc.[17] In the *Rāmāyaṇa*, it is stated that the body of elephants were used as canvas and due to the broad shape it might be a good surface for painting.[18]Moreover, the doors, walls and pillars of the royal palaces of Ayodhyā were decorated with some elegant pictures.[19] In the Bhiṣmaparva *Mahābhārata*, the reference of painting can be found in the context of Uṣā and Aniruddha. A well known story of Uṣā and Aniruddha of *Mahābhārata* deals with that circumstance where Uṣās's friend Citralekhā painted the picture of Aniruddha. Actually according to the story, Uṣā saw him in her dream and Citralekhā tried to paint his appearance as it is said by Uṣā. Moreover, in the *Mahābhārata*, *rūpabheda* i.e. different forms of objects are accepted. *Rūpabheda* is the first variety of six limbs of painting. This variety of limbs of painting demands the knowledge of different forms through which a painter can establish different sizes, shapes, colours, body complexions etc. In the *Mahābhārata*, it is said that form is of various kinds like short, tall, thick, square, round, white, black, red, blue, yellow, radish, hard, bright, smooth, soft and terrible.[20] In the *Mahābhārata*, a live description of the battle field is found. According to the description people became senseless on the ground after seeing the destruction in the war of *Mahābhārata*, and the whole scene looked like a distressed painting, painted on a canvas- *kathā nyastā paṭe yathā*.[21]

The Puranic texts are also regarded as a good container of references of painting. There are various Mahāpurāṇas and Upapurāṇas which have references of painting. In the *Nāgarakhaṇḍa* of *Skandapurāṇa* a story is found as King Anatarāja sent the best painters to different countries to paint the pictures of handsome and eligible royal kings so that his daughter Ratnāvatī can choose her groom by seeing those pictures.[22] In the

Matsyapurāṇa a beautiful description of a fort called *tripura* is found where it is said that the fort is adorned with huge picture galleries.[23] In the *Uttarakhaṇḍa* of *Padmapurāṇa* the reference of a book of pictures is found.[24] Moreover, in the *Sṛṣṭikhaṇḍa* of the *Padmapurāṇa* it is said that the crystal pillars and the aches of the mansion of lord Śiva are decorated with the pictures of swans and peacocks.[25] In the *Harivaṁśapurāṇa*, Narada is seen to paint a beautiful picture of Kṛṣṇa on a canvas with perfection to please Rumkmiṇī. On the other hand in front of Kṛṣṇa also he paints a picture of Rumkmiṇī which immediately attracts Kṛṣṇa's heart.[26] Besides all these references of painting found in the different purāṇas, the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* discusses this art form in a great extant. A complete chapter called *Citrasūtra* of the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* is fully dedicated to painting. A systematic and practical discussion of this art form is found in the *Citrasūtra* of the *Viṣṇudharmottarapurāṇa*. Behind the origin of painting, an interesting story is found in the *Viṣṇudharmottarapurāṇa*. That story accepts sage Nārāyaṇa and Viśvakarmā as the foremost persons in the establishment of painting. The story tells that sage Nārāyaṇa was making the picture of the damsel Urvaśī[27] by extracting the juice from *sahakāra* i.e. mango tree and thus the sage Nārāyaṇa created the most beautiful woman in this world.[28] By applying this art form i.e. painting, Urvaśī became the most beautiful damsel.[29] After that the knowledge of this great art form was transferred to Viśvakarmā. Moreover, the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* accepts four kinds of painting viz. *satya, vaiṇika, nāgara* and *miśra*.[30] According to the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* the paintings, which have the similarity with natural things is called *satya.* The *satya* type of painting should be tall, proportionate and beautiful having a charming and attractive background.[31] The term *vaiṇika* comes out from the word *vīṇā* i.e. lute. The painting of this variety should be done on a square surface according to a strict proportion. The picture should not be very *dīrgha* i.e. long or *ulvaṇa* i.e. clotted.[32] The third variety called *nāgara* should be *vartula* i.e. round in shape and *dṛḍhaḥ* i.e. firm. The figures painted in *nāgara* paintings should be adorned with well developed limbs and decorated with garlands.[33] And

the fourth variety called *miśra* is the mixture of the above mentioned three varieties of paintings.[34] Moreover, in the *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, the natural objects and phenomena are seen to minutely observe and elaborately describes the process of making the pictures of natural objects and phenomena. The *Viṣṇudharmottarapurāṇa* says that the picture of mountain should be adorned with plenty of rocks, peaks, metals, trees, streams and snakes;[35] the picture of forest is filled with trees, birds and wild beast[36] and the portrait of sky should be drawn without any specific colour and it should be filled with various birds.[37] Moreover, in the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* natural phenomena like the picture dawn is said to be endowed with rising of the sun, dim lamps, crying of cocks etc.[38] The *Viṣṇudharmottarapurāṇa* also gives some signs to identify the pictures of some particular places. As for example- a city should be represented with various temples, mansions, markets, residences and royal roads in a picture;[39] the picture of a fort should be accompanied with entrances of the enclosures of the fort, mud walls, palaces and mountains[40] etc. In the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* the measurement of different body parts are given which has to be maintain while an artist paint a human portrait.[41] The measurements of each and every limb of these five kinds of men are tabled here.

Limbs	**Measurements in *aṅgula* i.e. finger** (Height X Breadth)
Mūrdhā (Head)	12 *aṅgula*s
Lalāṭa(Forehead)	4 X 8 *aṅgula*s
śaṅkha(temporal bone)	2 X 4 *aṅgula*s
Gaṇḍa (cheek)	5 *aṅgula*s
Hanu (chin)	4 *aṅgula*s
Karṇa (ear)	4 X 2 *aṅgula*s
Nāsā (nose)	4 *aṅgula*s
Oṣṭha (lips)	1X 4 *aṅgula* (both upper and lower lips)
Dantāḥ(teeth)	1/12 *aṅgula*s

Netra (eye)	3 X 1 *aṅgula*s
Tārā (eye-ball)	1/5th of the eye
Bhru (eye-brow)	3 X ½ *aṅgula*s
Grīvā (neck)	12 *aṅgula*s (breadth) and 21 *aṅgula*s (circumference)
Bāhumūla (armpit)	16 *aṅgula*s (circumference)
Karatala(palm)	12 *aṅgula*s i.e. long-7 *aṅgula*s and broad- 5 *aṅgula*s
Nābhi (navel)	1 *aṅgula*s
Kaṭi (hip)	18 *aṅgula*s (breadth) and 44 *aṅgula*s (circumference)
Vṛṣaṇa (scrotum)	4 *aṅgula*s (wide)
Meḍhraṁ (penis)	6 *aṅgula*s (length)
Ūru (thigh)	4 *aṅgula*s
Pārṣṇī (heel)	4 X 3 *aṅgula*s

Moreover, the *Viṣṇudharmottarapurāṇa* also discusses some important topics on painting such as- delineation of sentiments in painting, personification and symbolization used in painting etc.

Moreover, the Classical Sanskrit literature can be said as the storehouse of the references of painting. Though the imaginary narrations and explanations of Sanskrit poets turn into some beautiful pictures in front of the readers, we find some direct references of painting in their works. The Bāṇabhatta's *Kādambarī* (7th Century) is a noteworthy work in this context. In the *Kādambarī* the reference of mixture of colours like yellow, red etc. in painting is manifested with the words *citrakarmasu varṇasaṁkarā*.[42] In the *Kādambarī*, the expertness of Candrāpīḍa on different aspects along with painting is showed.[43] In the *Kādambarī* it is stated that king Śūdraka wore a special kind of white attire which was decorated with couples of swans and the picture was painted with *goracanā*[44] i.e. a bright yellow pigment prepared from the urine or bile of a cow[45]. Moreover, we find the reference of having picture galleries in the houses of the city of Ujjayinī in Bānabhatta's *Kādambarī*.[46] The *Harṣacarita* of Bānabhatta is also a great prose romance of Classical Sanskrit literature where we can able to find some references of painting. In the *Harṣacarita*, we find the reference of inviting some expert painters from different countries in the marriage

ceremony of Rājyaśrī and those painters painted some auspicious paintings.[47] Moreover, in that marriage ceremony, vases were painted with the picture of leaves and creepers with various colours.[48] Moreover, in the *Harṣacarita* it is said that after the death of king Prabhākara Vardhana, his memories remained in his pictures.[49] In the *Daśakumāracarita* of Daṇḍī, there is the mention of a courtesan named Kāmamañjarī, who was expert in all arts along with painting.[50]

In the poetry of Kālidāsa, numerous references of painting are found. In the *Meghadūta*, Kālidāsa shows that Yakṣa painted the picture of his wife on a slab of stone with mineral dyes.[51] Moreover, in the *Meghadūta* it is seen that the interior of the palaces of city Alakā was endowed with colourful paintings which were looked like rainbows.[52] In the *Raghuvaṁśa* of Kālidāsa, Aja was seen to recall the memories of his dead wife Indumatī by seeing her pictures.[53] Moreover, in the *Raghuvaṁśa* it is stated that after returning from the exile Rāma entered and visited that room with teary eyed, where a portrait of his father Daśaratha was hanged.[54] In the *Kumārasambhava*, the physical beauty of Pārvatī is compared with a painting.[55] Moreover, in the *Kumārasambhava* it is stated that the entire garden became still like a painting.[56]A beautiful picturisation of the evening time is found in the *Kumārasambhava*, where the cloudy sky is compared with a canvas and it is looked like painted by a brush with different colours like red, yellow etc.[57] Moreover, in the *Kumārasambhava*, Pārvatī is seen to draw a picture of her beloved lord Śiva.[58] In the *Śiśupālavadha* of Māgha, the auditoriums are said to be adorned with the pictures of different gods and goddesses.[59] The rooms of loftily mansions of Dvārakāpurī were decorated with some wonderful pictures.[60] In the *Naiṣadhacarita* of Srīharṣa, Damayantī is seen to draw a picture of a young couple on the wall of recreation hall with the help of an expert painter and thus she used to see the love of Nala and herself in that picture.[61] Moreover in the *Naiṣadhacarita* it is stated that historical legends are depicted as pictures on walls.[62] In the *Nalacampu* of Trivikramabhatta it can be found that some black coloured lines were painted with collyrium on the walls of the mansions.[63]

Sanskrit Dramas of different dramatists say about painting in different contexts in their works. In the *Svapnavāsavadatta* of Bhāsa, a portrait of Udayana and Vāsavadattā is sent by the parent of Vāsavadattā which is painted on a picture board.[64] Moreover, in the *Pratijñāyaugandharāyaṇa* of Bhāsa, we find a reference of painting where it is seen that Vāsavadattā's parent Pradyota and Aṅgāravatī got Vāsavadattā's and Udayana's portraits married to complete the legal process of marriage.[65] In the *Dūtavākya* of Bhāsa, Duryodhana is seen to order Kāñcukīya to bring the portrait where Duḥśāsana snatched Draupadī by her attire and hair[66] and after seeing that portrait Duryodhana appreciated it.[67] In the *Abhijñānaśakuntala* Śakuntalā is referred to as being enlivened after she was drawn as a picture initially.[68] Moreover, in the *Abhijñānaśakuntala*, when Anasūyā and Priyambadā decorated Śakuntalā with ornaments, they said that though they had never used ornaments, they could be able to put them on Śakuntalā's limbs from the knowledge which they had got from painting.[69] Moreover, in the 6th Act of *Abhijñānaśakuntala*, Caturikā is seen to bring a picture board where Śakuntalā was beautifully painted [70] and when Duṣyanta saw that picture his mind was filled with love and he became compassionate towards the painting of Śakuntalā.[71] The *Mālavikāgnimitra* and *Vikramorvarśīya* of Kālidāsa also have references of painting. In the *Mālavikāgnimitra*, king Agnimtra's heart was exaggerated after seeing the portrait of Mālavikā.[72] Moreover, Bakulāvalikā showed a picture of king Agnimtra to Mālavikā[73] and Mālavikā also became very pleased to notice her lord in that picture.[74] In the *Vikramorvarśīya*, Vidūṣaka is seen to request Citrlekhā to draw a picture of Urvaśī to consol the mind of king Vikrama.[75] In the *Mudrārākṣasa* of Viśākhādatta Rākṣasa is seen to draw picture in his mind as there was no canvas in his hand.[76] In the *Uttararāmacarita* of Bhavabhuti a whole scene of *citradarśana* is found, where Rāma, Sītā and Lakṣamaṇa reminisce the incidents of their past life by seeing the pictures of the art gallery.[77] In the *Mālatīmādhava* of Bhavabhuti also a reference of painting is found where Kalahaṁsa is seen to enter with a picture board.[78] Moreover, there are some Nāṭikās in Sanskrit literature which have numerous references of painting. In

the *Ratnāvalī* of Śrīharṣa, Sāgarikā is seen to enter in banana grove carrying a colour basket, a picture board and a brush.[79] Moreover, in the *Nāgānanda* of Śrīharṣa it is seen that Yakṣa, the hero was afflicted with the love for the heroin Malayāva and he wanted to recall her by draw a picture on a stone.[80]

Moreover, there are some works viz. *Samarāṅgaṇasūtradhāra*, *Mānasollāsa*, *Mānasāra*, *Śilparatna* etc. basically based on Architecture but some references of painting are also found in middle of the discussion. In the *Mānasollāsa* it is stated that when the nine sentiments viz. *Śṛṅgāra* i.e. erotic, *Hāsya* i.e. humour, *Karuṇa* i.e. pathos, *Raudra* i.e. furious, *Vīra* i.e. heroic, *Bhayānaka* i.e. terrible, *Adbhuta* i.e. wonder, *Bībhatsa* i.e. odious and *Śānta* i.e. quietism are delineated through painting, these are called *bhāvacitra* by the expert painters.[81]

Conclusion: From the above discussion it can be concluded that the concept of painting in Sanskrit works from the Vedic scriptures intertwined with philosophical, aesthetical, and spiritual aspects. The Sanskrit texts seem to discuss not only the technicalities of painting but also its deeper symbolic meanings and cultural significance. These works assert that painting is not merely a craft or a visual expression but a medium through which the artist communicates profound spiritual and emotional truths. In this context, painting is not just a representation of external forms but an evocation of *Rasa*, the essence or mood that transcends the physical and touches the inner realms of consciousness.

References:

[1] Anundoram Borooah, *English- Sanskrit Dictionary*, p.499

[2] gītaṁ vādyaṁ nṛtyaṁ ālekhyaṁ........iti catuḥṣaṣṭiraṅgavidyāḥ kāmasūtrasyāvayavinyaḥ/ *Kāmasūtra*, 3.1.16

[3] citra kṣaṇikekṣaṇe/ lekhye'dbhute/kṣaṇike kṣaṇaṁ kadāciddarśanam/ citrayati citrāpayati rāhuṁ lokaḥ kadācit paśyatītyarthaḥ/ citrayati pratimāṁ lokaḥ/ *Śabdakalpadruma*, vol-2, p.448

[4] Lokesh Chandra Sarma, *A Brief History of Indian Painting*, p.7

[5] Yashodhar Mathpal, *Prihistoric painting of Bhimbetka*, p.220

[6] Iswar Sing Bains, *Saptahik Hindustan*, 20th to 26th April, 1980

[7] Lokesh Chandra Sarma, *A Brief History of Indian Painting*, p.16

[8] .....tvaṣṭā rūpāṇi piṁśatu/ *Ṛgveda*, 10.184.1

[9] brahmaṇaspatiretā saṁ kamāraivādhamat/ devānāṁ pūrvye yuge'sataḥ sadajāyata// *Ṛgveda*,10.72.2

[10] Sen, Chitrabhanu, *A Dictionary of the Vedic Rituals*, p.68

[11] Sen, Chitrabhanu, *A Dictionary of the Vedic Rituals*, p.68

[12] ......citiṁ cinvanti droṇacidrathacakracitkaṅkacitpraugacidubhayataḥ.....// *Kātyāyanaśrautasūtra*, 16.5.9

[13] ....citrabhittiriva mithyāmanoramamityathoktam/ *Maitreyopaniṣad*, 4.2

[14] jālavātāyanairyuktaṁ kāñcanaiḥ sthāṭikairapi/ indranīlamahānīlamaṇipravaravrdikam/ vimānaṁ puṣpakaṁ divyamāruroha mahākapiḥ/ *Rāmāyaṇa*, 5.7.15

[15] rūpabhedāḥ pramāṇāni bhāvalāvaṇyayojanam/ sādṛśyaṁ varṇikābhaṅgaṁ iti citraṁ ṣaḍaṅgakam// *Kāmasūtra*, 3.1.p.30

[16] vākyamapratirūpaṁ tu na citraṁ strīṣu...../ *Rāmāyaṇa*, 3.45.26

[17]......divyāṁ bhadrāsanayutāṁ śibikāṁ syandanopamām// pakṣikarmabhirācitrāṁ drumakarmavibhūṣitām// ācitāṁ citrapattībhiḥ suniviṣṭāṁ samantataḥ// *Rāmāyaṇa*, 4,25.22-23

[18]......gajāḥ paramabhittibhiḥ....../ *Rāmāyaṇa*,3.15.15

[19] sukṛtehāmṛgākīrṇaṁ sukīrṇaṁ bhittibhistathā..../ *Rāmāyaṇa*, 2.15.36

[20] jyoti paśyati rūpāṇi rūpaṁ ca bahudhā smṛtam/ hrasvo dīrghastathā sthūlaścaturastro'nuvṛttavān// śuklaḥ kṛṣṇastathā raktaḥ pīto nīlo'ruṇastathā/ kaṭhinaścikkaṇaḥ ślakṣṇa picchilo mṛdudāruṇaḥ// *Mahābhārata*, 12.184.33-34

[21] niḥsaṁjñaṁ patitaṁ bhūmau tadāsīdrājamaṇḍalam/ pralāpayuktā mahatī kathā nyastā paṭe yathā// *Mahābhārata*, 9.1.40

[22] ......athasaṁpreṣayāmāsa sarvabhūtāśrayeṣuye/ citrakarmaṇivikhyātā yūyaṁcitrakarāstataḥ/ gacchadhvaṁmamavākyena sarvānbhūmitalenṛpān/ likhitvāpṭṭamadhyetu darśayadhvaṁ tataḥ param/ sutāyāmamayenāsau dṛṣtvābhīṣṭaṁnarādhipam/ patyathaivarayetsādhvī ma madoṣobhavennahi/ *Skandapurāṇa*, *Nāgarakhaṇḍa*, 186.4-6

[23] ....tripuraṁ durgaṁ......citraśālaviśālāni....../ *Matsyapurāṇa*, 130.16

[24] ....pustakaṁvartatedevitatracitrāṇisaṁtivai/ *Padmapurāṇa*, *Uttarakhaṇḍa*, 221.2

[25] haṁsasamṛghātasaṁdiṣṭa sphaṭikastambhaṁtoraṇam/ *Padmapurāṇa*, *Sṛṣṭikhaṇḍa*, 43.449

[26] kṛṣṇaṁ bhīṣmasutācitra bhittau nārada citrakṛta/ varṇarūpakyoviddhaṁ vilikhya bahirudhayau// vilikhya paṭṭake spaṣṭaṁ rukmiṇyā rūpamadbhutam/ haraye'darśayadgatvā cittasanmohakāraṇam// Harivaṁśapurāṇa, 44-45

[27] urvaśīm sṛjataḥ pūrvam citrasūtram nṛpātmaja/
nārāyaṇena muninā lokānām hitakāmyayā// *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.35.1-2

[28] sahakārarasam gṛhya urvyām cakre varastriyam/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.35.3

[29] citreṇa sā tato jātā rūpayuktā varāsparā/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.35.3

[30] satyaṁ ca vaiṇikaṁ caiva nāgaraṁ miśrameva ca/ citraṁ caturvidhaṁ proktaṁ.../ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.41.1

[31] yatkiñcillokasādṛśyaṁ citraṁ tatsatyamucyate/ dīrghāṅge sapramāṇaṁ ca sukumāraṁ subhūmikaṁ/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.41.2

[32] caturastraṁ susampūrṇaṁ na dīrghaṁ nolvaṇākṛtiṁ/ pramāṇaṁ sthānalambhāḍhyaṁ vaiṇikaṁ tannigadyate/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.41.3

[33] dṛḍhopacitasarvāṅgaṁ vartulaṁ nadyanolvaṇaṁ/ citraṁ taṁ nāgaraṁ jñeyaṁ svalpamālyavibhūṣaṇaṁ/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.41.4

[34] citramiśraṁ samākhyātaṁ samāsānmanujottama/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.41.5

[35] parvataṁ tu śailājālaiḥ śikharairdhātubhirdrumaiḥ/nirjharairbhujagaiścaiva darśayennṛpasattama// *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.59

[36] vanam nānāvidhairvṛkṣairvihaṅgaiḥ śvāpadaistathā/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.60

[37] ākāśam daśayerdvidvānvivarṇam khagamākulam/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.57

[38] sāruṇo mlānadīpaśca pratyūṣo rutakukkuṭaḥ/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.68

[39] devatāveśmabhiścitraiḥ prāsādāpaṇaveśmabhiḥ/ nagaraṁ darśayedvidvān rājamārgaiśca śobhanaiḥ/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.61-62

[40] durgānāṁ kartavyaṁ darśanaṁ tathā/ svabhūmiviniveśena vaprāṭṭālakaparvataiḥ/ *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.42.63

[41] *Viṣṇudharmottarapurāṇa*, 3.36.p.107-108

[42] citrakarmasvālekhyakriyāmu varṇānāṁ pītaraktādīnāṁ saṁkaro melanam/ *Kādambarī, Tattvaprakāśikā*, p.12

[43] candrāpīḍo...... citrakarmaṇi.....paraṁ kauśalamavāpa/ *Kādambarī*, p.126

[44]..... amṛtaphenadhavale gorocanālikhitahaṁsamithunasanāthaparyante ....vasānam..../ *Kādambarī*, p.19

[45] V.S Apte, *The student's Sanskrit English Dictionary*, p.193

[46] ....darśitaviśvarūpeva citrabhittibhiḥ..../ *Kādambarī*, 1. p.88

[47] ......tasminneṣu ca vivāhadivaseṣu.....caturacitrakaracakravālalikhyamānamaṅgalyālekhyam.....ramaṇīyaṁ..... āsīdrājakulam/ *Harṣacarita*, 4.p.143

[48] ......bahurvidhavarṇakādi......citrayantībhiścitrapatralatālekhyakuśalābhiḥ kalaśāṁśca....../ *Harṣacarita*, 4.p.143

[49] citraviśeṣākṛtau kāvyaśeṣanāmni naranāthe....../ *Harṣacarita*, 6. p.177

[50] tamekadā kāmamañjarī nāmā......gaṇikā......nṛtyagītavādyanāṭyacitrāsvādyagandhapuṣpakalāsu ......samyagvinayanam....../*Daśakumāracarita*, 2.p.66

[51] tvāmālikhya praṇayakupitāṁ dhāturāgaiḥ śilāyā..../ *Meghadūta*, 2.45

[52] vidyutvantaṁ lalita vanitāḥ sendracāpaṁ sacitrāḥ/ *Meghadūta*, 2.1

[53] sādṛśyapratikṛtidarśanaiḥ priyāyāḥ svapneṣu kṣaṇikasamāgamotsavaiśca/ *Raghuvaṁśa*,8.92

[54]bāṣpāyamāṇo balimanniketamālekhyaśeṣasya piturviveśa/ *Raghuvaṁśa*, 14.15

[55] unmīlitaṁ tūlikayeva citraṁ sūryāṁśubhirbhinnamivāravindam/ babhūva tasyāścaturasraśobhi vapurvibhaktaṁ navayauvanena// *Kumārasaṁbhava*, 1.32

[56] tacchāsanātkānanameva sarvaṁ citrārpitārambhamivāvatasthe/ *Kumārasaṁbhava*, 3.42

[57] raktapītakapiśāḥ payomucāṁ koṭayaḥ kuṭilakeśi bhāntyamūḥ/drakṣyasi tvamiti saṁdhyayānayā vartikābhiriva sādhumaṇḍitāḥ// *Kumārasaṁbhava*, 8.45

[58] ....svahastollikhitaśca mugdhayāṁ rahasyupālabhyata candraśekharaḥ/ *Kumārasaṁbhava*, 5.58

[59]iti saṁrambhiṇo vāṇīrbalasyālekhyadevatāḥ/ sabhābhittipratidhvānairbhayādanvavadanniva// *Śiśupālavadha*,2.67

[60]......vicitrairapi yā sacitrairgṛhairviśālairapi bhūriśālaiḥ/ *Śiśupālavadha*,3.50

[61] priyaṁ priyāṁ ca trijagajjayiśriyau likhādhilīlāgṛhabhitti kāvapi/ iti sma sā kārutareṇa lekhitaṁ nalasya ca svasya ca sakhyamīkṣate// *Naiṣadhacarita*, 1.38

[62] bhitticitralikhitākhilakramā yatra tasthuritihāsasaṁkathāḥ/ *Naiṣadhacarita*,18.20

[63] kajjalālekhyacitra.......bhavanabhittiṣu/ *Nalacampu*, p.35

[64] atha cāvābhyāṁ tava ca vāsavadattāyāśca pratikṛtiṁ citraphalakāyāmālikhya...../ *Svapnavāsavadatta*, 6.p.122

[65] tañcitraphalakasthayorvatsarājavāsavadattayorvivāho'nuṣṭhiyatām iti/ *Pratijñāyaugandharāyaṇa*,4.p.126

[66] ānīyatāṁ sa citrapaṭo nanu, yatra draupadīkeśāmbarābakarṣamālikhitam/ *Dūtavākya*, p.32

[67] Duryodhana- aho darśanīyo'yaṁ citrapaṭaḥ/ *Dūtavākya*, p.32

[68] citre niveśyaparikalpitasattvayogā ...../ *Abhijñānaśakuntala*, 2.9

[69] citrakarmaparicayenāṅgeṣu ca ābharaṇaviniyogaṁ kurvaḥ/ *Abhijñānaśakuntala*, 4.p.138

[70] (praviśyāpaṭīkṣepeṇa citraphalakahastā/)
Caturikā- iyaṁ citragatā bhaṭṭinī/ *Abhijñānaśakuntala*, 6.p.226

[71] smṛtikāriṇā tvayā me punarapi citrīkṛtā kāntā/ *Abhijñānaśakuntala*, 6.21

[72] citragatāyāmasyāṁ kāntivisaṁvādaśaṅki me hṛdayam/ *Mālavikāgnimitra*, 2.2

[73] Bakulāvalikā- nanveṣa citragato bhartā/ *Mālavikāgnimitra*, 4.p.115

[74]Mālavikā- ....yathā mayā vibhāvitaścitragato bhartā/ *Mālavikāgnimitra*, 4.p.115

[75] Viduṣakaḥ-......... atha vā tatra bhavatyā urvaśyāḥ pratikṛtimālikhyāvalokayaṁstiṣṭha/ *Vikramorvarśīya*, 2.p.110

[76] ....mama citrakarmaracanā bhittiṁ vinā vartate/ *Mudrārākṣasa*, 2.4

[77] Lakṣmaṇa: .....ārya tena citrakāreṇāsmadupadiṣṭamāryasya caritamasyāṁ vīthikāyāmabhilikhitam/ tatpaśyatvāryaḥ/ *Uttararāmacarita*, p.15

[78] tataḥ praviśati gṛhītacitraphalakopakaraṇa kalahaṁsa/ *Mālatīmādhava*,1.p.36

[79] halā dṛṣṭā mayā sāgarikā gṛhītasamuṅgakacitraphalakavartikā samuddignā iva kadalīgṛhaṁ praviśantī/ *Ratnāvalī*, 2.p.4

[80] .....tāmevāsyāṁ śilāyāmālikhya tayā citragatayātmānaṁ vinodayeyam/ *Nāgānanda*, 2.p94

[81] .....śṛṅgārādiraso yatra darśanādeva gamyate// bhāvacitraṁ tadākhyātaṁ citrakautkakārakam/ sadravaivarṇakairlekhyaṁ rasacitraṁ vicakṣaṇaiḥ// *Mānasollāsa*, 942

Vedanta and Social Work

• Prof. Rakesh Dwivedi
• Dr. Ranvijay Singh
• Hareem Fatima Nomani
• Anjali Mishra

Abstract - This paper emphasizes on the connection among social work and Vedanta philosophy, emphasizing on how the latter's intellectual underpinnings might improve social work practice's efficacy. Self-realization, selfless service, and universal oneness are central to Vedanta, a traditional Indian philosophy obtained from the Vedas. In its aim to empower marginalized populations, social work—a profession that promotes social justice, dignity, and individual well-being—finds resonance with these values. In this study, the principles and techniques used in social work are examined in light of Vedanta's ageless wisdom. Social work researchers and practitioners can better meet the holistic needs of persons and communities by incorporating Vedantic insights into theory, practice, and research. The paper explores the fundamental principles of Vedanta and explains the way professional workers can utilize their wisdom to develop close connection with clients, develop empathy, and acknowledge the inherent value and dignity of every person. Social workers may bridge social, religious, and cultural divides and create inclusive, empowering settings for their clients by embracing the thought of unity in diversity. The paper also highlights the spiritual teachings of the Vedanta and how it is related with Social Work.

*Corresponding author, Professor, Department of Social Work, University of Lucknow,
*Field Work Organizer, Department of Social Work, University of Lucknow,
*Research Scholar, Department of Social Work, University of Lucknow
*Research Scholar, Department of Social Work, University of Lucknow,

Keywords: *Indian Philosophy, Vedanta, Social Work, Vedas, Swami Vivekananda*

Introduction - Swami Vivekananda (2024), was a prominent thinker of India and worldwide spiritual and philosophical circles. He was a follower of Sri Ramakrishna Paramahansa and promoted the Vedanta school of thought (*Relationship between Ramakrishna and Swami Vivekananda Article Talk*, 2023)[1]. Vivekananda was a prolific author and orator, known for his profound thought, eloquence, and pragmatic approach to spirituality. He established the Ramakrishna Math & Ramakrishna Mission to serve humanity and advance Vedanta. The teachings of Vivekananda placed a strong emphasis on the growth of one's own character and strength, the quest of knowledge, and service to the oppressed. Vivekananda, a prominent Hindu philosopher and reformer, focused in popularizing Hindu ideas of Yoga and Vedanta in the West during the late 19th and early 20th centuries. He made his debut in Chicago in 1893, emphasizing the universal nature of religion and mutual respect among faiths. (*Swami Vivekananda*, 2024)[2].

Indian Philosophy is categorized into Āstika and Nāstika schools based on their acceptance of the Vedas, Brahman, Atman, and existence of life after death and Devas. Vedanta is amoongst the six main āstika schools, along with five important heterodox nāstika schools: Jain, Buddhist, Ajivika, Ajñana, and Charvaka (*Indian Philosophy*, 2024)[3]. Formalization and recognition of Vedanta occurred between 500 BC and the late Common Era centuries. Throughout his many talks, papers, and conversations, eminent Vedanta practitioner Swami Vivekananda expounded on the idea of the system. His Guru Sri Ramakrishna Paramahansa, the Advaita Vedanta tradition—especially as articulated by Adi Shankaracharya—as well as his personal spiritual experiences had a major impact on the understanding and presentation of Vedanta. Taken from the Sanskrit terms "Veda" (knowledge) with "anta" (finish or conclusion) (*Advaita Vedanta*, 2024)[4], Vedanta is the intellectual synthesis of the Vedas, which are the ancient Hindu texts. Fundamentally, Vedanta signifies that everything is fundamentally one and interrelated, and that Brahman, the ultimate truth, is transcendent and non-dual. Through self-

knowledge and self-realization, one can realise their true essence (Atman) and achieve spiritual emancipation (moksha), as per the ideology. Oneness, kindness, selflessness, and the quest of inner harmony and tranquilly are among the basic ideas of Vedanta (*Advaita Vedanta*, 2024)[5]. Few essential tenets of Swami Vivekananda's Vedanta philosophy are: Oneness of Existence, Divinity of the Soul, Unity of Religions, Practical Vedanta, Strength and Fearlessness and Social Service (Tathagatananda, n.d.)[6]. Social work profession relies on the basis of human rights, social justice, and group wellbeing. Promoting the autonomy, dignity, and empowerment of individuals and communities—especially the marginalized and oppressed—is a core responsibility of social workers. A broad spectrum of interventions, such as community organizing, lobbying, counseling, and policy formulation, are in the practice of social work with the aim of addressing social problems, lowering inequality, and improving quality of life. The objective of the study is to know about Vedanta and how it is connected with Social Work.

SPIRITUALITY

The act of praying, contemplation, spiritual matters learning, and selflessness are all part of Vedanta practice. All spiritual traditions are respected by Vedanta, which also urges people to study the teachings of prophets and religious leaders from all faiths. Vedanta is a school of philosophy and spirituality which is mentioned in the Upanishads and other ancient Indian texts known as the Vedas. It has had a significant impact on Hindu spirituality and thought. The six traditional schools, known as shatdarshanas, are Uttara Mimamsa (Vedanta Philosophy), the Nyaya Sankhya, Yoga, Vaisheshika, and Purva Mimamsa. The majority of these philosophical schools uphold the notions of reincarnation and karma. The ultimate aim of human existence is to attain moksha, or salvation, which is known as an escape from the endless cycle between birth and death. Vedanta is one amongst the six recognized schools of Hindu philosophy.

Spiritual Activities of Vedanta:

- Atma Vichara-a method of meditation to comprehend Brahman and oneself.

- Dhyana - consistent practice to calm the mind and discover more profound realities.
- Svadhyaya- reading and considering the Bhagavad Gita, the Upanishads, and the Vedas.
- Satsang- Congregating with spiritual searchers to engage in discourse and acquire knowledge from enlightened instructors.
- Bhakti - Having an intimate relationship with god is a legitimate strategy.

Spirituality-related effects:

In India including other countries, Vedanta has had a significant impact on spiritual philosophy and practice, which gives a thorough framework for comprehending the essence of existence and one's self and places an emphasis on inner realization rather than ceremonial procedures. Well-known individuals including Swami Vivekananda have influenced spiritual groups all around the globe by disseminating the Vedanta philosophy. Vedanta's focus on realization of oneself, non-dual consciousness, and inner experience is in line with many modern spiritual practices and has influenced a number of contemporary spiritual movements.

Vedanta is monotheism from a religious perspective and non-dualistic from a philosophical one. As per Vedanta school, names and forms generate apparent divisions between God, the soul, and the cosmos that are not there from the perspective of ultimate reality. According to Vedanta, all religions are real, and the numerous gods found in religions are only the different way that the God has manifested himself.

According to Vedanta, all humans and everything is one and that Truth is universal. It affirms that all faiths are legitimate paths for their respective adherents to reach the Truth and teaches the unity of Godhead, or ultimate Reality. One way to summaries the four main tenets of Vedanta is as follows: the soul is divine, the Godhead non-dually exists, and religions should coexist harmoniously. The Vedantist's faith rests on all four of these tenets.

According to Swami Vivekananda, the basic lessons of Vedanta are as follows: "Every soul has the capacity to be divine; the aim is to show this greatness

within by manipulating nature, inside as well as outside. Achieve this by labor, devotion, spiritual guidance, or philosophy — through one, several, or all of these — and experience liberation. That is religion in its entirety. Rules, texts, shrines, rituals, forms, and beliefs are merely incidental features."

Spirituality and Social Work

Curiosity about the field has grown during the past few years nexus between spirituality and social work. Integrating spirituality offers an integrated approach to comprehending and complying with human needs, which is highly advantageous for social work, which focuses on enhancing the health of people, their families, and their communities. A complex and multifaceted strategy for assisting people, families, and communities is provided by the incorporation of spirituality within social work practice. Social professionals who embrace this intersection can help their clients heal and become more resilient by offering more skilful and compassionate care.

Role of spirituality in Social Work:

- Integrated Approach: Spirituality attends to clients' physical along with emotional needs, enabling thorough and successful interventions.
- Ethics Structure: Social work ethics and spiritual traditions inform practice and decision-making.
- Resilient and Coping: Having a spiritual connection gives one hope, significance, and purpose, which helps one cope with hardship
- Social networks and Connection: Spirituality promotes a feeling of connection with community, which helps to create support systems and an apprehension of identity.
- Cultural Sensitivity: Part of culturally sensitive work is acknowledging and honouring clients' spiritual beliefs.

Ethical Principles:

Realizing and exhibiting our inherent divinity is the aspiration at the heart of Vedanta ethics and morality. To put it another way, everything that moves us towards that objective is morally and ethically right; anything that hinders is not. The foundation of Vedanta is the concept of the highest soul and truth.

You will receive excellent things if you treat people well. The universe is kind to you if your actions are good.

According to Max Muller: "The Vedanta theology does not ignore the significant sphere of morality; but, on contrary, one can find morality in the start, morality in the middle of the process, and ethical behavior in the final phase, mentioning nothing of the reality that minds, so engrossed with the divine as the Vedanta philosophers, are not likely to fall victims of the ordinary temptations of life, fleshly temptations and additional powers"

VEDANTA AND SOCIAL WORK

Vedanta & social work are interconnected and they have similar ideals and tenets that can guide and improve social work practice. Vedanta's teachings provide social workers with important insights and direction in their endeavors to advance well-being, confront social injustices, and assist marginalized populations, even if its main concerns are spiritual realization including the nature of the ultimate truth. Points which highlight the relationship between Vedanta and social work are:

1. **Oneness and Interconnectedness**: The core idea of Vedanta is that all beings are connected. In a similar vein, social work emphasizes how communities, families, and societies are intertwined. Social workers can develop feelings of compassion, empathy, and solidarity with people who are marginalized or disadvantaged by acknowledging this interconnectedness.

2. **Service and Selflessness**: To achieve spiritual realization, Karma Yoga, or selfless service, is emphasized in Vedanta. Similarly, the foundation of social work is the idea of serving others. Social workers commit themselves to meeting the wants of people and communities; in doing which, they exemplify Karma Yoga and advance the common good.

3. **Empowerment and Liberation**: True freedom, according to Vedanta, is attained through overcoming the ego's confines and realizing one's own divine nature, or Atman. Social workers assist people in realizing their innate qualities, capacities, and growth potential to empower communities and individuals. Social workers help and encourage the attainment of self-determination and emancipation by offering resources, advocacy and support.

4. Social Justice and Advocacy: Vedanta stresses on removing obstacles to human development and promotes social fairness and equality. Social justice is a fundamental focus of the social work, which promotes structural reform to handle the underlying causes of oppression and inequality. The social workers connect with Vedanta values by striving for a society with greater equity and justice.

5. Holistic Approach: The interdependence of the physical being, thoughts, and spirituality is acknowledged by Vedanta. Social work takes a comprehensive approach, attending to the various needs that both individuals and communities have. Social workers offer holistic care that is consistent with Vedantic ideals by considering the psychological, spiritual, social, and physical facets of well-being.

6. Compassionate Action: In Vedanta, the significance of acting with sympathy for every living thing is emphasized. This idea is embodied by social workers when they engage with clients with kindness, empathy, and compassion. Social workers assist the growth, resilience, and healing of people they serve by establishing a secure and nurturing environment.

7. Non-Attachment and Detachment: The philosophy of Vedanta promotes Vairagya, or the absence of attachment to worldly goods and results. Applying this idea will help social workers stay away from compassion fatigue and burnout by keeping a detached mindset from the outcomes of their work. Social workers can maintain their long-term commitment to assisting others by concentrating on the procedure of providing services rather than the final result.

8. Education and Self-Realization: To overcome ignorance and achieve spiritual freedom, Vedanta places a strong emphasis on the value of knowledge along with self-realization Social workers can help communities and individuals become more educated and self-aware, enabling them to overcome obstacles, make wise decisions, and reach their full potential. Through promoting education and individual development, social workers may cultivate resilience and empowerment in the people they assist.

CONCLUSION

The Vedanta-based philosophy of Swami Vivekananda provides deep insights that have the potential to greatly promote the social work profession. Vivekananda established the groundwork for an extensive approach to the field of social work that considers both the more profound spiritual aspects of human existence as well as material demands with his ideas on Spirituality, self-determination and service. The core oneness and connectivity of all beings is emphasized in Vivekananda Vedanta philosophy, which is well aligned with social work's emphasis on overall wellness and the interdependence of people and groups. In their contacts with clients, social workers can foster compassionate empathy and a sense of common humanity by acknowledging the underlying interconnectedness of all existence and the innate divinity inside each individual.

Furthermore, Vivekananda teachings on emancipation and self-realization provide insightful guidance on the empowering process in social work practice. The social workers can help people in escaping the cycles of oppression, poverty, and self-limiting ideas by enabling them to see their inherent qualities, capacities, and growth potential. Vivekananda focus on self-reliance, self-control, and self-mastery offers a road map for individual and group empowerment, pointing people in the direction of increased resilience, agency, and autonomy.

Furthermore, Vivekananda service concept, known as Karma Yoga, provides a strong foundation for social work by highlighting the significance of altruistic deeds and caring assistance to others. Karma Yoga-inspired social workers are driven by a sincere desire to lessen suffering and advance the welfare of others, without anticipating anything in return. Social workers may be motivated by this attitude of service to go beyond the call of duty to genuinely improve the lives of people they assist.

Finally, the Vedanta philosophy of Swami Vivekananda provides an insightful and motivating outlook for the practice of social work. Social workers are able to improve the overall fulfillment, empowerment, & social justice that they promote more effectively by incorporating the Vedantic ideals of

solidarity, self-determination, service, along with reforming society into their work. Social workers all throughout the world are guided and inspired by Vivekananda ageless wisdom, which serves as a constant reminder of the life-changing impact of faith, kindness, and selfless action in their noble quest to uplift humanity.

References:

6 orthodox schools of Hindu philosophy. (n.d.). Byjus. Retrieved August 6, 2024, from ttps://byjus.com/free-ias-prep/6-orthodox-schools-hindu philosophy/#:~:text=The%20six%20orthodox%20schools%20are,theory%20of%20Karma%20and%20rebirth.

Advaita Vedanta. (2024, February 6). https://en.wikipedia.org/wiki/Advaita_Vedanta.

Biswas, Santu. (2018). Thoughts and Ideas of Swami Vivekananda on Education-A brief Study.

Chadha, Monima, "Personhood in Classical Indian Philosophy", *The Stanford Encyclopedia of Philosophy* (Summer 2022 Edition), Edward N. Zalta (ed.), URL = <https://plato.stanford.edu/archives/sum2022/entries/personhood-india/>.

Ethical Principles. (n.d.). *Vedanta Society of Southern California*. Retrieved August 6, 2024, from https://vedanta.org/what-is-vedanta/ethical-principles/

Ethos of Vedanta in Management. (n.d.). Microtek.

Feldman, G. et.al (September, 2016), The Performative Magic of Advocacy Organisations: The Redistribution of Symbolic Capital, *The British Journal of Social Work,* Volume 46, Issue 6

Guy Feldman, Roni Strier, Hillel Schmid, The Performative Magic of Advocacy Organisations: The Redistribution of Symbolic Capital, *The British Journal of Social Work*, Volume 46, Issue 6, September 2016, Pages 1759–1775, https://doi.org/10.1093/bjsw/bcv088

Nagler, M. N. (2005). *The Upanishads: A New Translation*. HarperOne.

Radhakrishnan, S. (n.d.). The ethics of the Vedanta. *International Journal of Ethics,* 168–183.

Rambachan, A. (2006). *The Advaita Worldview: God, World, and Humanity*. State University of New York Press.

Relationship between Ramakrishna and Swami Vivekananda Article Talk. (2023, August 16).

Satyananda, S. (2007). *The Four Chapters of Freedom: Commentary on the Yoga Sutras of Patanjali*. Yoga Publications Trust.

Swami Vivekanada. (2024, March 1). https://en.wikipedia.org/wiki/Swami_Vivekananda.

Swami Vivekananda Biography. (2024, August 6). Vedantu. Retrieved August 6, 2024, from https://www.vedantu.com/biography/swami-vivekananda-biography

Swami Vivekananda. (n.d.). [E-Book]. Vivekananda International Foundation.

Tariq, A., Khan, A., & Bashir, A. (2020). Social Work and Inclusive Education: Understanding the Role of Social Workers in Realizing the Educational Needs of Children with Disability. *Social Work Bulletin*, *1*, 49–72.

Tathagatananda. (n.d.). *Fundamental Principles of Vedanta*. https://www.vedantany.org/articles/blog-post-title-two-6txr3.

Vedanta. (n.d.). *Ramakrishna Vedanta Society of Massachusetts*. Retrieved August 6, 2024, from https://vedantasociety.net/vedanta

Vedanta. (n.d.-b). *The Ramakrishna-Vivekananda Center of New York*. Retrieved August 6, 2024, from https://ramakrishna.org/vedanta.html#:~:text=The%20Vedanta%20philosophy%20asserts%20the,the%20different%20faiths%20as%20diverse

Vivekananda, S. (2005). *The Complete Works of Swami Vivekananda* (Vol. 9). Advaita Ashrama.

Hierarchies in Philosophical Methodology: Evaluating Creativity and Comparative Approaches

• Dr Prashant Shukla

Abstract - Philosophical inquiry is characterized by diverse methodologies, each with its own epistemic objectives and frameworks. A longstanding debate persists between two distinct approaches: comparative or synthesis-oriented philosophy and creative or exhaustive single-text study. This paper critically examines the legitimacy of ranking one method as superior to the other, challenging the hierarchical distinction often drawn between them.

While comparative philosophy is frequently dismissed as secondary or derivative, its proponents argue that it serves an essential function in contextualizing, juxtaposing, and synthesizing intellectual traditions. Such an approach requires scholarly diligence and analytical precision, though it is often perceived as lacking originality. Conversely, the creative thinker, viewed as a visionary, is credited with generating novel insights and establishing new paradigms. This distinction fosters an intellectual hierarchy, wherein synthesis is seen as an exercise in reflection rather than genuine contribution.

By engaging with philosophical literature, particularly the works of thinkers such as Rajendra Prasad and Dharmendra Goel, this paper problematizes the notion that creativity is inherently superior to synthesis. It further critiques the assumption that comparative analysis lacks depth or fails

*Associate Professor, Department of Philosophy, University of Lucknow

to produce original insights. Instead, it argues for a symbiotic relationship between the two, where synthesis is an essential component of the creative process. The paper concludes that both approaches hold epistemic value and that dismissing comparative philosophy as mere intellectual parasitism ignores its indispensable role in the evolution of philosophical thought. A more nuanced appreciation of both methodologies is necessary to avoid intellectual exclusivism and foster a comprehensive understanding of philosophical traditions.

Keywords: Comparative Philosophy, Creative Thinking, Synthesis, Epistemology, Intellectual Hierarchies, Philosophical Methodology, Originality, Pedagogy, Scholarly Rigor, Innovation.

Every style or school of thought, including philosophy, has its guidelines and goals, its framework and points of reference. Even amongst the various branches of philosophy itself, this is equally applicable. We may wish to know, then, how to compare and contrast the worth of different approaches- besides, of course, deciding whether such an exercise is legitimate in the first place.

A wish such as this is not easy to fulfil. And we shall not endeavour to do so here. Our attempt, if at all, will be to suggest pointers and evaluate the propriety of a particular philosophical approach being considered superior or inferior to another. We consider such an exercise worthwhile because some thinkers are prone to deplore ‘comparative' or ‘synthesis-oriented' literature as inferior' research (or the concern of inferior' thinkers). They expound, instead, 'creative' or 'exhaustive one-text oriented' study. In what is to follow, our concern will be to examine, in some detail, how tenable is this argument. For the sake of clarity snd precision, the discussion is divided in four parts as follows:

Part I

We are tempted to psychologize here. The basic skills needed for a comparative work are perseverance, studiousness and some amount of pedagogy. One can do without presenting anything refreshingly new. In fact, the major effort involved here is in compilation of what others have

written and juxtaposing one idea against another. Whatever chance for genius exists, thus, is only in 'how efficiently this is done' and ''whether a significant trend or an important correlation can be pointed out'. Obviously, therefore, mediocrity of various levels is very well suited for this type of work. It is essentially a matter of compilation, categorization, working over data already supplied by others. It can easily become a matter of basking in other's sunshine, a case of reflected glory.

The creative thinker, on the other hand, can be a good scholar, or may not. His ability lies in seeking something new and original, in himself and others. Anything pedantic or compilatory, however scholarly, cannot appeal to him if it lacks a thorough going originality or individuality. He is the planner, the policy-maker, the trend-setter; the boss with new ideas, the thinker with vision.

Thus, if the comparative worker is likened to the librarian, the creative worker is the writer of the books he categorizes. If the comparative worker is the efficient head clerk, secretary or accountant who keeps papers and records straight, the creative worker supplies the matter for these papers or records (Singh, A & Shankuntala, 190).

This is a ripe situation for the development of hierarchies or the hierarchical attitude of categorizing people. The visionary, the trend-setter considers himself superior to those who follow the vision or the trend. The boss considers himself one-up on his secretary or clerk. And the writer on the librarian.

We believe this simplified analogy can help understand why the so called creative worker considers his work and approach superior to the comparative or synthesis oriented one. To supply this formulation is not to attempt its justification, however. As we shall see presently, there is more to this issue than meets the psychologizing eye.

We consider conducting a discussion of this nature important because such an attitude prevails amongst philosophical thinkers of all levels. Some are sceptical of the worth and relevance of comparisons and feel it is easy to be obsessed with it, seeking points of comparison where none may indeed

exist. The joy of working out such commonality is a heady wine with which even the best of minds get dangerously intoxicated, some- thing that results in blunting of critical faculties and an inevitable dementia of the intellect. This is indeed a potent argument. It must alert us to the pitfalls of tenuous comparisons, or the dangers of being enamoured of this approach. To that extent, it is valid for obsession with any trend of thought, desirable or otherwise.

We shall briefly touch upon this argument later on. Our main concern will be, however, with one of the other trends of thought which is in a similar vein. It concerns those who find reverence for the old, or attempts as synthesis of thought (of the East and the West, for example) anathema to a proper creative attitude, implying thereby it is the latter which should be made one's goal; and the former not be allowed to act as a hindrance. A quotation from one of our thinkers will illustrate this point:

"Those who argue for synthesis (of approaches) seem to forget that achieving synthesis is parasitic on some one else's having produced the materials to be synthesised. Primary creativity consists in generating new ideas, initiating new methods of thinking etc. If synthesising some ideas given by some important Oriental or Occidental traditions is to be called creative, it would be creative only in a secondary or *watered down sense*" (Rajendra Prasad, 509).

We must take up this argument for a closer scrutiny and see if it withstands a battery of questions No one can doubt that 'generating new ideas', and 'initiating new methods' are absolutely necessary for creativity. On the face of it, this is indisputable. Our concern will be with the ramifications of this creative attitude, especially those which may not be that desirable, to which we shall not direct our attention.

What makes us suppose that in every endeavour our major (if not sole) concern should be with searching, presenting or dealing with new ideas or methods? Because, if that be so, what happens to the existing ideas and methods, even those that the creative person himself has used uptil now? Should he go on discarding the old and seeking the new all the time? Or,

does he go for the new but still keep some of the old? And if he does so, will it not involve for him a personal synthesis of thought and approaches that will be as important to further his search for the new, as to prevent destabilization and disintegration of his thinking faculties? Because a disjointed personal ideology can be present, but must also lead to fragmentation of thinking. And one wonders whether creativity of any worth can be the product of a fragmented intellect.

No doubt the creative mind needs, at times, to make departures that are radically different from the old, departures that may shake him, and others, from their very foundation by the force of their appeal or relevance. But that need not make us lament the worth of synthesis or comparison. Because even what has been created has to be ultimately incorporated, synthesised and compared, if not with, or for, others, at least for oneself.

In creativity of any worth, it is not 'newness' or 'novelty' which should be the major concern. That is only a reflection of attraction for the novel which is the major ploy and weakness of mediocrity. The concern, rather, should be with originality, of which novelty is but one attribute. It involves not just the presentation of ideas and concepts in a different light, but one which affords a keener perspective and a better evaluation, understanding or analysis of well recognised works, theories or concepts. Only occasionally does it involve a totally different and radical departure, But it almost always involves the unfettered ability to get rid of the frills and fringes of an issue and concentrate on its basics or essentials-to get to the heart of the issue at stake, Thus, critical acumen of a high calibre becomes an essential attribute and this ability is constantly exercised in the context of others, works, whether in published form or for self-understanding. It must indeed be the rare originality which can function in pure isolation.

We must also consider another argument here: If each thinker plans to give something new and creative' all the time, how will there be-or, rather, why should there be any point of communication between him and others? "What you say may be new according to you, but my creative urge persuades me to be interested in what is new according to me." (Rajendra

Prasad, 503)" And this is exactly the breeding ground for isolated 'ivory-tower' philosophising that we must attempt to eschew.[1] Prof. Dharmendra Goel, in this context, makes a strong assertion: "If we lament the fact that there is poor communication or understanding of works between contemporaries in India, especially amongst philosophers, probably each thinker's obsession with giving something 'new' or 'created' by him all the time, is at its root."[2] This isolated world-viewing is individuality in thinking carried to the extreme, And, if improperly implemented, it can retard rather than help development-and creativity itself.

Our argument, remember, is based on the pursuit of creativity which can cause alienation. We do not mean, thereby, that it must occur in every case. We are sure the creatively inclined can fruitfully combine with others of their kind, share notes, and further this important approach. However, they may, as a group, also look down upon the comparative, dismissing them as being concerned only with old, out-moded concepts. While the former attitude is desirable, the latter is equally deplorable. Unfortunately, the two attitudes are not uncommonly present in the same thinker. A case of poor synthesis, perhaps?

Let us proceed further with our earlier quotation. We may accept that there indeed may be a 'primary' and a 'secondary' creativity, wherein the primary is something totally new and secondary that which is based on the old. At least secondary creative status is granted to a good comparative or synthesis-oriented work thereby. But why call it 'parasitism' or a watered-down creativity? Why should anything that is not totally new be automatically considered watered-down? Or parasitic? Parasites, we thought, fed on the host source and debilitated it. Could we not think in terms of a symbiotic relationship in which the creative genius of one needs the exploration of another to help it flower? This, rather than being parasitic, may be the very manner in which the genius of both is made available to those who would otherwise have been deprived of it. The original thinker is important. But this need not detract from the value of the commentator or translator, or one who works out his worth in the context of others. And to

consider him parasitic or watered-down would amount to grave injustice to say the least.

Classics do not get written every day. In fact, writers of classics are as well inspired by the works of others. Even they wish, besides presenting their original thoughts, to recapture the ideas of their preceptors, or earlier thinkers in the field. What should motivate us to consider such works, though secondarily creative, as watered-down? We can refer here to Plato's *Dialogues*, the *Rāmāyana* of Tulsidas or Kamban, the Jñāneśvarī of Sant Jñāneśvara, the philosophical commentaries of Śankarāćārya, Mādhavāćārya and Rāmānujāćārya, the *Nyāya-Bhāṣya* of Vātsyāyana or the *Nyāya-manjari* of Jayanta Bhatt. These works are not primarily creative. They are secondary in the sense of being based on another, primary, source. But we dare anyone to consider them watered-down just because they are secondary. Or, "parasitic on some one else's having produced the materials" they have elaborated.

In stating certain thoughts, we may over-emphasize some points to make them more striking and, therefore, clear. The need to further creativity in thought, a laudable and worthy concept in itself, may make a writer acclaim it to the rejection/ exclusion of another. But to prove oneself right, it is not always necessary to prove another wrong. And any overdoing of this nature not only causes confusion; it can inculcate, as a fall- out, improper attitudes amongst others who may, consciously or otherwise, get impressed thereby and decide to adopt it as their approach

All said and done, we must concede the distinct possibility that whereas one's mediocrity can be concealed in a comparative study, it is easily revealed in a creative one. The moment any- one seeks a creative status, he makes himself liable to all sorts of probings, searchings and expectations. And mediocrity cannot withstand any of these. But, remember, mediocrity is also an expert at camouflage; and the mediocre thinker has no qualms about masquerading as a creative one by efficiently garbing old, inane thoughts in new attractive phraseology. Mediocrity

sometimes also achieves this status by playing the inscrutable: it then becomes the eternal question of who will call the emperor naked.

Such second-rate work may be inadvertently granted the tatus of a genuinely creative one. And the work of a genius may be passed over purely because it is of a comparative or synthesizing nature. We need to guard against the dangers off indulging in either.

Our concern is genuine research and thinking needs to be somewhat better organised. The mind which is allowed t wander freely in pursuit of creativity may chance upon a spring of nectar or an invaluable treasure all right. But it has more chances than not of being lost in a maze. The intellect needs some framework to work in, it needs a freedom that is restrained as well, which knows and works according to its limitations and its strengths.

Under such conditions, it is improper to blame or reject approaches. What we need to do is identify the proper and the improper in them, their strengths and shortcomings. And we need to do this about their followers and propounders too. Our intellectual task should, if at all, be limited to either a genuine appraisal or a faithful articulation. Intelligence does not permit the licence of intolerance.

With this, let us proceed to the second part of this discussion.

Part II

Let us proceed further by starting with another remark:

"(K.C) Bhattacharya seems to have great fascination for synthesis, and his own philosophising exhibits his very serious and sincere efforts to achieve it in respect of some classical Indian, mainly Vedantic, and some Western philosophical, viewpoints, particularly metaphysical Buk my feeling is that had (sic) he proceeded in a free manner, without having been so impressed with the ideal of synthesis, his creativity would have soared to greater heights. Perhaps he would also have become a little more intelligible. An undue regard for the ideal of synthesis bas hindered some other, very competent and thorough scholars, like D.M. Datta and P.T. Raju, who had the necessary equipment, from making any significantly new departure in their philosophising. It is still one of the major causes of the

lack of, or low creativity in, modern Indian philosophy. It is also responsible, when it becomes the obsession of poorer thinkers, for the prevalence of what is called comparative philosophy."[3]

There is a hidden assumption (and a lament) here that both synthesis-oriented work and its later 'degeneration'- comparative philosophy - tends to warp the potential of even great minds (And by potential we mean creative potential and assume that that alone is of any worth).

We must admire the concern and appreciate its genuineness. But we shall now come to this whole business of synthesis-oriented or comparative work being effort (which is) less worthy of accomplishment. Do we consider a person's 'Creativity which soars to greater heights', or, 'the ability to make significantly new departures in philosophising', the only proper concern of philosophers of any standing? Why do we expect every worth-while philosopher to engage himself in creating something new alone? Why can be not also remodel or re-evaluate the old in the light of the present, reorient us to classics, critically appraise us of contemporary currents in thinking, and compare them with each other? Why should he consider it below his calibre to do so? Why this prudish priggery, this snobbery that stifles objectivity?

We must reiterate that there indeed are many poorer thinkers who do what is called comparative philosophy". But that does not mean there aren't equally poor thinkers who may wish others (and themselves) to believe that they in fact do creative or original philosophy. And the poorer thinker anywhere has to be exposed for whatever is his worth. To castigate the need or worth of a particular approach because of the incompetence of some of its propounders cannot ever be a worthy exercise. Further, if we feel something has become the major domain of poorer thinkers, which is all the more reason better ones associate with it and weed out the decomposed and the decrepit.

We must get certain perspectives straight. In a branch of thought where resolute and basic enquiries are our concern - and we wish to believe philosophy can still qualify for this status-we must not involve ourselves in a

holier-than-thou attitude. Our concern, if at all, should be with following honestly whichever approach best suits our understanding and articula- tion, effectively brings to the fore the potentiality in each one of us, for individual and/or collective benefit, with the qualifica- tion that our approach does not automatically negate the worth of, or render inferior, all other similar or dissimilar approaches to the same or other issues (of course provided we qualify this statement with the remark that the approach is pursued honestly). We have no need to despair that K. C. Bhattacharya, D. M. Datta and P. T. Raju (or, for that matter, S Radhakrishnan, S. C. Chatterjee and M. Hiriyanna) followed a particular approach. Their genius lay in doing that well. Their genius probably would never have flowered doing anything radically new or creative. And we need regard them no less for not being able to do so.

The avant-garde wholly new thinker is a dream. You have one in an age. But every age can definitely produce many worthwhile thinkers who know their capabilities as well as their limitations and try to give the best possible realising this. It is no use trying to fly with one's hands as one's wings. A man born with wings would be a freak of nature, and such freaks may never be born. And a winged horse exists only in fables, But it is definitely possible for each one to know the span and grasp of his arms. And if we wish to soar high, we need either an aircraft or the skills of a hand-glider. Neither of these can be developed in isolation. They need, besides basic capability and a will to fly, the necessary training and the appliances. Only a proper study of others' works, in which context lies the value of synthesis-oriented and comparative works, can supply both the necessary equipment and the expertise.

When we talk of a certain approach warping somebody's potential and lament its occurrence, we assume it to be creative potential that is non-existent or suppressed, and this situation we consider unfortunate. No doubt creativity is worthwhile, But not to the exclusion of other potentials And to most we may grant sufficient intelligence to be able to realise how much poten tial of which nature they have, and to be honest in its pursuit and

expression Further, the creative potential itself can find expression in various forms, not necessarily original writing or theorizing. Creativity of a high calibre can be as much expressed in a genuine comparative as a genuine original work. And we shall see later how.

To lay down limitations does not necessarily mean to limit endeavours (in the meaning of hampering them). Any proper appraisal of effort must involve the former without involving the latter. When the champion weightlifter attempts a record weight, he decides to try one that is more than others all right, but knows fully well how much he can lift and how far he should go. He does not limit himself thereby all that he does is knowing his limitations, he tries to reach his maximum possible limit The moment he wishfully attempts to cross his limitations, not only does he make a fool of himself, he is also liable to hurt himself badly in the bargain. And what applies to physical weight need not be inappropriate, in the present context, to the weight of ideas and concepts. After all, both deal with human endeavours and peak achievements.

We must lay down realistic limitations to our ambitions. To lay down limitations, properly done, means to be realistic in expectations, to set proper goals of achievement. Attempting to soar in creativity because of the ambition of heights can be disastrous without the capacity to sustain it. And one can be rudely jarred by the resultant fall. This can cause more personal hurt than the ridicule or scorn of others-it can result in disenchantment with long held convictions, in reaction formation, intellectual despair and, worse, ideological death.

We must indeed understand that every style of thinking has a worth. And a limited goal and scope. This is applicable both to creative as well as comparative thinking much though the creative thinker may like to convince himself otherwise. Let us here present what basically is this worth:

(i) The person who creates seeks freedom of expression and hence experiments with various modes of articulation. Temporal correlation and consistency may be the hallmark (and the pursuit) of synthesis-oriented and tradition-bound work but it cannot act as

a limiting factor to creativity. And yet, even for the creative there is a framework which he decides on, at least for a particular point in time and in a particular context. He may consider himself free to reject it later, or to reaccept what he may have earlier rejected. But, at every point in time something akin to a framework must exist. This framework is wider; more elastic compared to others, and sometimes appears boundless. Agreed. However, in every case it cannot but exist. Wherever it doesn't, there can only be, at best, a florid chaos. (Singh, A & Shankuntala, 200-01)

(ii) The comparative thinker, on the other hand, uses his capacities for the benefit of others. He mixes the water in the flour and prepares the dough; he separates the chaff from the grain and renders known what is ingestible: he makes intelligible that which is the pleasurable and that which is of the nature of noxious cocktail (without allowing us to spoil our taste: and sometimes he is even able to remove the noxious element and make the cocktail not only potable but refreshingly pleasurable.) His expertise rests in the ability to know proportions and mix or sift accordingly. His accomplishment is as much in the beauty of parallel concepts sufficiently juxtaposed as the clarity with which each thought is expounded. And the ability to he unswayed by personal or geographic leanings, by emotive or ethnic appeal, or by the misplaced esteem of an authority. To be as ungrudging in the exposition of strong points of linkage as the weaker ones; and to avoid both a benign tolerance and an aggressive or blind fervour. To expound, at least in some measure, the undercurrent with out over or underplaying the overt. And in all circumstances keeping a clear perspective of how far the comparison is data based and when it becomes speculative, as well as when this speculation is justified and when not so; and being enamoured of neither. Such tight-rope walking needs as much the level-headedness of a governor as the supple hands of a sculptor. Herein lies the unending possibilities of

> discovering unearthed nuggets. It would be a poor exercise, indeed, to prevent oneself the enjoyment that can result from genuine appreciation of a good critical and comparative work. And we really cannot but lament the fate of the thinker who does not have the ability, or denies himself the opportunity, to carry this out. (Ibid)

With this, let us come to the third part of this discussion.

Part III

We shall now take up another refrain. In its essentials, it asserts that a genuine philosophical work of any worth can result from the study of others' texts; but, rather than think of comparison or synthesis, one should concern oneself, more appropriately, with the in-depth study of any one text. Thus, a true and proper approach would result which is holistic. One would be able to avoid a patchwork or partial study of different ideologies that can otherwise occur in a comparative work. Comparison of parts, without consideration for the whole, results in distortion and inaccuracy.

There is no doubt that, in competent hands, an in-depth study of any one text can give rise to a scholarly work in its own right. But we see no reason to suppose that for this one should take it for granted that an in-depth study of only one text is possible, or necessary. One may consider the in-depth study of more than one text (as needed for genuinely comparative purposes) practically impossible, and therefore improper. But why should it be impossible in the first place? What may not be possible for one with a particular orientation may be perfectly possible for another with another. There are not a few who have been discouraged, or have discouraged others, from taking up comparative analysis of certain works precisely because of the fear that it may be impossible to carry out in an in-depth manner Their argument is that to do justice to even one major text requires a life-time; where, then, is the question of taking up more than one, or comparing and contrasting, which can only follow after in-depth study of both? Whatever is impossible for one self is immediately considered applicable to others.

What is probably meant, thereby, is, if he had to do it (or, better still, if the person, as understood by him, had to do it), this state of affairs would

prevail. But then, this judgement may be inaccurate. In fact, dissuaders have been proved wrong time and again by the potential and genius of human endeavour which can break most barriers in the field of achievement if it sets its heart upon it. When we call something impossible, and therefore improper, we lay a judgement of impropriety based on an evaluation of possibility. And if our evaluation be proved wrong, our judgement automatically stands to question. The claim may appear ambitious when we say both an in-depth study, and later a comparison, is possible for more than one major text at the same time. But ambitious are there precisely because achievement can follow. Realistic appraisal need not necessarily be sceptical.

We may, therefore, agree, for the present, that an in-depth study of more than one text is possible and a comparative study so based on them can be an acceptable proposition.

Let us now turn to one of the other arguments. This concerns those types of comparative studies which may not be the result of an in-depth study. Here, one is less likely to have a holistic approach. Thus, one may be unable to evaluate the particular idea or concept one wishes to discuss or compare in the total perspective in which it is expressed. This can lead to inaccuracy in thinking and articulation.

The argument as to what is important, the whole of the part, has had a long and chequered (some would prefer to call it ignominious) career in the history of philosophical thought. And one can still feel its reverberations in the social sciences, in psychology, psychiatry and other branches of medicine as well[4]. By itself, there is no doubt that a holistic approach to any problem gives us the best chance of judging it properly. But we must concern ourselves, as well, with the problem that arises when it is used in every situation, as a dogma or a creed. If one considers that for gaining proper knowledge, everything should always be viewed holistically, we may land ourselves in error beside losing the power to appreciate the worth or beauty of parts. And even a work which lays no pretensions of trying to conduct an in-depth study can sometimes yield a brilliant appraisal or comparison of the beauty or powers of its parts. The least we can do is not

shut our perceptive apparatus to the possibility of this happening, whatever may be our inclinations as to probabilities.

In an exclusive concern with the holistic approach, there can, further, be the danger of being unable to appreciate smaller merits that may be mixed with larger demerits, or vice versa. The crippled walk may make one lose the ability to observe the beauty of the accompanying face. One can even go to the extent of saying that a vicious scar on the forehead should not prevent us from appreciating the beautiful proportion of a finely chiselled nose or delicately formed lips. The holistically inclined can definitely dispute the contention whether a person who is crippled can ever be considered beautiful even if she has a beautiful face because, when one says beautiful one means beautiful as a whole. But should our concern with here also being a cripple prevent us from observing the beauty of her other features, oven in the feace of the fact that she may be a cripple? At times, therefore, the ability to perceive parts as ports, and as distinct from the whole, is specially important. And this is the worth that any genuine comparative work, even though lacking an in-depth study, can attempt to further. This is also the skill any such researcher must develop if he wishes to prove worthwhile. In fact, the ability to perceive parts as parts may be central to a good comparative philosophical approach (which also explains why such an approach may be anathema, conceptually, to the holistically inclined).

We shall carry this discussion a little further. Many a times, extreme importance to the whole can lead to a total or partial neglect of the subtleties and nuances of the parts and the unique features of their inter-relationships. We are free to con sider this irrelevant if we wish; but we will not gain a proper perspective of the issue if we do so. Now, we may say here that we have listed above what may be described as improper holistic, the danger of applying it in every situation or, citing of exceptions to disprove a rule. We can very well say that properly oriented holistic approach, to once again go back to our old example, should make us say:

“Here goes a cripple! But see how beautiful is her face! Or, Here is a person with a beautiful face; but look, alas, she is also a cripple! In a similar vein, there can be an improper emphasis on parts, for example, when we say, So what! She has beautiful features: can you not see she is basically a cripple? Or, So what if she is a cripple? I can only see her face and that is beautiful!"

We would much wish the remark, ‘Here goes a cripple with beautiful features', accurate as far as the meaning goes, not make us derogate the beauty of the features because of the crippled walk. This need not, but very well can, happen. And we would also wish appreciation of the beauty of particular features not limit the ability to perceive the crippled nature of the walk. Thus, in our approach, we have to guard against improper holistic as well as improper partial approaches.

Having said this, however, we must qualify that at certain times, our focus of attention and genuine ability to appreciate may be based on our ability to de-link the part from the whole and perceive it as such. The joy of contemplating the beauty of a face need not be marred by the despair of sympathizing with the crippled walk. It may not be factually incorrect if we do so, but we wonder if it would be proper because we limit, thereby, our ability to appreciate the subtleties and nuances of the part as a part. And it would be especially improper when the ability to appreciate the beauty of a face has to be carried out in comparison with other beautiful faces. In such a situation, not only is it irrelevant to consider that such-and-such beautiful face belongs to a cripple, it is improper and likely to bias judgement. One may find it difficult to avoid getting positively or negatively inclined toward the individual as a cripple and this would warp one's judgement about her as a beauty. In any comparative situation, therefore, the ability to appreciate the part as a part, to de-link it from other parts, as well as the whole, may not only be advisable: it may be positively essential And our example from aesthetics need not be irrelevant to epistemology (or for that matter any other branch of philosophy). A judicious sense of proportion and beauty of

juxtaposition are highly relevant to any proper comparative of synthesis-oriented situation in any branch of thought, philosophical or otherwise

With this, we come to the concluding remarks in Part IV of this ongoing discussion.

Part IV

Both creative and comparative works can be mediocre as they can be good. There is no reason to accept a mediocre so-called creative work as anything better than a good comparative one just as there is no need to consider a good creative work more important than a good comparative one or vice-versa. Both approaches love their frames of reference and their goals. Within their framework, they are equally important and relevant. Each approach, further, has its worth and its limitations And some need he considered wholly proper or improper. They have their points of relevance, as their points of irrelevance. Our task needs to be to differentiate between them and to understand these points of relevance and irrelevance. Anything in the nature of, which approach is superior and which inferior, is not only an essay in futility, it results in mudslinging and banter, and reeks of chauvinism, to say the least In its more extreme forms, it results in intellectual racism and apartheid. Advocation of the creative or the one-text in-depth study approach rather than the comparative or synthesis oriented one (or vice versa) may be all right at the personal level, if it suits the individual thinker's style or allows him a proper articulation. But that need not prevent him from realising that there can be other, and equally worthwhile, approaches to a genuine under standing. Any attempt to project one approach to the exclusion of the other leads to regimentation of thought which is contrary to proper philosophizing, and creativity itself.

As such, it may be said in the concluder remarks that, there is as much scope for the comparative and synthesis oriented approach in creative work as the need for the creative in a comparison or synthesis oriented one Comparative philosophy can, as well, be creative. And creative philosophy has nothing to lose by being comparative.

References:

[1] Rajendra Prasad, op. cit., p. 503: "To ignore the work of contemporaries, to complain of their uncreativity without discussing their views, is a delightful pastime of modern Indians, particularly philosophers."

[2] "Only rarely do we in India ever take other's work any more seriously than passing amusement..." Dharmendra Goel, K. C. Bhattacharya's Svaraj in Ideas: Some Reflection", Indian Philosophical Quarterly, Vol. XI, No. 4, Oct. 1984, p. 423.

[3] Rajendra Prasad, op. cit., p. 509, Parenthesis added.

[4] Note how the Structuralism of Wilhelm Wundt was attacked by the holistic approach of Max Wertheimer and wolfgang Kohler's Gestalt Psychology and still finds its echoes in the Gestalt Approach of Frederick Perls and his followers, the approaches of Andras Angyal (Holistic-dynamic), Abraham Maslow (Expanded Psychology) and Gardner Murphy (Eclecticism with a difference). How also the partially oriented approaches of John Dewey and James Angell (Functionalism). and John Watson and other's (Behaviourism) attack both Structuralism and the Gestalt Approaches. And each one of them is, at least partially, on the right track.

Note also how in Psychiatry, the Psychobiologic approach of Meyer and Bio-psycho-social model of Engel- both proponents of holistic approaches find themselves at logger heads with the biological, the behaviourist and the psychodynamic schools all of which, though partially oriented, have a lot of worth. In fact, it is the latter schools which, at the present time, not only have greater number of followers and proponents but have led to significant contribution in understanding abnormal human behaviour. While the first part is more a comment on their popularity rather than basic worth, the latter part can hardly be dismissed as of no consequence,

---

1. Goel, Dharmendra, “K. C. Bhattacharya's Svaraj in Ideas: Some Reflection", Indian Philosophical Quarterly, Vol. XI, No. 4, Oct. 1984.
2. Kohler, Wolfgang. *Gestalt Psychology*, New York: Liveright, 1929.
3. Prasad, Rajendra, "Svaraj, Reverence and Creativity" IPQ, Vol. XI, No. 4, Oct. 1984
4. Singh, A & Shankuntala, “The Comparative and Creative”, IPQ, Vol. XV, No.2, 1988.
5. Wertheimer, Max, *Experimental Studies on the Perception of Movement*, 1912.

Vāstu-Vidyā in Ancient Sanskrit Literature: A Study

• Dr. Sudipta Bhakat

Abstract - The science of "architecture," or Vāstu-Vidyā, was one of the technical sciences taught in ancient India. The word "Vāstu" refers to a building site or the building itself in the oldest manuscripts. Later, the discipline that considered building a structure to be a sacred act was expanded to cover other topics including building temples, town planning, public and private buildings, and forts. In this paper, I am trying to attempt to give an idea about the architectural concept of Vāstu-Vidyā and its technical aspects regarding the construction of temples, town planning, forts buildings, etc. in the ancient period of India and also we find how this construction is preserved today. This paper also incorporated with the present practice of planning, construction, and design may enhance the quality of life.

Keywords: - Architecture, Sculpture, Construction, Civilization, Evolution.

Introduction: - Vāstu-Vidyā describes "architecture" as the building of temples, towers, and palaces; the casting and establishing of pictures; the development of vegetation and trees; and the presence of undercurrents. The term Vāstu takes as of "the foundation of a temple, ground, building or dwelling place, habitation, homestead house". The underlying root is *Vās* means that "to dwell live, stay and reside". The term Vidyā may be implies that as "Knowledge". The term Vāstu-Vidyā literally translated as the

*Assistant Professor, Department of Sanskrit, Durgapur Government College, West Bengal, India.

"knowledge of dwelling". So Vāstu-Vidyā are the Sanskrit manuals of architecture to building temples, town planning, public and private buildings, and forts in ancient India. Vāstuśāstra is an ancient Indian construction science that draws on the Vedic (religious) scriptures and Shastra knowledge to create harmony and balance between people, nature, and the gods. This leads to peace, prosperity, health, and happiness while averting problems. Vāstuśāstra refers to interior design theories as well as colonial and neighborhood township planning. Vāstu means to follow, and Vidyā means to learn. Thus, the holy wisdom associated with designing and constructing homes is known as Vāstu-Vidyā. Vāstu has its roots in Vedic logic, which emerged about 4500 years ago. [1]Vāstu aims to bring happiness, wealth, and well-being by adjusting between the house and the cosmos. According to, the elements—such as fire and wind—are administered by hidden energies that are akin to those governing the body's organs, therefore the exterior and inner can be interchanged. Vitality lines are understood in Vāstu to run over the globe in two directions: from east to west and from north to south, like a massive lattice. The inhabitants are affected when living and working areas are located using a compass in accordance with these spatial headings. The human body is affected by this electromagnetic field on a vibratory level, with every single cell acting as a receiver. The cardinal bearings also have an instinctive effect on human consciousness: the north is the heading of the polar star, the stable point in the sky that denotes dependability and security; the south speaks to the past and our heritage; and the west shows the inverse, for as the sun helps us remember endings, the unclear and mysterious. The cardinal structures speak to the earth and the ground shakes, from which every one of the structures rises. The scriptures themselves are the pride of society. The changes that take place in human society from time to time are reflected in the scriptures. From Vedic times to modern times, social scientists have had various feelings about nature to live happily in this society. From the beginning of creation, when humans became civilized, there was no shortage of food for civilized rural humans because of the abundance of

agricultural resources. There was no population explosion on this earth. After urban development, human vigilance about nature is relied upon. In Vedic times, the chanting of four herbs for saving human beings from disease and increasing their life span is observed everywhere in the Atharba Vēda. In the Rāmāẏaṇa and Mahābhārata, during the reign of kings, humans are warned to protect the forest animals. Thus also in the Purāṇa , There is a legend that the eighteen Purānas and Upa Purānas, with their characteristics of creation and reproduction.

Importance and application of Vastu-Vidya in an ancient period :

In ancient India, architecture encompassed a wide range of artistic mediums, including sculpture. Painting is closely associated with Shilpa and Kala, or more accurately, Shilpa-kala. At least three literary seminars mention the conventional list of sixty-four arts. The Viṣṇupurāṇa, Harivanśa, śrīmaṯ Bhāgavat, are among the mythical groupings. [2]The large number of Vedic phrases that refer to dwelling houses indicates that the Vedic Indians had a long history of building houses. This opinion is supported by the archeological relics found in Sindhu at Harappa, Moherjo-daro, and other locations. The rise of idol worship led to the construction of many Shiva and Vishnu temples at different religious locations across the nation, which in turn sparked the development of the art and science of architectural design and construction. The evolution of architecture and art has a significant role in the history of human civilization. An ancient Indian architectural science known as Vāstu aids in creating a harmonious environment or a place to work and live by utilizing the advantages that nature has to offer in the most scientific manner. The palace where creatures live in peace is the word's derived meaning. The word is employed in the following senses in the well-known text Kautiliya Arthaśāstram : house, field, bridge, garden, and tank. Vāstu is science or a Vidyā. Science and astronomy have been combined to create the Vāstu system. The sun, moonlight, heat, earth's atmosphere, wind direction, magnetic field, and gravitational force all have an impact on it. [3]It provides useful guidance on how to choose a

building site, align the structure with the local climate and climatology, and arrange rooms or spaces to best suit the many uses of the proposed structure. The origin of speculations on VāstuVidyā in India is obscure. [4]In the Ṛgvēda, we know the God Basospati who is to be invoked while commencing the construction of houses, etc. The words *chardi, harmya, dhruva,* etc. used in the Ṛgvēda, hint at the existence of various kinds of buildings in those times. We do not, however, know anything about the materials and the art of house-building in those days. In the Veda, the word pura has been used in the sense of city. [5]The Atharba Vēda (III.12, IX.3) contains some hymns to be recited at the time of house-building. Such terms as Vāṃśa, Sthūṇa upamit, and pramit relating to architecture occur in this Saṃhitā. [6]The word *sthapati* (mason) is also mentioned in the Yajurvēda. The *Sthapati* constructed good houses and buildings. (Yajurvēda, XVI. 19). The word *Rathakāra*, means who prepares beautiful chariots for the gods and human beings. A study of contains of the works on VāstuVidyā reveals that two distinct schools of Architecture development in India, one in the North and the other in the South. The type originating in the North was called Nāgara and that in the South was known as Drābiḍa. These designations apply mainly to temple Architecture. The term Vesara, found in the Southern works, also stands for another style of Architecture; to which part of India it belonged is not known. Some scholars hold that it applied to Orissan temple Architecture alone. Others, however, are of the opinion that it had two sub-varieties known as Andhra and Kalinga. Temple Architecture of twenty types is mentioned in the works called Śilparatna Īśānagurudeva-Paddhati; these types are called Nalina, Paralina, etc. The Ātri samhitā of the South mentions four types of temple Architecture, viz. Brahmacchanda, Viṣṇucchanda, Indracchanda and Rudracchanda. [7]The great and first epic Rāmāẏaṇa (I.13.8; V. 15, 43) has a number of references to temples, multi-storied brick-built mansions, forts, decorated windows and gateways, etc. So, it is clear that Architecture was in a developed form in age. [8]The epic Mahābhārata also contains many Architectural descriptions (I.51.15). Besides, the mention of religious rites to be performed at the time

of house-building, this epic contains many references to the city, the wall, bridge, temples, etc. amply bearing out that the science of Architecture was in a considerably advanced stage in those times (Mahābhārata, I.128.41; II.1.18; XII.62;
V.143.30; XII.54.2; XIV.10, etc.).

The Vāstu system combines astrology, astronomy, and science. It takes into account the effects of the sun, moon, heat, earth's atmosphere, wind direction, magnetic field, and gravity on humans. It provides useful guidance on the selection of a site, its contouring level, the building's orientation with respect to micro weather and climatology, and the layout of rooms and other places in connection to the various functions of the proposed structure. their measurements and the customs associated with the various phases of home construction. The natural rules serve as the foundation for Vāstu science. All moving bodies exhibit the equilibrium that we see in nature with ease, but sadly, we are unable to detect this equilibrium in static bodies. The North and South Poles contain the world's primary energy reserves. It moves in the form of magnetic waves continuously from the North to the South Pole. In order to ensure that there are no obstructions to the flow of magnetic waves, the southward portion of every building should be higher than the northward portion.

[9]Now let us turn to the Purāṇas, most of which contain detailed predictions regarding architectural issues. While Agni and other purāṇic texts are considered later, the Maṯsya purāṇa is considered an early one. So we can say that Puranika chronology is a matter of great dispute. Here are some purāṇa which is systematically discussed about the architectures.

1. Maṯsya-purāṇa - Here, the intricacies of temple design, including plans, measurements, storeys, cupolas, and steeples, are outlined in Prasadalaksana and Mandapalaksana. The building materials are covered under Darvaharana.

2. Skanda-purāṇa - It's an ancient Purāṇa as well. It covers the topic in three chapters. of special significance are its elaborates on the laying down of a big metropolis.

3. Garuṛa purāṇa- It contributes even more worthwhile elements to Hindu architecture. Every major subject, including palaces, forts, gardens for pleasure, temples, and the three different types of buildings—religious, military, and residential—has been discussed.
4. Agni-purāṇa - Agni's place is distinctive among all the purāṇic places. It has expanded on the topic more thoroughly. The subjects covered in Vastusastra are divided into sixteen chapters. For the purposes of this study, only three chapters - Nagaradi-Vastu, the principles of town design, and those pertaining to temple planning—Prasada-laksana-Kathanam and Prasada-laksana - are more significant.
5-9. The Purāṇas like Nārada, Vāẏu, Bhaviṣya, Brahma Vaivarta, and Brahmāṇḍa, also deal with this subject in their own manner.
10. Viṣṇudharmōttara-Purāṇa - This Purāṇa, which is an addition to the venerable Viṣṇu Purāṇa, is an invaluable source of knowledge about painting, sculpture, and building.
I have already mentioned that many temples have been built in ancient times by applying Vāstu-Vidyā, and in keeping with that trend, the Ram temple established in Ayodhya is also a sign of the application of VāstuVidyā. [10]The iconography and sculpture covered in the subsequent thirteen chapters have already been mentioned in Vastusastra Vol. II.
The importance of Vāstu Vidyā we have seen its application in the present age as well. The Ram temple established in Ayodhya in the present era was built by applying Vāstu Vidyā. Built-in the Nāgara Style is the main temple. The Ahmedabad-based Sompura family created the initial plan for Ram Mandir in 1988. But in 2020, the previous layout was changed in accordance with the Silpa and Vastu Shastras.
This shows a deliberate attempt to combine ageless wisdom with elegant design. The Sompura family has a long history of creating intricate temples, and they were involved in the creation of some well-known Indian temples, including Somnath. Consequently, their connection gives the Ram Mandir's architectural design a feeling of coherence as well as an aesthetic and historical depth. The three storeys (floors) of the temple will each represent

a different phase of Lord Rama's holy trip, which the devotees can experience. The story of Lord Rama's birth and early years is portrayed on the bottom floor of the temple. The layout of the first floor is inspired by Lord Rama's Darbaar. There are five Mandaps (Halls) in the hallowed temple: the Rang Mandap, Sabha Mandap, Kirtan Mandap, Nritya Mandap, and Prarthna Mandap.

Conclusion:

It can be said that the construction of Temples, houses, and other Monuments needs the exact knowledge of Vāstu for proper utilization. Hence, the knowledge of Vāstu-Vidyā is essential for human beings to eradicate the Vastu-dosas either in their personal living houses or at public buildings, situated in the cities or villages. In this way, it is obvious that the true knowledge of Vāstu may help a person to live comfortably with proper happiness and prosperity in society. The importance of ecology is undeniable. This importance continues from ancient times to the present day. Finally, I can say that in the future, as long as people live, this trend or tradition will continue.

References :

1. Upadhyay Abhay Kumar and Kumawat Surjeet. "Architectural Practices according to Vastu Shastra in India", Indian J.Sci. Res. 18 (2), ISSN: 2250-0138 (Online), 93-104, 2019.
2. Hotwani Mehul and Rastogi Priyanka. "Vastu Shastra: A Vedic Approach to Architecture", International Journal of Engineering Research & Technology (IJERT), Vol. 11, Issue -02, 2022.
3. Kangle R. P. "The Kautiliya Arthasastra (Vol. II)" , by Motilal Banarsidass, Kamala Nagar, Delhi - 110007, Edition 2014.
4. Datta, Ramesh Chandra. "Rikveda-Samhita", Haraf Prakashani, Kolkata - 700007, Edition, 2019.
5. Goswami, Bijan Bihari. "Atharva Veda-Samhita", Haraf Prakashani, Kolkata-700007, Edition, 2019.
6. Goswami, Bijan Bihari. "Yujurveda-Samhita", Haraf Prakashani, Kolkata-700007, Edition, 2019.
7. Srimad Valmiki-Ramayana (with Sanskrit Text and English Translation), (Edition, 2015), Gita Press, Gorakhpur, India.
8. Ganguli, Kisari Mohan, The Mahabharata, Translated by Motilal Banarsidass, Kamala Nagar, Delhi - 110007, Edition, 2016.
9. Debroy Bibek and Debroy Dipavali. The Holy Puranas (Vol. I,II,III), B.R Publishing Corporation, Delhi - 110052, Edition, 2021.
10. Dr Shukla D.N. Vastu-Sastra (Vol. II): Hindu Canons of Iconography and Painting, Gorakhpur University, Gorakhpur, Edition, 1958.

A Linguistic and Philosophical Analysis of Justice Deliverance: Language and its Interplay with Law

• Gaurav Misra

ABSTRACT - The ideals of Socratic dialectic and probing have remained an essential ingredient of the art of argumentation from the time the judicial ecosystem adopted the principles of trial in the justice delivery procedure. Philosophical analysis in general, aids as a tool for Judges, attorneys, and concerned juristic community to chaff right from wrong and hence reach the stage of deliverance of justice. Such certainty becomes significant because the stakes are always high as there is no scope of error. The justice delivery system has the primary task to analyse given facts and evidence and then decide the culpability and subsequently the quantum of punishment in a given time frame. This has to be done by the tools of language. In this scenario, the philosophy of language and linguistics comes to play. Legal language is a unique blend of informative, descriptive, persuasive, technical and ordinary language depending upon the context and usage of it. The philosophical analysis of the term and meaning specifically in interpretation of statutes and judgements becomes pivotal. The art of argumentation requires a certain prior knowledge of linguistic analysis and rhetorics. In the conflicts concerned with interpretation of personal laws, hermeneutical enterprise comes to the rescue of Judges. Researcher, here, aims to establish the interdependence and co-

*Research Scholar, Department of Philosophy, University of Lucknow.

existence of philosophical analysis in the Justice delivery system. Researcher attempts to look into law through the lens of various philosophers such as Socrates, Wittgenstein, Strawson and Ayer to establish the inherent relation between Law and Philosophy.

Keywords: Socratic dialectic, philosophical analysis, semantics, interpretation, argumentation

"If it were not for injustice, men would not know justice" -Heraclitus

Philosophy and Law have remained inter-connected disciplines from the time society has progressed from the natural state of affairs to a structured, hierarchical setup and into the stage of entering into a social contract. Philosophy is regarded to be a speculative endeavour whereas law is regarded to be concerned with day to day affairs. But this speculative aspect comes into play during the time of law-making and Jurisprudential concerns as to the basis and groundwork of such laws. Both the fields are equally concerned with various ethical questions and questions surrounding the concept of Justice. The ideas of equality, justice, fairness, equity have deep philosophical undercurrents and have been debated upon since the time of Socrates. Keeping in mind the evolutionary aspect of law as the legal issues are emergent in nature, society being a continually changing enterprise, law has to keep up with such issues. The current challenges posit emerging philosophical questions as well which require timely resolution. The issues such as legalising homosexuality and giving legitimacy to same sex marriage are such issues which open the possibility of philosophical discourse. The idea of determination of self and identity, the issues of private space and privacy, determination of parameters of Euthanasia etc are such issues where judicial institutions look towards philosophy for help and advice in the socratic midwifery sense. Another aspect which has remained constant throughout the course of time of existence of law as well as philosophy is the inherent correlation of Justice and Morality. There have been recent debates between natural law and legal positivism concerning the issues of morality in the idea of Justice. The aspirational character of law has always to at least appear moral. Though the practical observation of statutory laws in detail presents a picture that what might be legal cannot necessarily be called moral. For example, the

laws formulated by Dictators and Oppressors lack the moral element in the statutory Laws. But even in these cases, the Constitutional laws or the Grundnorms have the basic requisite of being just and moral. Calling the Law unjust is of the nature of committing a category mistake. Determination of the question of morality is and always will be a philosophical problem. Such inter-relation of Justice, Law and Philosophical analysis would be aimed to be observed and analysed in the given paper by the researcher.

Determination of Justice, Equity and Fairness

The primary function of law makers, legal institutions and law in itself is determination of what is Just and subsequently trying to balance the injustice in the restorative sense. The lexical definition of justice as per the Merriam Webster dictionary is as follows, "the maintenance or administration of what is just especially by the impartial adjustment of conflicting claims or the assignment of merited rewards or punishments" (Merriam Webster,2023). Determination of parameters of justice and fairness as an enterprise has been going on from time immemorial. This is so because the idea of justice is central to ethics, law and social/political philosophy equally (Stanford Encyclopedia of Philosophy). Aristotle tries to make a distinction between universal and particular justice in his works (Nicomachean Ethics). His distinction is based upon application and correspondence of justice in a wider and narrow sense. This can be regarded as the basis of division of societal wrongs and individual wrongs in Jurisprudence. Although if we narrow down the concept of justice in the causal sense, the problem of just and fair always arises from individual claims. Another basis of justice is rooted in the neutrality/ impartiality argument where equal treatment of each individual is advocated. When we talk about philosophy's role in the jurisprudential sense, we can trace it to the debate of ought. Philosophy would always side with the ideal conceptions of fairness. Whereas law can be corrective and pragmatic. In Fact it is the very essence of law that it should be practical in nature. Impractical laws, even if formulated, have to be amended later on to accommodate the practical aspect. Justice in the philosophical sense is idealistic in nature. And determination of these ideals is where philosophical analysis and discourse comes into play.

The ancient Greeks usually associated Justice with equality. Modern philosophy equates justice with a set of rules in a game as the day by day concept of equality keeps getting complicated (Lucas, 1972). In the 20th century a radical change in position was observed when philosophers like John Rawls, Nozick and Amartya Sen gave the conception of Justice in the modern sense. Rawls' conception of justice was influenced by the social contract theory and had a liberal element present in it. He called his concept 'Justice as fairness' (Rawls,1985). He recognized the existence of diversity in the society and he asserted that such variety will obviously lead to various differences of opinions as well as interests. To achieve justice in such a scenario, Rawls hypothesised a scenario where a veil of ignorance is present which stops the individual to know his position in the societal ladder and hence remain unbiased. Amartya Sen makes amends to Rawlsian theory of justice and presents his conception of justice and he offers 'open impartiality' instead of 'closed impartiality' (Sen, 2009). The researcher is indeed not directly concerned with the definition or concept of justice. Rather the focus remains on the method and process and how philosophical analysis is concerned with it. The logical force of the argument in forming the definition or conception of justice and fairness goes through a dialogic, analytical process which gets tested and verified over time and then gets a formal status.

The hermeneutics of Judgements and Statutes: The usage of Philosophical Analysis

Legal terminology has a peculiar tendency to be overcomplicated and verbose. The technical use of terms is done so as to not leave any scope of loopholes and faulty interpretation. The intention of law makers are indeed noble and they aim for eradication of any confusion or ambiguity but in turn become overcomplicated. For the sake of example, let's give a plain reading to the interpretation clause of Indian Contract Act, 1872 defining consideration

"When, at the desire of the promisor, the promisee or any other person has done or abstained from doing, or does or abstains from doing, or promises to do or abstains from doing, something, such act or abstinence or promise is called a consideration for the promise;" (Section 2 (d), ICA,1872).

Similarly, if we read the conditions of communication being complete in the same act, it reads as follows

"The communication of an acceptance is complete, as against the proposer, when it is put in a course of transmission to him, so as to be out of the power of acceptor; as against the acceptor, when it comes to the knowledge of proposer. The communication of a revocation is complete, as against the person who makes it, when it is put into a course of transmission to the person to whom it is made, so as to be out of the power of the person who makes it; as against the person to whom it is made, when it comes to his knowledge." (Section 4, ICA,1872)

It becomes apparent while reading these provisions that it is quite cumbersome to derive the meaning of the terms in statutory language. The tools of linguistic analysis can be helpful for interpretation of such texts. Linguistic analysis helps as a heuristic tool to clarify the meaning of various legal terms. "In The concept of law (Hart,1961), Hart consolidated his earlier claims as to the role of linguistics within legal theory to such effect that it has recently and plausibly been argued that to confirm or confute the positivist account of law it is necessary to take some position in philosophy of language" (Goodrich, 1984). Legal language is formulated in such a manner which imprints upon us that it presupposes the knowledge of certain terms, jargon and context of such formulation and utterances. In the Wittgenstinian sense of language game, such language is the part of the system or game whose rules one is aware of. We have to keep in mind that meaning is different from understanding. Whereas meaning in itself is denotative in nature, understanding is a process involving various steps. In such a case, one can take the help of hermeneutical tools to completely understand what the law intends to say. Also the context of the utterance is if not equally but significantly important.

Analysing the terms in their independent sense and then in the whole sentence leads to constructive interpretation of the law along with its intention. Hermeneutical method for linguistic analysis of legal terms was advocated by Hart. The development of legal hermeneutics can be ascribed to mediaeval revival and appreciation of the Roman laws. Roman Laws were

primarily written and codified. (Goodrich,1998). In the times of Renaissance and enlightenment Roman laws were romanticised and the problem of their exact interpretation arose. That was the time when hermeneutics in the religious sense was getting developed in full fervour. Legal hermeneutics, although being different from religious hermeneutics, shares the same philosophical roots. Legal hermeneutics is rooted in legal interpretivism. Hermeneutics is concerned not only with the interpretation of text but also with the meaning of interpreting the text and the process of interpretation (Dostal,2002) . Legal interpretivism was developed by Ronald Dworkin. Legal interpretivism recognises the viewpoint that law is inherently interpretive in nature and gains its legitimacy from principles of law. Rules along with the normative guidelines together shape and form both what exactly the law is and what it means. This exact approach to legal ontology and meaning is known as the interpretive turn in analytic Jurisprudence (Feldman 1991). Thus, we can recognise how the Philosophy of language and meaning becomes the tool for Interpretation of law and aids the legal enterprise. Both Wittgenstein and Ayer were of the view that most of the philosophical and moral problems arise due to a singular term having multiple meanings and interpretations. Such problems concerning meaning holism and meaning Atomism could be addressed by clarification of terms in an analytic fashion.

Argumentation and Rhetorics: Philosophy and Logic at play

The art of argumentation forms the basis of the Justice delivery system as the lawyers act as the officers of the court and try to persuade the Judge to act in the favour of the client. Argument is a structured process where usually the premises offer support to conclusion. In the case of oration, argument is considered to be consisting of a number of premises whereby the concluding remark is supported by these sets of premises. Terms such as 'hence', 'therefore' etc. are used to denote the conclusion of the argument. In the case of the Justice delivery system, the latter is used along with a written draft of submissions in the form of petition, writ etc. to support the argument of the client. In case of exchange of arguments the process is referred to as 'argumentation'. "Argumentation can be defined as the communicative

activity of producing and exchanging reasons in order to support claims or defend/challenge positions, especially in situations of doubt or disagreement. (Lewinski & Mohammed 2016)" Argumentation is in a way a variation of dialogue. A huge credit of development of this kind of dialogic process is ascribed to Socrates. It is often referred to as 'Socratic Method' or 'Elenctic Method'. In Plato's texts. This dialogical technique is used by Socrates to investigate various ethical concepts of Justice, Morality and Virtue. The method involves a chronology and structure where a two way dialogue is established. In this method, Socrates usually primarily establishes that he is lacking in the concerned subject matter and the opponent is usually knowledgeable of such subject. Socrates then asks certain basic questions which questions the foundations of such beliefs. Upon further questioning, the answerer realises that these beliefs are not so simple in nature and need further analysis. In this manner, the socratic method or dialectic became the most recognised and accepted method to start a philosophical discussion or debate. Legal argumentation and the use of persuasive methods becomes significant even more because in the modern day Judicial system the role of the Judge is way more complicated than before. A judge has to not only resolve the dispute in a constructive manner, the rules of natural law such as right of proper hearing and principle of equity and fairness have to also be applied. He/she has to also clarify as to the confusion or problem of interpretation of law. Soundness of the argument advocated by the lawyer becomes all important. Unsound or weak arguments, even if technically correct, cannot become the basis of deciding a case in contention. In the case of legal argumentation, the philosophical component acts as a basis for the normative foundation of a legal theory (Feteris,2013). Thus the researcher assumes that the argumentative aspect of philosophy aids and can further help in clarifying the concepts of law and statutory interpretations. The logical method is also used in the jurisprudential Hohfeldian analysis to determine rights, power and liabilities.

Wisdom, Justice and Philosophy: Concluding Remarks

In the aforementioned paragraphs, the researcher has observed a deep inter-relation and pattern between the dependency of Law, Justice and Philosophy

in a holistic manner. Pragmatism in the sense of harmonious coexistence is the need of the hour for both the disciplines viz philosophy and law. Shunning the arrogance of supremacy of disciplines would lead to a better understanding of the concepts of Justice both from the philosophical sense as well as Jurisprudential sense. Firstly, philosophy helps to determine what law aims for. The primary aim of law is to determine and provide justice. Philosophy helps in such determination of concepts like justice, fairness, equality, equity and also provides sound philosophical basis for such determination. From the times of Socrates to Amartya Sen, philosophers have been rigorously trying to understand and analyse the simple looking concepts of justice and trying their best to theorise such conceptions which is indeed their task at hand. The practical application of such theories and principles is the task of Jurists, Judges, Lawyers and the legal fraternity at large. It is not an uncommon phenomena to observe citations of various philosophical texts both Indian and foreign in the judgments of learned Judges. Such citations give legitimacy to the moot point of the researcher as to the inter subjectiveness and inter relativity of the disciplines. Secondly, in the interpretation of complex statutory language of law and determination of the intention of lawmakers, the help of linguistic analytical tools of syntax, semantics and pragmatics are used. To understand the meaning of the term alongwith the context is the ultimate target of the stakeholders of juridical process. Analysis and hermeneutics aid in such a process. Ultimately the tool of the lawyers i.e art of argumentation also observes its background being inherited from the philosophical groundwork. The researcher optimistically hopes that these interdisciplinary tools are used harmoniously and systematically to help each other. The idea of disciplinary supremacy is as redundant as the lacunas experienced in the disciplines and should be done away with without further ado.

References :

1. Aristotle, Bartlett, R. C., & Collins, S. D. (2011). Aristotle's Nicomachean ethics. University of Chicago Press.
2. Dostal, R. J. (ed.) (2002) The Cambridge Companion to Gadamer. Cambridge: Cambridge University Press.
3. Feldman, Stephen Matthew (1991) "The New Metaphysics: The Interpretive Turn in Jurisprudence," Iowa Law Review, Vol. 76, 1991.
4. Feteris, Eveline T. and Kloosterhuis, Harm, Law and Argumentation Theory: Theoretical Approaches to Legal Justification (June 21, 2013). SSRN: http://dx.doi.org/10.2139/ssrn.2283092 .

5. Goodrich, P.(1998). Legal hermeneutics. In The Routledge Encyclopedia of Philosophy. Taylor and Francis.
6. Goodrich, P. (1984). The Role of Linguistics in Legal Analysis. The Modern Law Review, 47(5), pp.523–534.
7. Hart, H. L. A. (Herbert L. A. (2012). The concept of law (J. Raz & P. A. Bulloch, Eds.; 3rd ed.). Oxford University Press.
8. Hospers,J., An Introduction to Philosophical Analysis, Routledge, (2020).
9. Katz,J.J., The philosophy of Linguistics, Oxford University Press, (1985), New York.
10. Lewiński, M., & Mohammed,D., 2016, “Argumentation Theory”, The International Encyclopaedia of Communication Theory and Philosophy, Wiley.
11. Lucas, J. R. (1972). Justice. Philosophy 47 (181):229 - 248.
12. Rawls, J., "Justice as Fairness: Political not Metaphysical," Philosophy and Public Affairs 14 (Summer 1985):pp 223–51
13. The Indian Contract Act, 1872.

A Psychoanalytic Study of Spiritual Love: A Critical Exposition of 'Song of Radha, the Milkmaid' by Sarojini Naidu

• Dr. Richa Shukla

Abstract - This study explores the psychoanalytic dimensions of spiritual love in Sarojini Naidu's poem *Song of Radha, the Milkmaid*. Drawing upon Freudian and Jungian psychoanalytic theories, the paper examines Radha's character as a manifestation of unconscious desires, inner conflicts, and mystical devotion. The analysis focuses on Radha's spiritual love for Govinda, highlighting concepts such as parapraxis (slip of the tongue), stream of consciousness, and the interplay between the conscious and unconscious mind. By juxtaposing religious practices with individual spirituality, the poem presents a dichotomy between external rituals and internal transcendence. Additionally, William James' framework on mystical experiences is applied to understand Radha's devotion, illustrating her detachment from societal norms and immersion in divine love. The study also draws connections between spirituality and psychoanalysis, demonstrating how Radha's behavior reflects deeper psychological truths. This paper aims to bridge the disciplines of literature, psychology, and spirituality, offering an innovative perspective on Naidu's poetic work.

Keywords: Psychoanalysis, spirituality, Freudian theory, stream of consciousness, Sarojini Naidu, Radha, mystical experience, unconscious

*Assistant Professor (English Litt.), B.K. Academy, University of Lucknow.

mind, parapraxis, devotion.

Full Paper:

The last few decades have drawn people's attention toward the religion and spirituality, especially giving birth to the political, social havocs, yet, one cannot deny its beliefs to privately holding the "realm of identity development and emotional well-being" (Safran, 2003). In spite of various differences between the positivistic approach of classical psychoanalysis (which focuses on the role of objective observations, empirical evidences and scientific methodology in comprehending human behaviour and unconscious mind) and subjectivity of spiritual belief system, these two areas seem to share some significant common goals i.e. attempting to make a meaning of soul, the emphasis or awareness of one's (or a client's) own experience and individual's transformation to a greater sense of authenticity.

Psychoanalysis is a modern therapeutic technique which began with Sigmund Freud (1856 and flourished in the hands of Carl Jung (1875), Alfred Adler (1870) and Otto Rank (1884) etc. This theory evolved in the area of literature studying the various aspects of literature through the lenses of the psychoanalytical view points. Literary criticism exploits psychoanalytic theory to interpret literature, while literature frequently uses psychoanalytic theory to expand creativity.

Following this tradition, present paper is a psychoanalytic investigation of the poem 'Song of Radha, the Milkmaid' by Sarojini Naidu. Here, researcher will attempt to find relationship between Radha's spiritual love for Govinda and psychoanalytic theories given by Sigmund Freud.

Research Methodology: Present study involves textual analysis, hermeneutical study and psychoanalytic method to understand and analyse the poem.

Objectives of the Study: The study revolves around the following objectives:

1. To understand the basic theories of psychoanalyses.
2. To understand and analyse the spiritual aspect of the poem 'Song of Radha, the Milkmaid' in contrast with the religious ongoing.

3. To apply psychoanalytic theory on the poem 'Song of Radha, the Milkmaid'.

Literature Review:

1. For developing a deeper understanding of the relationship between religion and spirituality researcher went through the article 'Religion and Spirituality in Clinical Practice' authored by Christopher C.H. Cook. The article refers to many studies conducted in USA and UK and includes scientific critique of the methodology, design and interpretation of much qualitative and quantitative research in the field. Cook defines spirituality as "…a distinctive, potentially creative, and universal dimension of human experience arising both within the inner subjective awareness of individuals and within communities, social groups and traditions. It may be experienced as a relationship with that which is intimately 'inner', immanent and personal, within the self and others, and/or as relationship with that which is wholly 'other', transcendent and beyond the self. It is experienced as being of fundamental or ultimate importance and is thus concerned with matters of meaning and purpose in life, truth, and values." (Cook, 43)

The author also discusses 'Spirituality flower' to elaborate five aspects of spirituality i.e.: 'being in present moment', 'meaning and purpose in the things we value', 'the search for inner freedom', well-being and peace of mind', 'an experience of living, flourishing and finding hope amidst pain or difficulties', 'loving relationship with the self, others and something beyond', giving a sense of belongingness'. (Cook, 46)

Since the article is about the clinical aspect of religion and spirituality, Cook explores various positive impacts these two make on the health and well-being as he says, "For example, there is evidence that religious affiliation reduces the risk of completed suicide, and a knowledge of the ways in which religious beliefs and traditions influence attitudes towards suicide may be important in working with a religious patient with suicidal ideation." (Ibid)

2. Another article that researcher went through is "The Relevance Psychoanalytic Perspectives in Exploring Religious and Spiritual Identity in Psychotherapy" by Pratyusha Tummala Narra. The author attempts to differentiate between Religion and Spirituality believing that Religion is 'communal' in nature while spirituality is more 'individualistic'. To elaborate her discussion, author raises the issue of 'diversity of psychoanalytic perspectives on religion and spirituality' and studies 'classical Psychoanalysis and the study of Oriental religions'.

Author also discusses her viewpoint basing on 'Object Relations Theory' (of psychology) and refers to Henry Guntrip (1956), a psychoanalyst and congregational minister, conceptualizing the aim of psychological interpretations in psychotherapy as "... (helping the patient to) experience with full conscious awareness his own inner self and life" (Guntrip, 21).For him, religion can be taught to develop complete submission, fear, hatred for God or to protect the 'rights' of the true self of an individual. Author refers to many other psychological ideas on religion as a relationship between an individual and "ultimate all-embracing reality" (Guntrip, 197).

3. To have a better understanding of the implications of psychoanalytic theory in literature, researcher reviewed the article "Psychoanalytic Theory used in English Literature: A Descriptive Study" by Md Mahroof Hossain. The article describes various key aspects of psychoanalytic theory from Sigmund Freud (conceptualising the idea of Id, Ego and Super ego), Jacques Lacan (The Mirror Theory, conceptualising child's understanding of the self), Object Relational Theory distinguishing between the physical and psychological birth of an individual. Author reveals how psychoanalytical theory can be implemented in literature. He further investigates D. H. Lawrence's *Sons and Lovers* with psychoanalytic point of view.

Need of the Study: Since there are researches found in the area of religion, spirituality, psychoanalyses theory and their inter-relational aspects in Oriental and Occidental contexts and since psychoanalytic theory is no more restricted to the clinical aspect, researcher finds it significant to investigate Sarojini Nadu's poem 'Song of Radha, the Milkmaid' through

psychoanalytic lenses. The poem seems a beautiful combination of all three key aspects i.e. religion, spiritual love and psychological aspects. Also researcher did not find any such eminent work which analyses this poem with psycho-spiritual point of view (as per the best of navigation and searches).

Discussion: For a clear understanding of a literary piece with psychoanalytic point of view, one should primarily understand the basic ideas of psychoanalyses theory. During 19th and 20th century, Sigmund Freud an Austrian Neurologist and some of his disciples propounded and propagated this theory. This was mainly focusing on the abnormal behaviour of the adults. For Freud, any abnormal behaviour is goal-oriented and to advocate his point of view he proposed some significant concepts i.e. the Pre Oedipal stage, the Oedipus complex and the significance of Unconscious mind. There are many examples of literature and literary criticisms where critics analyse the texts on the basis of these concepts. According to Freud, all human beings are born with certain instincts.

The Pre-Oedipal stage revolves around the biological needs like food, shelter and warmth. Having being a practical and source of pleasure, Freud calls it 'sexual'. He further elaborates it in three stages that are- the oral, anal, and phallic stage.

Another important term 'Oedipus Complex' was proposed in Freud's *Interpretation of Dreams* (1899). For Freud, it is perfectly normal to have a competitive sexual desire for opposite parent in the development process of a child. He borrowed this name from a mythological figure 'Oedipus' who is the son of King Laius and queen Jocasta of Thebes and finally murders his father and married his mother unconsciously (which according to the people of his time and author's belief was designed by fate) (Safra,1768 as cited in the article "Psychoanalytic Theory used in Literature: A Descriptive Study" p.42). But for Freud, these accidents were the result of sexual complexity between Oedipus and his mother. Freud gives more emphasis on sex as the governing force for the dynamics of the psyche.

Another important concept of 'The Unconscious mind' proposed by Freud (more relevant in the study of the character of Radha) plays an important role in interpreting human behaviour in a certain context. For Freud, it exists outside the limited capabilities of conscious mind and consists of repressed ideas which cannot be given space in conscious mind. Freud distinguishes between 'repression' (putting unacceptable behaviour in unconscious mind) and 'sublimation' (re-channelizing the unacceptable behaviour in more acceptable behaviour in society). Freud in his book *The Psychopathology of Everyday life* (1901) explores how repressed ideas come out through 'slip of tongue' or 'parapraxis'.

Parapraxis is a psychoanalytical tool to study unconscious mind. The American Psychological Association (APA) defines a Freudian slip as: "… an unconscious error or oversight in writing, speech, or action that is held to be caused by unacceptable impulses breaking through the ego's defences and exposing the individual's true wishes or feelings." In other words, Parapraxis, commonly referred to as a "Freudian slip," is a phenomenon where an individual unintentionally says or does something that is revealing of their unconscious thoughts, feelings, or desires. Sigmund Freud introduced this concept in his psychoanalytic theory, describing it as an instance where suppressed or repressed material from the unconscious mind surfaces into conscious thought or speech. The parapraxis (slip of tongue) occurs as:

a) Unintentional Errors: These slips often occur in speech but can also manifest in memory lapses, writing errors, or seemingly accidental actions.

b) Revealing Unconscious Content: Freud believed such slips are not random; instead, they indicate underlying, unresolved conflicts or suppressed emotions. He argued that these slips are not random but are instead meaningful, revealing unconscious desires or thoughts. In his view, the unconscious mind often reveals itself through lapses in speech, writing, or memory. This idea connects deeply with literary

analysis, as literature often uses such 'slips' to highlight internal struggles or thematic undercurrents.

Parapraxis is frequently used in literature as a tool to reveal unconscious mind. It can be used in literature in the following ways:

1. Character Development: Parapraxis can be a tool to explore characters' internal conflicts and repressed desires. A character's unintended actions or words may symbolize deeper psychological struggles or hidden truths about their personality.
2. Plot Devices: Writers use slips or errors in dialogue or narrative as deliberate plot devices to suggest underlying tension, foreshadowing, or irony.
3. Themes of Repression and the Unconscious: Literature frequently addresses themes of repression, guilt, and desire. Analysing instances of parapraxis within a text can illuminate how characters grapple with these issues.
4. Reader's Interpretation: Parapraxis invites readers to engage with the text on a deeper level, encouraging interpretations that go beyond the surface to consider the symbolic or unconscious implications of language and action.

Freud also discusses, here, the important concepts of Id (representing to the animalistic behaviour), Ego (as a moderator) and super ego (representing to the internalized social and parental standards of 'good', 'bad','right' and 'wrong'). His concept of psychoanalysis is criticized on the basis of his overemphasis on 'sexual desire' and non-verifiable nature of his principles.

To implement psychoanalytic theory in the case of Naidu's character of Radha who is spiritually in love with her Govinda, it seems significant to understand the psychology behind her spirituality. William James, a pioneering psychologist and philosopher, in his seminal work, *The Varieties of Religious Experience* (1902) provides one of the most influential frameworks for understanding 'mystical experiences' and altered 'states of consciousness'. James approaches this phenomenon empirically, analysing

their characteristics, significance, and implications for both individuals and society. His work is foundational in psychology, religious studies, and philosophy for its systematic and open-minded exploration of mystical states. In *The Varieties of Religious Experience*, James identifies four primary characteristics of mystical experiences (Lecture XVI, p. 380–381):

1. Ineffability: Mystical states are beyond the capacity of language to fully express. They are directly experienced and cannot be adequately communicated to others. James says "No adequate report of its contents can be given in words. It must be directly experienced; it cannot be imparted or transferred to others." (p.380)

2. Noetic Quality: Mystical states are accompanied by a sense of deep understanding or revelation. They are not mere emotions but involve a perception of profound truths. He says "They are illuminations, revelations, full of significance and importance, and they carry with them a curious sense of authority." (Ibid)

3. Transiency: Mystical states are temporary and typically short-lived. However, their effects can be profound and enduring; influencing one's world-view and behaviour he mentions "Mystical states cannot be sustained for long. Except in rare instances, half an hour, or at most an hour or two, seems to be the limit." (Ibid)

4. Passivity: Mystical experiences often occur involuntarily, with the individual feeling as though they are being acted upon by an external force as he says "The mystic feels as if his own will were in abeyance, and indeed sometimes as if he were grasped and held by a superior power." (p. 381)

James places mystical experiences within the broader context of 'altered states of consciousness'. He argues that the human mind is capable of accessing various layers of consciousness beyond ordinary waking awareness, often through meditation, prayer, fasting, or the use of substances. To elaborate his point, he proposes the idea of 'the subliminal self' and 'Pragmatic Perspectives' concerning to spirituality. Here, 'subliminal self' suggests that mystical experiences might arise from deeper levels of the unconscious or 'subliminal self', providing access to transcendent truths or

realities, whereas pragmatic perspective suggests that these mystical experiences are not merely supernatural claims but have their transformative effects on the individual. James emphasizes the practical and moral value of these experiences, rather than their metaphysical implications.

Not only William James spirituality and religion has been attracting to many psychologists and thinkers. For instance, DT Suzuki (1870–1966), a Zen master along with Erich Fromm studied "self realization' in their seminal work *Zen Buddhism and Psychoanalysis* (1960) putting Buddhism and psychoanalysis together. Fromm explained how authoritarian religion demands complete 'submission to the powerful' while Humanistic religion concerns itself with 'man and his strength'. (p.35)

Erik Erikson (1958), in this regard, conceptualized religion as a healing potential and studied the relationship among dreams, religious symbols and creativity (Simmonds, 2006)

Religion and spirituality (sometimes taken synonymously) has attracted Freud in one of his papers "The Future of Illusion", where he interprets these two as mere illusions and universal obsessional 'neurosis of' humanity (p.38). But before deriving any conclusion it should be understood that although they can evoke some behavioural habits in different cultures, both are very different from each other. Whereas Religion is conceptualised as more communal in nature adding rituals, formalities, spirituality is concerned with idiosyncratic subjective belief and connecting the self with something beyond oneself. (Koenig McCullough and Larson, 2001, as cited in the TRPPERSIP, Pratyusha Tummala-Narra)

The poem 'Song of Radha, the Milkmaid' by Sarojini Naidu, a prolific Indian writer, is a beautiful amalgamation of these three aspects- 'religion', 'spirituality' and the 'psychoanalytical phenomenon' as the binding element of conscious and unconscious mind. The researcher, here, attempts to analyse the poem with psychoanalytic point of view. The poem is a monologue where Radha, the speaker is telling about her participation in Mathura fare as a milkmaid. Nature beautified with cultural and religious ongoing are dominant theme in all the three stanzas of the poem. Radha,

like other companions, is willing to sell her goods in the fare and so enthusiastically is an active participant of the whole community. But her behaviour fluctuates with the overpowering of her spiritual love towards her Govinda in a way that she instantly cuts off from the whole scenario. As she says:

"…These curds that are white as the clouds in the sky
When the breezes of shrawan are blowing?"
But my heart was so full of your beauty, Beloved,
They laughed as I cried without knowing:
Govinda! Govinda!
Govinda! Govinda!" (Stanza 1)

Radha's spiritual love is so deep that in spite of being a part of outer world, she unconsciously keeps chanting the name of Govinda. The whole community of Radha is happy and excited to sell their goods in Mathura tide. They sing, dance and celebrate the occasion of 'spring' (shrawan). They wear saffron garments (which is considered as the symbol of sacrifice and devotion in Hinduism), which reflects their ritualistic and communal approach to follow certain guidelines as prescribed by their specific religion. Here, poet presents a communal-religious identity which draws reader's attention toward the religion vs spirituality dilemma. Whereas, all others are following the religious guidelines, Radha, having a purely platonic and spiritual love for Govinda, is indulged in her personal music that she calls 'your music'. The specific conjunction 'But' expresses this religious vs spiritual dilemma beautifully as depicted by the poet. This idiosyncratic behaviour of Radha reminds the reader how in spite of being a part of a religious group, Radha is different due to her spiritual angle. Not only this, her spiritual love for Govinda is eventually noticed by other comrades as she says:

"My comrades called, "Ho! let us dance, let us sing
And wear saffron garments to welcome the spring.
And pluck the new buds that are blowing."

But my heart was so full of your music, Beloved,
They mocked when I cried without knowing:
Govinda! Govinda!" (Stanza 2)

Poet convincingly presents the struggle between the unconscious and the conscious, as right after chanting Govinda's name, Radha notices the flow of river and says:

"How gaily the river was flowing"

In the third stanza of the poem, Radha is carrying gifts to Mathura shrine. She wants to pray God for the well-being of her loved ones. Here, reader is made aware of the blowing of conch shells (which represents to a specific religious group following their rituals). But again in between any religious practices and the voices, Radha is yet indulged into her spiritual love and devotion towards Govinda. In place of chanting any specific deity or ritual for worshipping, she keeps chanting the name of Govinda in the gulf of her spiritual love. Even her comrades notice her idiosyncratic behaviour and say:

"I folded my hands at the altars to pray
"O shining ones guard us by night and by day"—
And loudly the conch shells were blowing.
But my heart was so lost in your worship, Beloved,
They were wroth when I cried without knowing:
Govinda! Govinda!" (Stanza 3)

Literature has magic to evolve on its own and psychology, like many other disciplines as philosophy and linguistics helps in the process of its creation. According to Noam Chomsky, the father of modern linguistics, literature is one of the most significant means to gain knowledge, which concerns man and his life, his different experiences and the idiosyncratic values. But since literature is an art form and a collection of written work, Wallek and Warren (1963:22) say that: "...the term literature seems best if we limit it to the art of literature. Literature is also produced by the imagination of the author. It is not just a document of facts: it is not just the collection of real events though it may happen in the real life. Literature can

create its own world as a product of the unlimited imagination." (as cited in the article "On the Relationship between Literature and Psychology" by Ayesha Dar)

The common derivation of the term 'literature' limits it only to the written work and so a more comprehensive definition of literature by Encart (2009) is to be mentioned as "... literature is the use of carefully selected words to tell a story through narrative, involving characters in conflict, or to express an emotion of idea through artfully arranged images. Literature is also a means to transmit values and culture from one generation to another."

In other words, literature could be understood as a narrative where author carefully chooses the words artfully arranged, to convey the records from one generation to another. Hence, literature is a complete mental process as Carl Jung, a Swiss psychotherapist in his prominent work *Psychlogy and Literature* (1912) declares that all science and arts is nothing but the production of human mind, and since psychology studies the 'psychic process', it could be used to study a literary piece.

The present poem 'Song of Radha, the Milkmaid' by Saroijini Naidu as a literary piece primarily seems as the recreation of the character of Radha who is deeply in love with her beloved Govinda, but a deeper analysis gives birth to many psychological aspects propounded by psychoanalytical theory i.e. stream of consciousness, slip of tongue, unconscious mind and conscious mind debate etc.

Stream of consciousness is a narrative technique in which emotions and thoughts of character is presented in a way that it draws reader's attention to the changing emotions of the characters. It is an interior monologue. Coined by William James (1890), the term 'stream of consciousness' was first seen in 'The Principles of Psychology'. Later on, this became a popular technique in psychoanalysis. It focuses on the subjective thoughts, emotions, memories and feelings of any character or writer. It is objective-oriented, character-specific and does not follow the rules of syntax and grammar. In other words, the narration does not follow any word-order

or are not fully formed. The key aspect of this technique comprises 'Free association' (the character speaks freely without self-censoring, allowing their thoughts to flow freely); 'Unstructured' (the character's verbal expression is not guided by a specific topic or question);'Uncensored' (the character expresses his/her thoughts without bothering for the social norms or moral judgments) expression. Therefore, it can be said that it directly offers access to the unconscious mind of the character.

In the case of the poem 'Song of Radha, the Milkmaid' poetess creates the character of Radha on the basis of popular presumptions about the real character of Radha. In all the three stanzas of this poem, Naidu attempts to explore two different worlds in which Radha is participating equally. The distinction between her conscious and unconscious mind is expressed through her active participation in worldly affairs and her spiritual love and devotion for her Govinda respectively.

The poem is a subjective narration in which the poet presents a dual picture of Radha's character i.e. how is she involved in trade for livelihood and religious and cultural customs to remain a part of a specific community (symbolising to a specific religion); and on the other side, she is consistently in the pursuit of love and devotion for her Govinda. Reader finds a conflict between the conscious and unconscious mind, as she herself says:

I wanted to cry, "Who will buy
These curds that are white as the clouds in the sky
When the breezes of shrawan are blowing?" (Stanza 1)

But unconsciously, what Freud call 'parapraxis' (or the slip of tongue), she chants the name of her Govinda. Amidst cultural and religious environment, Radha seems like spiritual soul fully engrossed in her spiritual love for Govinda. Not only this, the outer beauty of this world seems meaningless to her as she finds real beauty only there in Govinda. Poet deliberately uses the term 'unknowingly' to emphasize the overpowering of unconscious mind which gives birth to an idiosyncratic behaviour in the society. The line ''When the breezes of shrawan are blowing'' followed by a question mark (?) emphasizes a pause to differentiate between the sensuous beauty and the

beauty of bliss already prevailing in her unconscious mind. Reader is consistently told about this conflict of inner and outer world (conscious and unconscious), which is carefully being controlled by Freudian 'Ego', as right after revealing her unconscious mind Radha notices how 'softly', 'gaily', and brightly the river is flowing. This switch of mind from inner world to outer world is designed by the poet in such a way that it seems like a balancing act of Freudian Ego.

Radha freely associates the outer beauty with the beauty of her Govinda. When all others are indulged in singing, dancing to welcome the spring season, Radha associates this pleasure of singing and dancing with the joy of Govinda and says:

"My comrades called, "Ho! let us dance, let us sing
And wear saffron garments to welcome the spring.
And pluck the new buds that are blowing."
But my heart was so full of your music, Beloved,
They mocked when I cried without knowing:
Govinda! Govinda!" (Stanza 2)

Various pauses in the form of comma, full stop, sign of exclamation are used by Naidu to add extra emphasis on the emotional, devotional and spiritual aspect of the Radha's character. We also find uncensored declaration of her spiritual love for Govinda. She chants the name Govinda without bothering about other's presence. Even the loud voice of conch shell could not distract her. The parapraxis (chanting the name of Govinda) certainly exposes the hidden emotions of unconscious mind of Radha. Her 'uncensored' behaviour in the form of this chanting (without bothering about others) is noticed by others as they 'laughed', 'mocked' and eventually angered (wroth) for her behaviour as poet mentions:

"… But my heart was so lost in your worship, Beloved,
They were wroth when I cried without knowing:
Govinda! Govinda!
Govinda! Govinda!" (Stanza 3)

Findings: Cook's definition of spirituality (as mentioned earlier) leads to the following conclusion:

1. Spirituality is a personal, individual and subjective affair, but is also concerned with relationship with others, shared beliefs and traditions, and a wider reality.
2. Spirituality is concerned with both transcendence (a relationship to that which is above, beyond and greater) and immanence (an awareness of present objective reality).
3. Spirituality revolves around the quest for meaning and purpose in life, focusing on what is most cherished. While not explicitly stated, it also addresses experiences or situations that diminish or challenge these core values.

In the present study, we see all three aspects of spirituality as Milkmaid's love for Govinda is purely subjective and individual matter. In spite of securing her love for Govinda, Radha keeps herself attached with various cultural, traditional ongoing of wider reality.

Recreation of Radha's character by Naidu explores a fabulous blend of 'transcendence' and 'immanence' which is connected to Govinda and the 'flow of river' and other realities of the world. The spiritual love for Govinda provides Radha a sense of higher values as she keeps enjoying the divinity in the form of Govinda's 'music', 'worship', and 'beauty'. The depiction of Radha's character reminds the readers of many psychoanalytical terms such as 'unconscious mind', 'parapraxis' (slip of tongue), 'stream of consciousness' and 'uncensored behaviour'.

In other words, it may be said that the narrators chanting of Govinda (unknowingly) adds higher value to her life, but her still going for trade, participation in cultural, traditional and religious custom serves as a 'balancing act'. Like many other psychoanalytic studies, Radha enjoys the both i.e. the transcendence and the immanence and unknowingly becomes the centre of attraction (laughing, mocking and wroth) for her comrades.

Further Studies: This study has been done on the basis of three major issues i.e. religion (traditional and cultural activities by comrades), spirituality

(represented by Radha as her subjective idea) and psychoanalysis (the unpredictability of milkmaid's behaviour). The present study is based on the ambiguous definition of spirituality and therefore, the future researcher might continue their studies on the basis of more precise definitions of religion, spirituality and psychoanalysis. There is also a scope to reinvestigate the spiritual aspect of of Radha's character and compare it to Mirabai's spiritual love for Krishna.

References:

- Cook, Christopher C.H, *Religion and Spirituality in Clinical Practice*, BJ Psych Advances (2015), Vol. 21, 42–50 (DOI: 10.1192/apt.bp.114.013276)
- Dar, Ayesha. "On the Relationship between Literature and Psychology". *International Journal of Applied Research in Social Sciences*. Vol.4, Issue 8. Oct 2022 (DOI: 10.51594/IJARRS.v4i8.382)
- Freud, S. (1927). "The Future of an Illusion". The Standard Edition of the Complete Psychological Works of Sigmund Freud (pp. 3– 66). London: Hogarth Press.
- Freudian slip: Definition, origin, and more
- Fromm, E., & Suzuki, D. T. (1960). *Zen and Psychoanalysis*. New York: Harper & Row
- Guntrip, H., 1957. *Psychotherapy and Religion*. New York: Harper & Bros. Pub. https//www.medicalnewstoday.com/artivles-freudian-slip#definition
- James, W. (1902). *The Varieties of Religious Experience: A Study in Human Nature*. Harvard University Press. (Key discussion on mystical experiences: pp. 380–390).
- Koenig, H. G., McCullough, M. E., & Larson, D. B. (2001). *Handbook of Religion and Health.* NY: Oxford University Press (Also cited in "The Relevance of a Psychoanalytic Perspective in Exploring Religious and Spiritual Identity in Psychotherapy". By Pratyusha Tumbbala-Narra. Jan, 2009. *Psychoanalytic Psychology*. 26(1): 83-95. (DOI:10.1037/a0014673)
- Safra, J.E (1768), *The New Encyclopaedia Britanica*, 15th Ed. Vol. 8, Chicago print. (Also mentioned in *A Psychoanalytic Theory used in English Literature: A Descriptive Study* by Md. Mahroof Hossain, p.42)
- Safran, J.D (2003). "Psychoanalysis and Buddhism as Cultural institutions". In J.D Safran (ed.), *Psychoanalysis and Buddhism an unfolding Dialogue* (pp. 1-34). Boston: Wisdom Publication.
- Simmonds, J.G.(2006).*The Oceanic feeling and a sea change Psychoanalytic Psychology*.23,128-142.
- Stone, C. (2005). "Opening Psychoanalytic Space to the Spiritual". *Psychoanalytic Review*, 92, 417– 430.

Human Psychology in Buddhist Culture

• Dr. Seema Rani Rath

Abstract - Human psychology in Buddhist culture provides a holistic and practical framework for understanding the mind, overcoming suffering and achieving mental and spiritual liberation. This approach remains highly relevant in modern psychology, offering valuable insights for mindfulness-based therapies and personal growth. Buddhist culture offers a profound understanding of human psychology, emphasizing the interconnectedness of mind, behaviour and the path to well-being. Rooted in the teachings of the Buddha, this psychological framework focuses on understanding the nature of suffering (*duḥkha*), the cause of mental distress and methods for cultivating mental clarity, emotional balance and liberation. Central to Buddhist psychology is the Eightfold path, which integrates principles of ethical living, mental discipline and wisdom.

Keywords - Karma, Four noble truths, Eightfold Path, Nonself, Meditation, Psychology.

Buddhism places a significant emphasis on the study and understanding of human psychology. The Buddha's teachings on the nature of the mind and the human condition are an essential part of the religion, and these teachings continue to influence contemporary Buddhist practices. One of the primary insights of Buddhism is that our minds are the source of suffering. Our minds create stories about our experiences based on our feelings, thoughts, and perceptions. These stories can cause us to cling to what we believe, to fear what we don't understand, and to struggle with the impermanence of our lives.

*Assistant Professor (Guest Faculty), Department of Sanskrit, Rajendra University, Prajna Vihar, Balangir

Buddhists seek to develop insight into the nature of the mind and how it operates. They believe that by gaining this insight, they can become more compassionate, self-aware, and emotionally stable[1]. Meditation is a central practice in Buddhism because it helps practitioners observe their thoughts and feelings and develop insight into the workings of the mind.[2]

In Buddhist culture, the idea that our minds are the source of our suffering is not seen as a negative or pessimistic view. It is instead a liberating insight that encourages practitioners to take responsibility for their mental states and to work towards developing a more compassionate and mindful way of being.

Buddhist literature offers deep insights into human psychology, much of which focuses on the nature of suffering, the mind, and the path to liberation. Central to this exploration are the Four Noble Truths[3] and the Eightfold Path[4], which provide a framework for understanding human existence, mental states, and ethical behaviour. Here's a breakdown of key psychological themes in Buddhist literature:

1. The Nature of Suffering (*Duḥkha*)

In Buddhist psychology, human life is marked by suffering or dissatisfaction (*duḥkha*), a central concept explained in the First Noble Truth. Suffering arises from attachment, desire, and ignorance. These mental states lead to a cycle of craving and frustration, reflecting the psychological experience of unfulfilled desires.

In Buddhist culture, suffering is considered to be an inherent part of human existence. The Buddha taught that all beings experience pain, dissatisfaction, and discomfort due to the nature of existence itself. This is known as the "*Duḥkha*," which is often translated as "suffering," "unsatisfactoriness," or "stress."

According to Buddhist teachings, the root of suffering lies in our attachment to impermanent things and our resistance to change. We suffer because we cling to things that we believe will bring us happiness, but which are ultimately fleeting and subject to change. For example, we may become attached to our possessions, relationships, and physical experiences, without

recognizing that these things will inevitably change and eventually pass away. The Buddhist path teaches that by recognizing the nature of suffering and cultivating awareness and insight, we can learn to transcend our suffering.[5] This is achieved by developing wisdom, compassion, and mindfulness, which help to free us from our attachment to impermanent things.[6]

In Buddhist culture, suffering is not viewed as something to be avoided or eradicated, but rather as an opportunity for growth and spiritual development. By learning to accept and embrace the nature of suffering, Buddhists believe they can cultivate greater wisdom, compassion, and equanimity, which allows them to lead more fulfilling and meaningful lives.

2. The Cause of Suffering

The Second Noble Truth identifies the cause of suffering as tanha, or craving. This craving is psychological in nature and stems from the delusion of the self, the desire for sensory pleasures, and the wish for continued existence or the avoidance of pain. By understanding the root cause of suffering, one can begin to address it through mental training.

In Buddhist culture, suffering is believed to arise from a multitude of causes, including our attachment to impermanence, our ignorance, and our craving and aversion. These causes, known as the “Three Poisons,” are the root of all our mental and emotional suffering.[7]

Attachment to impermanence:

Buddhists believe that our attachment to fleeting experiences, objects and concepts is the root cause of our suffering. We tend to cling to things that make us feel secure, comfortable and happy, such as relationships, material possessions, and desirable experiences. However, these things are impermanent and eventually lead to suffering when we try to hold onto them.

Ignorance - Buddhists believe that ignorance or lack of understanding of the true nature of reality is another cause of suffering. We are often unaware of the impermanence of all things, including ourselves, and we mistakenly believe in a permanent self or ego. This illusion of self leads to attachment, craving and fear, which in turn causes us to suffer.

Craving and aversion - Buddhists believe that our desires and aversions create a cycle of suffering.[8] We experience pleasure when we obtain what we desire but experience suffering when we fail to obtain it. Similarly, we experience pain when we encounter things that we dislike or fear. This cycle of craving and aversion leads to a constant state of dissatisfaction and suffering.

The Buddhist path teaches that by identifying and understanding the root causes of our suffering, we can take practical steps to reduce or eliminate our suffering. The Buddhist practices of mindfulness, wisdom, and compassion can help us to develop greater awareness and insight into our own psychological processes, which can ultimately lead to greater peace and happiness.

3. The Nature of the Mind - Buddhism views the mind as both the cause of suffering and the key to liberation. Central to Buddhist psychology is the understanding that the mind is not static or inherently sinful, but dynamic and shaped by various mental factors. The mind, therefore, can be trained through mindfulness, meditation, and ethical living, leading to enlightenment. In the *Anguttara Nikāya* the Buddha states- "The mind is luminous, but it is defiled by visiting defilements".[9]

In Buddhist culture, the mind is considered to be one of the most powerful forces in shaping our human experience. The Buddha taught that the mind is in constant flux, and that our thoughts, emotions and perceptions shape the way we experience the world around us. Buddhists believe that the mind has two primary aspects: the conscious and the unconscious. The conscious mind is associated with our thoughts, feelings, and perceptions. It is the part of the mind that is aware of our surroundings and our own mental states. The unconscious mind, on the other hand, refers to the deep-seated patterns of thoughts, feelings, and behaviours that operate below the surface of our consciousness.

According to Buddhist teachings, the mind is not a fixed or permanent entity. Instead, it is seen as an ever-changing stream of thought, emotion and sensory experience.[10] Our thoughts and emotions arise and pass away, and we can learn to observe them without becoming attached to them.

Buddhists also believe that the mind can be trained, just like a muscle can be strengthened through exercise. Meditation, mindfulness, and other practices help practitioners to develop greater awareness and insight into their own mental processes. Through these practices, Buddhists seek to develop greater compassion, self-awareness, and emotional stability.

In Buddhist culture, the mind is not seen as separate from the body or the environment. Rather, it is seen as a dynamic process that is interdependent with our physical and social circumstances. Buddhists emphasize the importance of cultivating positive mental states such as joy, compassion, and equanimity in order to develop a more balanced and peaceful approach to life.

4. Anatta (Non-Self) - One of the most significant psychological concepts in Buddhist literature is anatta, or the doctrine of non-self. Unlike Western ideas that often posit a permanent soul or ego, Buddhism teaches that the self is an illusion.[11] The belief in a fixed self leads to attachment and suffering. By recognizing that what we perceive as "self" is a constantly changing collection of thoughts, feelings, and experiences, we can reduce ego-driven suffering.

5. Mental Training: The Eightfold Path - The Eightfold Path, particularly the aspects related to *samādhi* (mental concentration) and *prajñā* (wisdom), highlights the importance of mental discipline in achieving psychological well-being. Right mindfulness and right concentration (*samādhi*) involve training the mind to remain focused and aware, reducing mental afflictions like anger, jealousy, and ignorance.

The Mental Training Eightfold Path[12], also known as the Noble Eightfold Path, is a key aspect of Buddhist psychology and is considered to be the path to the cessation of suffering. It is composed of eight interdependent aspects that serve as a guide for practitioners to develop great er insight, wisdom, and compassion. The eight aspects of the path are:

5.1. Right Understanding (*Samyak Dṛṣṭi*) - Also known as Right View, this aspect of the path involves developing an accurate and holistic understanding of the nature of reality and the causes of suffering.[13]

5.2. Right Intention (*Samyak Saṅkalpa*) - This aspect involves developing a clear and positive intention to cultivate wholesome mental states and behaviours, such as compassion, generosity and kindness.[14]

5.3. Right Speech (*Samyak Vāc*) - This aspect of the path involves cultivating wholesome speech that is truthful and kind, and avoiding harmful speech, such as lying, slander, or gossip.[15]

5.4. Right Action (*Samyak Karmānta*) - This aspect of the path involves acting in a way that is moral and ethical, avoiding actions that cause harm to oneself or others.[16]

5.5. Right Livelihood (*Samyak Ājīva*) - This aspect of the path involves engaging in work or activities that are morally and ethically sound and do not cause harm to oneself or others. The Dhammapada[17] offers guidance on the ethical conduct of lay practitioners, which includes the right way of earning a living- "One who, by his actions, causes no harm to others and earns a living through righteous means, will find peace of mind."

5.6. Right Effort (*Samyak Vyāyāma*) - This aspect of the path involves developing an unwavering commitment and effort towards cultivating positive mental states and behaviours, and reducing or eliminating negative ones. The Dhammapada contains teachings on Right effort[18], emphasizing how effort leads to mental clarity and wisdom.

5.7. Right Mindfulness (*Samyak Smṛti*) - This aspect involves developing moment-to-moment awareness and attentiveness to our thoughts, emotions, and physical sensations, without becoming attached or reactive to them.[19]

5.8. Right Concentration (*Samyak Samādhi*) - This aspect involves developing the ability to focus and concentrate[20] the mind in a way that is stable, calm, and clear, allowing for insight and wisdom to arise.

Buddhist teachings emphasize that the eight aspects of the Path are interconnected and mutually supportive. Practitioners are encouraged to cultivate each aspect of the path in a gradual and progressive way, leading to greater insight, liberation, and happiness.

6. Kleśa (Mental Afflictions)

In Buddhist psychology, mental afflictions like greed, hatred, and ignorance are known as *kleśa*.[21] These distortions of the mind are the primary causes of suffering and are often compared to mental "poisons." The process of enlightenment involves purifying the mind of these afflictions through practices such as meditation, ethical behaviour and wisdom.

7. Mindfulness - Mindfulness is a cornerstone of Buddhist psychology, playing a key role in developing insight into the workings of the mind. Buddhist texts such as the *Satipaṭṭhāna Sutta*[22] emphasize the practice of mindfulness as a way to observe the mind and body without attachment or aversion. This helps individuals become aware of their mental states, reduce stress, and cultivate compassion and equanimity.

8. Meditation and Mental Transformation - Meditation practices in Buddhism, such as vipassana (insight meditation) and *samatha* (calm-abiding meditation), are tools for mental transformation.[23] Meditation is seen as a psychological process that allows practitioners to observe and understand the nature of thoughts, emotions, and sensations. This awareness leads to the realization of impermanence and non-self, which helps in overcoming negative mental states.

Meditation is one of the central practices in Buddhist psychology, as it is believed to be a powerful tool for mental transformation. Buddhist teachings suggest that through meditation, we can cultivate greater awareness, insight, and wisdom, leading to a deeper understanding of ourselves and the world around us.

In Buddhist practice, there are two main forms of meditation: concentration meditation (*samatha*) and insight meditation (*vipāssana*). Concentration meditation involves focusing the mind on a single object, such as the breath, a mantra, or a visual image, in order to develop greater concentration and mindfulness. Insight meditation involves developing awareness of the moment-to-moment experience of the mind and body, without becoming attached or reactive to them, in order to gain insight into the true nature of reality.

Through regular meditation practice, Buddhists seek to transform their mental and emotional states, reducing or eliminating negative emotions such as anger, attachment, and fear, and cultivating positive emotions such as love, compassion, and equanimity. Meditation is also believed to be a key means of developing greater self-awareness and self-control, leading to greater mental clarity, emotional stability, and overall wellbeing.

Buddhist teachings emphasize that meditation is not a one-time event but rather a lifelong pursuit. Regular, consistent meditation practice is thought to be key to cultivating greater mental transformation and achieving greater liberation from suffering. In addition to formal meditation practice, Buddhist teachings also highlight the importance of cultivating mindfulness and awareness in the midst of everyday activities, such as walking, eating, and working, as a way to integrate meditation into all aspects of life.

9. Compassion and Altruism - Compassion (*karuṇā*) and loving-kindness[24](*mettā*) are essential to Buddhist psychology. Cultivating compassion for oneself and others leads to a reduction in self-centeredness and fosters mental well-being. These virtues are seen as transformative forces that help purify the mind and eliminate harmful psychological states like anger and envy.

10. Karma and the Psychological Process - *Karma*, often understood as the law of cause and effect, also operates on a psychological level in Buddhist thought. Actions motivated by negative mental states create mental imprints that lead to future suffering, while actions rooted in positive mental states lead to happiness and freedom. This framework emphasizes personal responsibility for one's mental states and the impact they have on future experiences.

In Buddhist culture, *karma* is seen as the law of cause and effect that governs the universe, including our own mental and emotional states. According to Buddhist teachings, every thought, word, and action we undertake has consequences that reverberate through time and have an impact on our future experiences.

In the Buddhist view, our *karma*[25] is not just determined by our actions, but also by the underlying mental and emotional states that motivate our

behaviour. Actions undertaken with positive intentions, such as love, compassion, and kindness, are thought to generate positive *karma*, while actions motivated by negative states, such as anger, greed, and delusion, are thought to generate negative *karma*.

Buddhist psychology emphasizes that our present mental and emotional states are shaped not just by our current thoughts and actions, but also by our past karma. Positive *karma* can lead to positive mental states, such as joy, happiness, and contentment, while negative *karma* can lead to negative mental states, such as anxiety, fear, and depression.

Buddhist teachings suggest that through mindfulness and awareness, we can become more conscious of our present and past *karma*, and work to transform negative patterns of thought and behaviour into positive ones. By cultivating positive mental and emotional states through meditation, ethical behaviour, and compassionate action, we can generate positive *karma* and transform our psychological process, leading to greater wellbeing, happiness, and freedom from suffering.

Conclusion - Buddhist literature approaches human psychology from a holistic perspective, blending ethical, meditative, and cognitive elements to explain the root causes of suffering and the path to liberation. The teachings aim not only to address suffering but also to offer practical methods for achieving mental clarity, emotional balance, and lasting happiness. Through meditation, mindfulness, and the cultivation of wisdom, Buddhist psychology seeks to transform the human experience at its deepest levels.

References:

[1] *Dhammapada* Chapter 1, vss. 1,2.

[2] *Maha-Rahulovada Sutta*, MN 62.

[3] Williams, Tribe & Wynne 2002, p. 41.

[4] An Introduction to Buddhist Philosophy, pp 150-151.

[5] Word of the Buddha, p. 26.

[6] Ibid

[7] *Saṃyutta Nikāya*. SN. 56.11.

[8] *Mahāsatipaṭṭhāna Sutta.* DN.22. Emphasizes mindfulness of impermanence to break the the cycle of attachment.

[9] *Anguttara Nikāya*. 1.49-52.

[10] *Dhammapada*. Verse.1.

[11] *Anattalakkhana Sutta*. SN. 22.59.

[12] *Dhammacakkappavattana Sutta*. SN.56.11.

[13] *Sammaditthi Sutta*. MN.9.

[14] *Vitakkasanthana Sutta*. MN.20.

[15] *Magga-vibhanga Sutta*. SN.45.8.

[16] Ibid.

[17] *Dhammapada*. Verses 184-185.

[18] *Dhammapada*.. Verse-323.

[19] *Mahā- Satipatthāna Sutta*. DN.22.

[20] *Samādhi Sutta*. SN. 41.6.

[21] *Kleśa-vinaya Sutta*. SN.35.98.

[22] *Satipaṭṭhāna Sutta*. DN.22.

[23] *Jñāna Sutta*. AN.9.36.

[24] *Mettā Sutta*. SN. 1.33.

[25] *Anguttara Nikāya*.3.39.

E-mail : lusanskrit@gmail.com,
Website : www.sanskritvanmayi.in